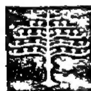
# आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली



डा० रांगेय राघव

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

# क्रम

# भूमिका

## काव्य में चेतना का तात्पर्य

काव्य तो चेतना का ही पर्याय है, फिर नयी और पुरानी का संघर्ष तो दूर, पहले इसे ही सोचना आवश्यक है कि उसमें फिर चेतना का प्रयोग ही किसलिए किया जाए। क्योंकि यह या तो विरोधाभास-सा लगता है या इसमें यह दृष्टि है कि जो कुछ है, हमारी ही पीढ़ी है और पहले काव्य में चेतना ही नहीं थी। इसलिए इसकी व्याख्या करना उचित है। काव्य तो सदैव से मानव-चेतना का प्रतिबिम्ब है। जब हम उसे काव्य में ढूंढते हैं, तब वह अनायास ही मिल जाती है। प्रकृति-वर्णन, लोक-वर्णन, समाज-वर्णन, व्यक्ति-वर्णन से लेकर अंत प्रकृति तक के वर्णन में वह हमें प्राप्त होती है। प्रतीकों या पात्रों के माध्यम से वह ध्वनित हुआ करती है। अत जब हम उसीपर केन्द्रित होते हैं तब समग्र सृष्टि का मानव-मस्तिष्क में चेतन-रूप जो बिंबीकरण है, उसे नहीं देखते, वरन् उसे देखते हैं जो मानवात्मा के उत्थान को प्रकट करनेवाली भावना है, जो उसे उदात्त बनाती है। परिपाटी का सौन्दर्य पार करके जब लेखनी नयी स्फूर्ति प्रदान करने में समर्थ होती है, तब हम उसे चेतना कहा करते हैं, क्योंकि बहुकृत्य-बहुकरणीय जीवन में कविता एक छन्द-बद्धता ही नहीं, एक सौन्दर्य है जो जीवन के प्रत्येक कार्य-व्यापार में होती है। वह सौंदर्य ललित कलाओं के विविध रूपों में अपनी अभिव्यक्ति पाता है, और लोकहित की कामना भी उसी सौन्दर्य के अंतर्गत आती है। इस प्रकार जब हम काव्य में चेतना देखते हैं तो मानव उस चेतना को नहीं देखते जो मानवीय विकास का परिणाम है, वरन् उसे देखते हैं जो सर्वात्म को अपने में लीन करके उदात्त बनने की ओर प्रेरित करता है और सुंदरता की अभिव्यक्ति को अपना सत्य और शिव बनाती है।

## नवचेतना की व्याख्या

प्रत्येक युग अपने साथ कुछ परिवर्तन लाता है। आदिकवि वाल्मीकि वास्तव में आदिकवि नहीं थे। उनसे पहले उपनिषदों और उनसे भी पहले वेदों के कवि थे। किन्तु महाभारत-युग के अंत में जब लोक-काव्य के रूप में गेय महाभारत में लोक-गाथाएं संबद्ध हुईं तब वाल्मीकि रामायण की पुरानी कथा में भी नये संवर्द्धन प्रारम्भ हुए और क्योंकि

उसमें मानव को प्रथम बार प्रतिष्ठित किया गया, जिससे लोक में नयी चेतना आई, तो उसे आदिकाव्य कहा गया। यह 'नर राम' देवताओं से जीत चुका था। तो यह नव चेतना का ही उदाहरण है। महाभारत ग्रंथ यद्यपि पुराना है, और वर्तमान वाल्मीकि रामायण का रूप परवर्ती है, किन्तु रामकथा का युग महाभारत-युग से प्राचीन है। हो सकता है कि अपने मूल रूप में वाल्मीकि रामायण का छोटा-सा कलेवर महाभारत काव्य के रूपों से पुराना ही हो। उस दृष्टि से यह प्रथम नर-काव्य था। अत इसे आदिकाव्य कहने का यह भी कारण हो सकता है। तो नवचेतना काव्य में प्रतिष्ठित सत्य, शिव और सुन्दर को नया रूप देने का ही नाम है। परिवर्तन का नाम 'नया' है, न कि पुराने को हेय या निंदनीय समझना। एक समय आता है जब पुराने की उपादेयता इसलिए घट जाती है कि उसके मानदण्डों से नये युग की समस्याओं का हल नहीं हो पाता। युग-युग के साधन बदलते रहते हैं। पूर्वजों की देहलीज को लाघकर उत्तराधिकारी नये भवनों का निर्माण करता है। इसलिए नयेपन की माग यह तो स्वीकार करती है कि पुराने की ही लकीर पीटते रहने से उसका काम नहीं चलता, परन्तु वह यह नहीं कहती कि पुराना सब व्यर्थ है, उसे तिरस्कृत करना चाहिए। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि 'नया' 'पुराने' की तब निंदा भी करता है, जब 'पुराना' उसे 'नया' बनने में रोकता है, उसके रास्ते में बाधाएं उपस्थित करता है। वह बाधाओं को नहीं चाहता, क्योंकि वह परिवर्तित परिस्थिति में नये मूल्याकन स्थापित करने की चेष्टा करता है। कालिदास ने इसीलिए कहा है कि पुराना होने से ही सब कुछ अच्छा नहीं हो जाता, न नया होने से ही ऐसा या इसके विपरीत होता है। मूर्ख तो परम्परा पकड़े चलता है, जबकि बुद्धिमान दोनों में से सोच-समझकर रास्ता निकालता है और सारतत्त्व को ग्रहण करता है।

### परंपरा से उसका तादात्म्य

एक बार एक चीनी और एक भारतीय में विवाद हो गया। भारतीय ने गर्व से कहा, "तुम्हारे देश में एक-दो महान उपदेशक हुए हैं—कन्फ्यूशियस और ताओ। हमारे यहां कृष्ण, बुद्ध, महावीर, नानक, कबीर आदि असंख्य हुए हैं।" यह सुनकर चीनी ने कहा, "भाई, यह गर्व करने की बात नहीं, इसपर तो तुम्हें लज्जित होना चाहिए!" भारतीय ने पूछा, "ऐसा क्यों?" उसने कहा, "देखो! बार-बार गुरुओं के उपदेशों की आवश्यकता उन्हें पड़ती है, जिनका पतन शीघ्र ही फिर-फिर हो जाता है। हमारे यहां अच्छा रास्ता एक बार बता दिया गया तो लोग उसपर चलते रहे। पशुओं भेड़ों की तरह भटके नहीं। तुम्हारे यहां इतनी भटकन है कि परमात्मा को तुम्हें बुद्धि देने को बार-बार गुरुओं को भेजना पड़ता है।" यह सुनकर भारतीय का गर्व खण्डित हो गया।

तो मैंने इस कथा को इसलिए सुनाया है कि समाज में बार-बार जब पतन आता है तब परिवर्तन आता है। चीन में कम सुधारक होने का अर्थ है, वहां विद्रोह कम

हुआ और भारत मे अधिक होने का तात्पर्य है कि यहा विद्रोह अधिक हुआ। परिवर्तन की अधिक माग रही। नया समाज बार-बार बनाने की चेष्टा हुई। मानवीय मूल्यो को बार-बार पुनरांकित करने का यत्न हुआ। यह किसलिए ? इसलिए कि यहा मानव-वादी विचारधारा अधिक फैली, क्योकि यहा समाज की व्यवस्था व्यवहार मे बडी ही असमता पर स्थापित रही। परन्तु प्रत्येक युग में हम परिवर्तन देखते हुए भी, उसका अपने से पुराने युग से एक क्रमश विकास देखते हैं। राजनीतिक स्वतत्रता या दासता से चेतना की स्वतत्रता या दासता नहीं मिलती। जब तुलसी-सूर का युग था, तब भारत मुगल साम्राज्य के नीचे बुरी तरह कुचला पडा था, किन्तु कवि-चेतना उतनी ही उद्दाम-प्रखर थी। जब बिहारी-देव के युग मे मुगलो का वैभव भारतीय जनता पर इतना भया-वह नही रहा था, तब कवि-चेतना उतनी प्रखर नही थी। जितना दु ख होता है, चेतना उतना ही निखार लाती है। दासता के मध्यकालीन आठ सौ वर्षों मे भक्ति के रूप मे जिस मानववाद को भारत मे प्रतिध्वनित कर दिया गया, वह पहले के युगो मे इतना प्रचण्ड नही था, क्योकि समाज तब इतना जकडबद्ध कुरीतिपूर्ण नही था जितना बाद मे हो गया। इस तरह हम देखते हैं कि 'नये' का 'पुराने' से जो सबध होता है वह 'भावना' का ही अधिक होता है।

## उसका स्थायित्व और सार्वजनीन सत्य

तब प्रश्न यह उठता है कि युग तो बदलते ही रहते हैं, फिर साहित्य का स्थायित्व और सार्वजनीन सत्य क्या है ? मानव-समाज के बाह्य परिवर्तनो की भाति मनुष्य के भाव-जगत् मे उतना परिवर्तन नही होता, क्योकि वह मूलत अपनी प्रवृत्तियो की नीव पर ही खडा होता है । अत 'भाव' का स्थायित्व अन्य वस्तुओ की अपेक्षा कही अधिक है। जो साहित्य 'भाव' से सम्बन्ध रखता है, वह किसी भी वस्तु-विषय या रूप को लेकर भी, स्थायी तत्त्व अपने भीतर अधिक रखता है। मैंने इसी दृष्टि से नये काव्य को देखा है। मेरा उद्देश्य केवल उसका परिचय देना ही नही था, वरन् उसकी उपलब्धियो को भी मनन के योग्य जानकर सामने लाना था, उसकी सुन्दरता को प्रकट करना था।

युग के प्रश्न बदल जाते हैं, मानव अपनी पीढी दर पीढी चलती सास्कृतिक पर-म्परा मे उस एकसूत्र चेतना को देखता है, जिसमे मानव का उदात्त रूप, उसका सौन्दर्य चलना चला जाता हुआ दिखाई देता है। यह मानव का भावपक्ष ही है। उसका यथातथ चित्रीकरण अपने मे कोई विशेषता नही रखता। वह तो उसको चाहता है जो उसे आगे का पथ दिखाए, उसके सामने पथ को चौडा करता चला जाए। नये युग मे इस कार्य की ओर जो प्रयत्न हुआ है, वही हमने यहा अपने विवेचन का विषय बनाया है। इसमे कितना सार्वजनीन और सार्वकालिक है, वह पाठको के समक्ष स्पष्ट रखा गया है, और वे पढकर ही जान सकते हैं कि वे इसमे से कितना इस योग्य पाते हैं। इस दृष्टि से मैं समझता हू कि

नया काव्य हमें अधीर होने की कोई दुश्चिन्ता प्रदान नहीं करता। 'प्रतीक' पात्र आए हैं नयी समस्याओं के कारण जबकि 'लघुत्व' छोड़कर हम 'व्यापकत्व' की ओर बढ़े हैं। परन्तु अभी मैं समझता हूँ कि वह युग आने को है जब 'मनु और श्रद्धा' जैसे मानवीय प्रतीकों के बाद वे पात्र आएँगे जो कि प्रतीकों को अपने भीतर समेट लेने की क्षमता रखेंगे। सरस्वती के ये वरद पुत्र उसीकी चेष्टा में रत रहेंगे तो अवश्य ही 'युगवाणी' का सच्चा प्रतिध्वनित करके 'युग युग की वाणी' बन जाएगे।

यही सार्वभौम सत्य आज का कवि सृष्टि और मानव के उस तादात्म्य में खोज रहा है, जिसमें उसे एक नये सत्य का स्वरूप प्राप्त हो सके। स्थायी साहित्य के लिए जिसे जीवन-दर्शन और व्याख्या की आवश्यकता है, वह उसकी खोज में निरत हो गया है। मैंने नये काव्य के बहुमुखी व्यक्तित्व को एकरूप में देखा है, और एकरूप को बहुव्यक्तित्व के माध्यम से देखने की चेष्टा की है।

## वस्तु और मनुष्य

वस्तु और मनुष्य-संबंध आज का नहीं, तब का है जब मनुष्य में सभ्यता का भी उदय नहीं हुआ था। प्रकृति में ही मनुष्य ने अपनी आँखें खोली थीं। वह प्रारम्भ में जब कन्दराओं में भी रहना नहीं जानता था, तब भी प्रकृति ही ने उसे चारों ओर से घेर रखा था। वस्तुतः प्रकृति ही उसकी शिक्षक बनकर रही है। प्रारम्भ से लेकर अब तक मनुष्य प्रकृति को ही समझने का प्रयत्न करता रहा है।

प्रारम्भ का जीवन अत्यन्त कठिन था। इसीलिए मनुष्य ने देखा कि उसकी मृत्यु प्रकृति का ही एक कार्य-व्यापार थी। अतः पशुओं और जन्तुओं से लड़ने के लिए उसने समाज का निर्माण किया। मनुष्य का समूह में रहना इसका प्रमाण है कि उसने यूथ-जीवन का आदर्श अपने से पूर्ववर्ती पशुओं से प्राप्त किया। जीवित रहने की इच्छा प्रकृति के महान क्रोड में पलती है और इसलिए उसके सहायक रूप से मनुष्य ने संघर्ष करने के लिए अपने यूथ-जीवन को निरन्तर विकसित किया।

सृजन, पालन और संहार—प्रकृति के ये तीन रूप हैं, जिनसे मनुष्य का संबंध है। मनुष्य ने उसके इन तीनों रूपों को परखा है और उन्हें अपने जीवन में उचित स्थान दिया है। यही कारण है कि उसने जिन तीन देवताओं के रूप में त्रिमूर्ति स्थापित की है—ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहकर जिन्हें पुकारा है उनके अन्य ऐतिहासिक कारणों के अतिरिक्त एक यह भी मुख्य कारण है कि उन्होंने प्रकृति के समस्त रूप को अपने भीतर समेट लिया है। प्रारम्भ की आदिम अवस्था में प्रकृति की शक्तियों को इन्द्र आदि के रूप में जो मनुष्य ने अवगाहना की है वह भी अपने जीवन में ही उसका तादात्म्य बैठाने का प्रयत्न किया है। हमारे साहित्य के आदिम स्वरों में हम प्रकृति के प्रति एक भय और साथ ही एक आस्था के भी दर्शन होते हैं। इन दोनों ने ही समके हमारे साहित्य की परम्परा में

विभिन्न रूपों में विकास किया है।

प्रकृति मनुष्य के इतने पास है कि उसने उसके मन के पक्ष को छुआ है, तभी उसे निरन्तर उसके काव्य में स्थान मिलता रहा है।

## प्रकृति के काव्य में रूप और साधर्म्य का विकास

प्रकृति के काव्य में अनेक रूप हैं।

प्रकृति को पहले पक्ष में उपासना के आधार के स्वरूप में लिया गया। इसलिए हमें भक्ति के स्वरों में उसका दर्शन मिलता है। इसी पक्ष का दूसरा स्वर है भय, जिसके स्वरों में हमें प्रकृति का आतंक प्रदर्शित होता है। किन्तु कालावधि व्यतीत होने पर हम ज्यों-ज्यों प्रकृति को समझते गए और सभ्यता की ओर अग्रसर होते गए, हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन होता गया।

प्रकृति एक उद्दीपन करनेवाली वस्तु बनी। और उसके माध्यम से मनुष्य अपने राग-द्वेष को घटता-बढ़ता देखने लगा। इसमें स्मृति का हाथ काफी प्रबल हो उठा। वासनाजन्य विकारों ने इसमें अपना बहुत अधिक सान्निध्य देखा।

आलम्बन रूप में प्रकृति को देखना दूसरा दृष्टिकोण बना।

इन दो रूपों के अतिरिक्त भी प्रकृति के काव्य में स्वरूप प्रस्तुत हुए।

प्रकृति का स्वयं में भी सौन्दर्य होता है। महाभारत के प्रकृति-चित्रण में हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें प्रकृति अपने-आपके ही लिए अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से चित्रित की गई है।

प्रकृति में अपने उपास्य को खोजना और ब्रह्मस्वरूप समझकर एकमात्र रहस्य के अन्तर्गत उसे रखकर देखना भी प्रकृति के चित्रण का एक रूप है। प्राचीन और मध्य-कालीन रहस्यवादियों का ऐसा ही दृष्टिकोण था। किन्तु अर्वाचीन काल में ब्रह्मरूप में तो कोई एकेश्वर नहीं माना गया, तथापि प्रकृति की महानता में अपनेको आत्मसात् करने की छायावादी कवियों ने चेष्टा की।

प्रकृति पलायन का भी केन्द्र-स्थल बनी। समाज की विषमता से ऊबे हुए मनुष्य ने प्रकृति की कमनीयता को ही अपने सामने रखा।

मध्यकाल में प्रकृति को उपदेशक के रूप में काव्य में चित्रित किया गया। यदि प्रत्यक्ष ऐसा नहीं किया गया तो प्रकृति के गुणों को तुलनात्मक रूप में मनुष्य के चरित्र से मिलाकर प्रस्तुत किया गया। यह प्रवृत्ति संतों और भक्त कवियों में हमें मिलती है।

किन्तु प्रकृति का एक और रूप रहा है, अप्रस्तुत का मूर्तीकरण। इस रूप में प्रकृति अपने-आपमें इतना प्रभाव नहीं रखती, जितना अपने आधार की उपमा या छवि-विधान बनने में सार्थकता दिखलाती है।

समाज की रूढ़ियों में बन्द हो जाने पर भी साहित्य ने परम्परा और परिपाटी की

लीन पीटते समय भी प्रकृति की नितान्त उपेक्षा नहीं की। उस समय भी हमें प्रकृति के उतने ही भाग के चित्र अवश्य मिल जाते हैं, जो कि राजमहलों में उजागर हो सकते थे।

आनन्द, शोक, रहस्य, विस्मय आदि अनेक प्रकार के भावों ने प्रकृति को प्रस्तुत किया है। किन्तु यह एक ऐसा विषय है, जो कभी भी पुराना नहीं पड़ा। जिस प्रकार मूलतः मनुष्य का भाव-पक्ष अभी तक न बदलने के बराबर ही बदल पाया है, उसी प्रकार प्रकृति का भी प्रभाव अभी तक प्रायः वही है।

## अस्तित्व और सादृश्य

इसका कारण है कि हम यद्यपि अपनी-अपनी इकाई में व्यक्ति हैं, किंतु रहते समाज में हैं, और हमारी इकाई की सार्थकता तभी है, जब उसे समाज का आधार प्राप्त होता है। उसी प्रकार यह समाज भी प्रकृति से अपना सम्बन्ध रखता है।

वस्तुतः हमारे समाज के विभिन्न युगों में प्रकृति के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं।

वैदिककाल में प्रकृति को मानवीय शक्तियों के रूप में अवतरित कर लिया गया था। उपनिषद्-काल में उस व्यापकता को देखा गया जिसमें मनुष्य से परे की सार्वकालिक सर्वक्षमता प्रकृति की मूलात्मा बन गई। उसके उपरान्त बौद्ध-जैनकाल में प्रकृति का उद्दीपन-पक्ष संयम के दमन में दबा देने की चेष्टा की गई। उसके परवर्ती युगों में प्रकृति ने अनेक घात-प्रतिघात सहे हैं। ब्राह्मण और वैष्णव चिन्तन ने प्रकृति को लावण्यमय ही अधिक माना है।

यदि बाहरी भेदों पर ध्यान न देकर देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि मूलतः प्रकृति का जो दृष्टिकोण भारत में रहा है, यूरोप भी उससे बहुत दूर नहीं रहा है। यह और बात है कि विभिन्न युगों की विभिन्न विचारधाराओं का अलग-अलग प्रभाव पड़ता रहा है।

प्रकृति वास्तव में समाज का एक दृढ़ आधार है, और उसके बिना वह मानो अपने को अनस्तित्व में पड़ा हुआ अनुभव करता है। यही कारण है कि प्रकृति को मनुष्य-समाज ने अपने से अभिन्न ही स्वीकार किया है।

## मनुष्य की बाह्य परिधियाँ

मनुष्य प्रकृति का अंग है। जिस प्रकार पशु, पक्षी, आकाश और पृथ्वी इत्यादि प्रकृति के अंग हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी है। मनुष्य विकास-क्रम में वैज्ञानिकों के मतानुसार पृथ्वी पर बहुत बाद में आया है। उसने इसी प्रकृति में अपना आवास बनाया है, और यद्यपि उसका यह सदैव यही कहना रहा है, कि वह अन्यों की अपेक्षा उच्चस्तर का प्राणी है, तथापि वह प्रकृति के बहुगुणात्मक परिवर्तनों में से ही एक है। प्रकृति इतनी गुणदर्शी है कि मूलतः मनुष्य का उच्चस्तरीय प्राणी होना भी उसीके एक गुण का पर्याय है।

इनके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि अंतत मनुष्य की भी एक प्रकृति है। क्षुधा, पिपासा, काम, प्रजनन और मृत्यु उसके वे काम हैं जिनके प्रति वह अपने को विवश पाता। है किंतु यह तो प्राणिमात्र के धर्म हैं अत उनको ही प्रत नहीं समझना चाहिए। मनुष्य में एक और भी पक्ष है। वह उसका आन्तरिक पक्ष है। जो उसका प्रवृत्ति-पक्ष है, वह तो सर्वसाधारण है, किंतु वह पक्ष जिनमे उसकी सुख-दुख की अनुभूति है, प्राणि-जगत् मे उसकी तुलना नही की जा सकती। इस दृष्टि से जबकि अन्य प्राणी प्रकृति के अगमात्र हैं मनुष्य ऐसा अग है, जो अपने अगत्व को पहचानता भी है और निरतर यह भी सोचता है कि ऐसा क्यो है? वैसा क्यो है? यह एक विचित्र बात है कि पूर्ण का अग अपने को पूर्ण समझकर, वस्तु के भीतर होते हुए भी, उससे अलगाव अनुभव करके, फिर उसमे सामीप्य का अनुभव करता है।

यही मनुष्य का भाव-पक्ष है। इस भाव-पक्ष का आधार उसकी प्रवृत्तियो पर निर्भर है। योगी लोग अपनी प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे लोगो को लोक मे असाधारण माना गया है। इसलिए भरत मुनि ने योग-पक्ष को काव्य के अतर्गत नही माना है, क्योंकि उनमे सुख-दुख की सहज और सर्वसाधारण की सी अनुभूति नही होती। लोक में द्वेष और राग दोनो ही मनुष्य का सचालन करते हैं। यद्यपि प्रवृत्ति-रूप में यह सब मानव मे विद्यमान है, किंतु उसके दमन की जगह, उसका उदात्तीकरण ही काव्य का मुख्य कार्य माना गया है। एक दृष्टि से काव्य का उद्देश्य और योग का उद्देश्य समान है, परन्तु एक मे भावात्मक दृष्टिकोण को अपनाया गया है, जबकि दूसरे मे अभावात्मक ढग को अपनाकर प्रकृति के कुछ अश को अस्वीकार कर दिया गया है। योगी होने पर भी मनुष्य क्षुधा और पिपासा का तो निराकरण करता ही है।

## मानव-धर्म और जिजीविषा

प्रकृति को जीतना ही मनुष्य का कार्य रहा है।

आदिम मानव ने जब गुहा ढूँढ ली थी और वर्षा मे वहा बैठ गया था, तब यद्यपि वह मेघ देवता से डरता रहा, तथापि उसने एक प्रकार से अपने को बचाकर, प्रकृति पर जीत प्राप्त कर ली थी। अग्नि का प्रयोग सीखकर उसने अपनी सभ्यता को आगे बढाया। अग्नि की कथा अनेक प्राचीन साहित्यो मे भी इसीलिए प्राप्त होती हैं। यह एक द्वन्द्व है कि मनुष्य ने अग होकर अगो को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। प्राचीन और मध्यकाल मे मनुष्य की सभ्य जातियो का प्राय विश्वास यह था कि पृथ्वी ही सृष्टि का केन्द्र थी और मनुष्य के लिए ही यह सारी रचना हुई थी। किंतु विज्ञान के विकास ने उनकी इन धारणा को तोड दिया। इससे यद्यपि मनुष्य ने अपनी निरर्थकता और लघुता के नये दृष्टिकोण अपनाए, परन्तु उसमे जीवित रहने की इच्छा ने नये प्रकार की प्रतिस्पर्धा भर दी। इसका दूसरा फल यह भी हुआ कि

उसकी बहुत-सी कोमल कल्पनाएं टूट गईं और उनका स्थान एक कटुता ने ले लिया। इस कटुता के फलस्वरूप प्रकृति के प्रति जो आस्था पहले मनुष्य में थी वह संदेह और भय के रूप में बदली गई।

आधुनिक मानव ने विज्ञान की सहायता से यद्यपि प्रकृति की अनेक रूपों में व्याख्या की है, फिर भी वह सब मनुष्य का ही दृष्टिकोण है, और यह नहीं मान लेना चाहिए कि वही सब अंतिम सत्य है। प्रकृति का कार्य-व्यापार महत् है और मनुष्य के साधन अभी इतने अपरिपक्व हैं कि वह उन्हें सहज समझ भी नहीं सकता। परन्तु इस संघर्ष ने उसके सामने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रकृति की शक्तियां एक नियमन में सब कार्य करती हैं और मनुष्य जो परिवर्तन लाकर अपने को जीवित रखता है, वह वस्तुतः अभी तक बहुत ही सतही है। पृथ्वी की लघुता का ज्ञान वास्तव में मनुष्य के महत्तर दृष्टिकोण का जागरण है और इसीलिए आज का कवि अभी तक उस विराट से वैसा तादात्म्य नहीं कर पाया है, जैसाकि पुराने कवि ने अपनी लघुता से कर लिया था। फिर एक बात यह भी है कि लघुता के कारण उस समय मनुष्य ही सबका केन्द्र बन गया था। यही बात है कि वह लघुता भी हमें अपनी प्रतीत होती है, जबकि यह विराट तत्त्व हमें अपने में विस्मय-बोध के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रकृति-पक्ष अभी तक उसमें मेल नहीं खा सका है।

## सहज और भाव-पक्ष

विकास के दो पक्ष हैं।

बाह्य पक्ष में मनुष्य की सभ्यता है, जबकि आंतरिक पक्ष में उसकी संस्कृति है। सभ्यता मनुष्य-निर्मित वस्तुओं का लेखा-जोखा है, और संस्कृति उसके हृदय-पक्ष का विवेक-पक्ष से वह सामंजस्य है, जिसमें नैतिकता बहुजनहिताय होकर विराजती है और उसकी सुंदरता को अधिक से अधिक उभारकर बाहर लाने की चेष्टा करती है। इसी दूसरी बात ने प्राचीन काल में उन वार्ताओं और कथाओं को जन्म दिया था, जिसमें उसको पशु, पक्षी और वृक्ष भी बात करते हुए मिलते थे। सभ्यता ने नीरस व्याख्या की है, संस्कृति ने उस बहुरूप का एकात्म ढूंढने का सदैव ही प्रयत्न किया है, और इसीलिए व्यक्ति के विकास को भारत में आवश्यक माना गया है।

आत्मिक पक्ष यद्यपि त्याग-पक्ष में भारतीय जीवन में अधिक स्तुत्य माना गया है, परन्तु उसे नकारात्मक नहीं स्वीकार किया गया। उसे सकर्मक रूप में तभी श्लाघ्य माना गया है जब उसमें मनुष्य-मात्र को आन्दोलित करनेवाले भावों के साथ पाया गया है।

प्रवृत्ति और विवेक, दोनों ही भाव-पक्ष में सन्निहित होते हैं। मनुष्य अनेक कार्य करता है, किन्तु उसे उनके साथ ही सुख और संतोष की भी आवश्यकता होती है। इसीको भाव-पक्ष में प्रकृति का तादात्म्य कहना चाहिए, क्योंकि उसीमें मनुष्य तृप्ति का

अनुभव करता है।

और आज भी जब हम विज्ञान की बात करते हैं तब वहां प्रकृति से केवल प्रतिस्पर्धा दिखाई देती है। जबकि मनुष्य चाहता है सुंदरता।

सुंदरता अपने-आपमें कुछ भी नहीं है, वह तो प्रकृति के कार्य-व्यापारों का ही स्वरूप-भेद है। उसीको हमने बाहर से भीतर तक उतार लाने की चेष्टा की है, अपनी लघुता में उस विराट तत्त्व को समेटकर। प्राणी में सुंदरता की परख समान रूप से नहीं होती। मयूर मेघ को देखकर नाचता है, जिसे देखकर लगता है कि उसको उमंग आती है जब वह मेघ को देखता है। परंतु यह स्वभावजन्य भी माना जा सकता है। मनुष्य में सुंदरता की अनुभूति बहुत अधिक होती है, यद्यपि सब मनुष्यों में यह भावना समान रूप से नहीं पाई जाती। बहुत-से लोगों की सुंदरता बहुत ही स्थूल होती है, जबकि उसकी अतिसूक्ष्मता की ओर संस्कृति निरंतर प्रेरित करती रही है।

## रहस्य-भावना और व्याख्या-केन्द्र

आदिम रहस्य-भावना में प्रकृति से भय था। आज भी विज्ञान ने भय को जागरित किया है। तब अज्ञान का भय था, अब अविश्वास का भय है। तब मनुष्य समझता था कि उसके पाप-पुण्य का प्रकृति की शक्तियों से सीधा सम्पर्क है और अब वह यह समझता है कि प्रकृति उसे निरीह समझती है। विवेक ने उसे बार-बार जागरित किया है कि वह अपने को इतना अधिक महत्त्व न दे कि वह अपने को ही सबका केन्द्र समझे। असल में मनुष्य का अहं यही चाहता है कि सबपर छा जाए। वह यह स्वीकार नहीं करना चाहता कि वह अपनी सत्ता का अर्थ नहीं समझता।

विवेक के विकास द्वारा मनुष्य का सौहार्द एक ओर जहां प्रकृति के प्रति घटा है, वहां दूसरी ओर उसमें तर्क-प्रवृत्ति अधिक बढ़ गई है। वह अंधविश्वास में केवल आंखों-देखा, या परम्परा से आया सत्य स्वीकार नहीं करना चाहता। वह सहज को भी अपने सम्बन्ध में सदैव असाधारण करके देखने का आदी हो गया है। ज्यों-ज्यों वह प्रकृति की व्याख्या करता जा रहा है, त्यों-त्यों उसका अहं भी बढ़ता जा रहा है। किन्तु अहंकार प्राणि-विकास का ही एक गुण है। वह प्राणि-मात्र में है। अहं, अर्थात् अपने अलगपन की अनुभूति होना, कीट-पतंगों में भी है, तभी मृत्यु से वे भी डरते हैं। यह प्रवृत्त्यात्मक सत्य है। प्राणी ज्यों-ज्यों विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें अपने को जीवित रखने की, आनंद मनाने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है।

और अब विज्ञान द्वारा हमने देखा है कि अहं का यह विकास जिस रूप में हुआ है वह एक सहज प्रक्रिया है। मनुष्य ने अब उसकी कुछ झलक-भर पाई है। अभी भी मनुष्य में स्वप्न-पक्ष की एक प्रकृति है, जो वह स्वयं समझ नहीं पाया है।

पुराने लोगों ने इसी 'अपनेपन' को अधिक से अधिक समझने की चेष्टा की थी।

इसीलिए कि उसी अच्छे लगनेवाले प्रकृति के रूप को अपने भीतर भर-भर लेना चाहता है। अनजानेगत्या उसने प्रकृति को उसके पुराने सम्बन्ध में ही ग्रहण करने की चेष्टा की है।

## नया दृष्टिकोण

यही आज का दृष्टिकोण है, जिसे हम नया कह सकते हैं।

वैदिक कवि प्रकृति की शक्तियों को मानव-रूप में अपना काम करने को बुलाता था और अपने पूर्व पुरुषों की आत्माओं को प्रकृति की शक्ति के पास कर देता था।

उपनिषद्-कालीन कवि ने प्रकृति के रम्य और भयानक रूप को 'साम' रूप के हिसाब में देखा और चाहा था कि वह एकस्वरता को प्रतिष्ठापित कर सके।

महाकाव्य-युग ने उसके स्थूल सौन्दर्य को जगा दिया और मानवी सौन्दर्य को समान महत्त्व दिया।

संस्कृत क्लासिकल युग ने इस सौन्दर्य-विवेचना को स्थूल के साथ रूपक जोड़कर सूक्ष्मतम सौन्दर्य में परिवर्तित कर देने का प्रयत्न किया और मानवीय नैतिक मानदण्ड भी मिलाकर उसने उदात्त का रूप दिया।

संस्कृत का परवर्ती युग दरबारी काव्य में डूबने लगा। तब प्रकृति की वासना ने ही अधिक बल पकड़ा क्योंकि स्थूल ही उस समय दृष्टि को पकड़ सका।

सामन्तीय काव्य ने हिन्दी में अपनी उसी परम्परा को विकसित किया। सूफी कवियों ने प्रकृति में अपने रहस्य को प्रतिष्ठापित करके नये मानवीय मूल्य लाने का यत्न किया।

सन्त और भक्त कवि प्रकृति को मानव के सत् और असत् के संघर्ष में ही देखते रहे। उनके सामने विशुद्धतावाद भी था और यौन जीवन ने भी उन्हें शृंगार के क्षेत्र में प्रेरणा दी किन्तु वे नया कुछ नहीं कह सके।

रीति और रीतिमुक्त उत्तर मध्यकालीन कवि-समाज ने प्रकृति को विशेष महत्त्व ही नहीं दिया। सेनापति ने भाषा के सौन्दर्य में संस्कृत के भावों का पिष्टपेषण किया, किंतु बच यों गए कि हिन्दी में वह सब नया था।

उपादेयतावादी कवियों ने भी प्रकृति के रूप को केवल अपनी बात को पहुंचाने और परिपाटी के रूप में लिया। प्रकृति के प्रति आखें खुलीं जब छायावादी कवियों ने नया जागरण लाकर प्रस्तुत किया। छायावादी कविगण ने प्रकृति के प्रति यूरोप से अवश्य प्रेरणा पाई किन्तु उनका दृष्टिकोण नया था, यद्यपि उसमें व्यक्तीकरण ने दुरूहता अवश्य उत्पन्न कर दी थी।

आज का कवि अपनी सारी परम्परा को जानता है और इसीलिए उसमें हम विविधता पाते हैं। यह विविधता संसार के किसी भी साहित्य के लिए श्रेयस्पूर्ण हो सकती है, क्योंकि इसमें प्रकृति अपने विभिन्न स्वरूपों में आकर अपने नये मूल्यों को प्रतिष्ठापित करती है।

—रांगेय राघव

# सत्य, शिव और सुन्दर

आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेंदु हरिश्चंद्र से माना जाता है। द्विवेदी-युग और उसके उपरांत छायावादी युग तक को आलोचकों ने अधिकांश अध्ययन से अपने मनन का विषय बनाया है। जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा छायावादी युग के प्रमुख और माने हुए कवि हैं। इनके उपरांत भी हिंदी में बहुत कविता लिखी गई है, किंतु उस कविता का कोई सहानुभूतिपूर्ण विवेचन नहीं हो सका है।

[१] हिंदी में आलोचक-वर्ग बहुधा अध्यापकों के वर्ग में से आया है, और इसलिए उन्हीं विषयों पर अधिकतर लिखा जाता रहा है, जोकि परीक्षा से संबंधित हो। काव्य तो दूर की बात है, हिंदी में उपन्यास अधिक जनप्रिय हैं और उन उपन्यासों की प्रवृत्तियों तक पर निरपेक्ष दृष्टि से नहीं लिखा गया है।

[२] आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद पुराने आलोचकों ने अधिकांश केवल पिष्ट-पेषण किया है। उन्होंने दोष अधिक निकाले हैं, आलोचक का मूल कर्तव्य नहीं निभाया है। और वह मूल कर्तव्य यह है कि आलोचक पाठक और लेखक के बीच की कड़ी है। दुर्भाग्य से हमारी शिक्षण-व्यवस्था में अध्यापकों के प्रभुत्व के कारण आलोचक होना लेखक को गिरा देने के पर्याय के रूप में ही साहित्य में प्रचलित हो गया है। आलोचक का असली कार्य लेखक के नवीन प्रयोगों, उसके अर्थों की महिमाओं को प्रकट करते हुए, उसकी कमियों को इस ढंग से दिखाना है कि लेखक और भी अच्छा लिख सके।

[३] उठते हुए आलोचक शीघ्र प्रसिद्ध हो जाने के लिए शाब्दिक चमत्कार दिखाकर विध्वंस में जुट जाते हैं और नये कवि को फिर भी कोई आशाप्रद साथी नहीं मिलता जो व्यक्ति या संस्था के परे, समस्त साहित्य को दृष्टि में रखकर, साहित्य की अभिवृद्धि के दृष्टिकोण से सहयोगी बन सके।

[४] वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन और यूरोप के विभिन्न वादों ने हिंदी के आलोचकों का ज्ञान नई दिशा में बढ़ाया। पुराने आलोचक रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और अलंकार में आलोचना समाप्त कर देते थे, उनके बाद आचार्य शुक्ल ने भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही दृष्टिकोणों को अपने सामने रखा। नये आलोचकों ने उसके

वाद यूरोप के विभिन्न वादों को ही जीवन का समस्त तथ्य बना लिया और आज प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, अस्तित्ववाद इत्यादि असत्य वाद दिखाई देने लगे। यह सत्य है कि पश्चिम का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है, परन्तु यह सत्य नहीं है कि जिस दृष्टिकोण को लेकर वाद-मार्गीय आलोचना हो रही है, वह वस्तु-सत्य का भी ठीक ही विश्लेषण करती है। मार्क्सवाद, जिसका पर्याय वैज्ञानिक भौतिकवाद है, चिंतन और विश्लेषण के रूप में अवश्य नया है, किन्तु वह भारत में पहले भी मौजूद था, अर्थात् मार्क्सवाद जिन सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण करता है, वे परिस्थितियां भारत में मार्क्स से भी पहले मौजूद थीं और यद्यपि वे ठीक यूरोप की भांति नहीं थीं, फिर भी वर्ग-संघर्ष मौजूद था और हमारा समाज मुक्ति के लिए संग्राम कर रहा था। पढ़े-लिखों के शाब्दिक चमत्कारों से मार्क्सवादी वस्तुस्थिति भारत में नहीं आई, वह तो यहां की जनता के संघर्षों में पहले से विद्यमान थी। उनका ठीक से विवेचन होना चाहिए था। परन्तु टुट-पुंजिया वर्ग के चिंतकों ने उस मार्क्सवाद को अपना मानसिक बोझ समझा और कुत्सित समाजशास्त्र का जन्म हुआ जिसने दायरे बांधे और साहित्य को ऐसा तंग कर देने का प्रयत्न किया कि वह सम्पूर्ण जीवन का प्रतिनिधित्व कभी नहीं कर सके। एक ओर जब यह हो रहा था, दूसरी ओर पुराने 'कला कला के लिए' सिद्धांत से प्रभावित लोग भी थे। इन लोगों ने वर्ग-संघर्ष के ही सत्य को झुठा देना चाहा। एक ओर जहां कुत्सित समाजशास्त्री विवेचन ने कहा कि साहित्य जनता के लिए है, और उसका मूलाधार समाज-पक्ष है, तो वह यह भूल गया कि साहित्य का स्रष्टा सामाजिक प्राणी होते हुए भी व्यक्ति है और उसका अपना एक व्यक्तित्व है, और यह व्यक्ति-मेधा ही सर्जन करती है, तो दूसरी ओर 'कला कला के लिए' वालों ने कहा कि समाज कुछ है ही नहीं, व्यक्ति ही सब कुछ है, और व्यक्ति के गहन रूपों का अध्ययन प्रस्तुत करनेवाले वाद जो यूरोप से फ्रायडवाद, प्रकृतवाद, अस्तित्ववाद बन कर आए, उनमें वे अपने को ढाल लेने का प्रयत्न करने लगे। यह सब केवल आंशिक सत्य है कि उन वादों का हिन्दी पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है।

साहित्य में विभिन्न धाराएं काम करती हैं। हिन्दी में ही बहुत-सी धाराएं थीं। कबीर और जायसी का रहस्यवाद ही मूल रूप में छायावाद की भावभूमि का आधार था, और उसका हमारी संस्कृति में अपना स्थान बना लेने का मुख्य यही कारण था। यह सच है कि जब युग और परिस्थिति बदल जाती है तब उसके अनुसार ही अभिव्यक्ति का रूप, बाह्य और अन्तस्थ, दोनों ही, बदल जाते हैं। आधुनिक 'कला कला के लिए' की पुकार करनेवाले नूतन सौन्दर्य की व्याख्या न करते हुए, उसे ही पूर्ण निरपेक्ष और अनिर्वचनीय कहकर दरबारी रंगीन संस्कृति को ही फिर से दुहराने की चेष्टा करते हैं।

रस[1]-सम्प्रदाय का जन्म सामत-काल के विकासशील युग मे हुआ था, अत दास-प्रथा के आगे होने के कारण उसमे समाज का कल्याण करने की शक्ति थी। परन्तु सामन्त-काल के गतिरोधो और उच्चवर्गीय प्रभुत्व ने काव्य को, रस के विरोध मे ध्वनि, रीति आदि के जाल मे, अभिजात्य बधनो मे बाधने की चेष्टा की, और यद्यपि वे समाज को उतना पीछे तो नही हटा सके कि 'रस' की प्रगति को झुठा दे, परन्तु उन्होने काव्य के बाह्य परिवेष्टन अवश्य दुरूह बना दिए।

आधुनिक काल के यूरोपीयवाद मध्यवर्गीय टुटपूजियो की वर्ग-व्यवस्था मे से जन्म ले सके हैं। उनमे आधुनिकता का फैशन है, और वे मूलत सामन्तीय काव्यशास्त्र के आगे नहीं ले जाते, बल्कि यो कहना उचित होगा कि सामन्तीय काव्यशास्त्र जहा अपने दायरो के भीतर पूर्ण है, वहा ये आधुनिकवाद उतने भी पूर्ण नही हैं। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने इन्हे 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' मे रखा था, किन्तु ये तो उतने मे ही समाप्त नही हो जाते। छद्म वेश मे ये 'रस' का पल्ला पकडते हैं। और यह इनका सबसे बडा खोखलापन है, क्योकि सौन्दर्य के अनिर्वचनीय निरपेक्ष आनन्द की उच्च भावभूमि को तभी रस-सम्प्रदाय मे उच्चतर समझा गया है, जब उसमे साधारणीकरण का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है।

यौन प्रवृत्तिया जो 'हाल' से चली आती हैं और पूरे रीतिकाल मे सामतीय बन्धनो मे रही, वे ही इन नये वादो मे नये रूप लेकर उठ खडी हुई हैं।

इन समस्त अपरिपक्वताओ ने साहित्य पर घातक प्रहार किया है। यहा कवित्व को न देखकर, उसकी कविता को न देखकर, कविमात्र को ही देखा जाता रहा है। रहस्यवादियो द्वारा समादृत कविकुलगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ही अनजाने मे 'अचलायतन' लिख गए थे, जहा उन्होने जीवन के कठोर सत्यो का वर्णन करते हुए सशस्त्र विद्रोह न्यायोचित बताया था। शेक्सपियर दरबारी-युगीन कवि था, किन्तु उसकी रचनाओ मे मध्यवर्ग की उठती चेतना का प्रतीक दिखाई देता है। ताल्सताय ईसाई अहिंसावादी था, परन्तु लेनिन ने उसे क्रान्ति का दर्पण कहा है। प्रेमचन्द अहिंसावादी था, वर्गवाद उसमे समन्वयवाद का स्थान लेता है, किन्तु उसने किसानो की चेतना को उठाया और राष्ट्रीय आदोलन को आगे बढाया।

आज भी कवियो की वाणी को देखने की सबसे बडी आवश्यकता है, न कि उनके बाह्य बन्धनो, गुटो, पार्टियो, आदि को ही देखकर उन्हें छोड दिया जाए। आगे आपको इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे, कि 'अरे, यह इसी व्यक्ति ने लिखा है!' ऐसे वाक्य तक आपके मुख से निकल जाएगे।

[५] हमे एक ओर काव्य को वाद, व्यक्ति, देश, काल और वर्गभूमि के ऊपर उठ-

१ देखिए, 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड', ले० रांगेय राघव

कर देखना आवश्यक है तो दूसरी ओर यही हमारे काव्य-विश्लेषण के मूलाधार हैं। इस वाक्य को पढ़कर विभिन्न मतवाले प्रसन्न और रुष्ट हो उठेंगे जबकि यह एक सत्य है। देखने को यह नितान्त विरोधी भावों का संघट्ट जान पड़ता है, परन्तु यह कठोर और यथार्थ वस्तुस्थिति का ही परिचय है।

एक रसवादी, इसको पढ़कर पहले भाग से असंतुष्ट होगा, जो साधारणीकरण के सिद्धांत को रसवाद का मूलाधार मानता है। जो रसवाद की परवर्ती व्याख्याओं को मानता है, वह सौन्दर्य के निरपेक्षितावाद के सिद्धांत की पुष्टि जानकर पहले भाग से प्रसन्न होगा, और वाक्य के दूसरे भाग में इसी क्रम से उल्टा असर होगा। ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, रीति आदि का अनुयायी केवल पहले भाग को ही स्वीकार करेगा। प्रकृत-वादी जो प्रकृत जीवन का ही वर्णन चाहता है और मानता ही जिसकी शक्ति का स्रोत है वह पहला भाग स्वीकार करेगा। प्रयोगवादी, अस्तित्ववादी का भी यही हाल होगा, जबकि यथार्थवादी, और प्रगतिवादी इस वाक्य के दूसरे भाग को ही ठीक समझेगा। इस बात को अब मैं स्पष्ट कर दूं। कवि किसी काल-विशेष में, देश-विशेष में जन्म लेता है। वह किसी वर्ग-विशेष में पैदा होता है। और किसी 'मत', 'सिद्धांत' अथवा 'वाद'-विशेष का प्रभुत्व स्वीकार करके लिखता है, यह हो सकता है कि वह 'वाद' का प्रत्यक्ष रूप से अनुसरण करे, या कोई 'वाद' अप्रत्यक्ष रूप से उसके काव्य से परिलक्षित हो। कवि व्यक्ति होता है और उसका व्यक्ति भी उसके काव्य में प्रकट होता है। अर्थात् देश, काल, वर्ग, वाद, और व्यक्ति—ये सब बातें प्रत्येक कवि में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रकट होती हैं। किन्तु कवि इतने में ही सीमित नहीं हो जाता। देश, काल, वर्ग, वाद, और व्यक्ति—ये बातें कवि में आवश्यक रूप से सम्मति ही नहीं पातीं, असम्मति भी पाती हैं, अर्थात् वह आवश्यक रूप से अपने देश, काल, वर्ग, वाद और व्यक्ति के स्वार्थों को ही पोषित नहीं करता, वह विरोध में भी लिख सकता है। कोई देश आक्रांत हो, कोई वर्ग आक्रांत हो तो यह आवश्यक नहीं है कि उस आक्रांता देश का कवि आक्रांत देश की ओर से नहीं लिख सके। रूस में कुलित समाजशास्त्रियों ने तॉल्सताय को अभिजात और कुलीन कहकर उनके साहित्य को भी अभिजात और कुलीन कह दिया था। यह उचित नहीं हुआ, क्योंकि जाने-अनजाने तॉल्सताय ने अभिजात कुलों के समाज की जघन्यता का पर्दाफाश किया। राजभक्त मोलियर अपने नाटकों में उठते हुए व्यापारी मध्यवर्ग का मजाक उड़ाते-उड़ाते, अपने ही स्वामी, सामंतीय समाज की, जड़ें काट गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो मूलाधार हैं, वे कवि को पूर्ण रूप से बांध नहीं लेते। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि आधुनिक काव्य में जनता का पक्ष इतनी जोरों से प्रकट करनेवाले कवि उस टुटपुंजिया वर्ग में से आते हैं जिसे 'ढुलमुल' वर्ग की संज्ञा दी गई है।

साहित्य का स्रष्टा व्यक्ति होता है और व्यक्ति के महत्त्व को साहित्य में राजनीति की भांति झुठाया नहीं जा सकता। व्यक्ति राजा होने पर भी दरिद्र के दुःख से दुःखी होता है। और कला के क्षेत्र में, अर्थात् सत्य के क्षेत्र में, कलाकार लिखते समय, चाह कर भी, अपने को रोक नहीं सकता, उसकी कला बोलती है, और कला क्योंकि अन्य पुरुष-ग्राह्य है *अतः उत्तम पुरुष का समस्त बन्धन भी भाव-माध्यम* को सकोच में बांध नहीं पाता। व्यक्ति मूल होता है, परन्तु काव्य का वृक्ष खड़ा होने पर, अपनी सत्य को परखने की तीक्ष्ण दृष्टि के सहारे से, अपनी डालें अपने-आप फैलाता है और जो फल उस वृक्ष में आते हैं, महान कलाकार निःसन्देह, उनके विषय में नहीं जानता। ऊपर दिए गए शेक्सपियर, और ताल्सताय के उदाहरण इसे स्पष्ट करने के लिए काफी हैं।

जिस प्रकार राजनीति में पार्टी के सदस्य अपने व्यक्तित्व को एक ध्येय में समर्पित करके सामूहिक नियोजन में कार्य करते हैं, उसी प्रकार लेखक नहीं कर सकता, *क्योंकि लेखक की शैली, कल्पना, प्रतिभा, व्यक्तिगत वस्तु हैं, और वे सामूहिक नहीं* हो सकती।

कवि-व्यक्तित्व जहां इन बातों में बंध नहीं सकता, वहां वह उच्छृंखल होने का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि व्यक्ति की यह समस्त स्वतन्त्रता सामूहिक जीवन के लिए है, और समूह के लिए ही कला एक माध्यम है जो जीवन को सुन्दर से सुन्दरतर बनाती है। यों दोनों एक-दूसरे पर आश्रित तथ्य हैं।

*लेनिन ने साहित्य के लिए पुकार उठाई थी कि साहित्य को पार्टीज़न साहित्य होना* चाहिए। लेनिन को विकृत करनेवाले लोग इसका यह अर्थ लगाते हैं कि वह पार्टी-नियमावली को ही साहित्य मानता था। यह बहुत बड़ा झूठ है। लेनिन स्वयं गोर्की से कहता था कि ताल्सताय से लिखना सीखो, और वह मायकोवस्की से पुश्किन को ऊंचा स्थान देता था। लेनिन का अर्थ था कि 'कला कला के लिए' वाले काव्य को दुरूह बनाते हैं, उसे जनता के लिए खींचकर लाओ और स्वतन्त्र करो। रूस की तत्कालीन परिस्थिति में सशस्त्र क्रांति की भूमि तैयार थी और वह नारा भी ठीक था। किन्तु फिर रूस में बदलती परिस्थितियों में भी उस नारे को किनारे की नाव की तरह इस्तेमाल किया गया और इलिया एहरेनबर्ग ने अब लेखकों की समस्या उठाई है जिसमें उसने स्वीकार किया है कि क्रांति के बाद के रूस में अभी महान साहित्य का सृजन नहीं हो सका है।[१]

असलियत यह है कि रूस के काव्यशास्त्र में साधारणीकरण के सिद्धांत का ज्ञान नहीं था। लेनिन ने अपने युग के अनुरूप उसीको स्थापित करने की चेष्टा की थी। उसकी गत्यात्मकता को न समझ सकने के कारण बाद के लेखकों ने विषय के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया। भारत एक प्राचीन देश है और इसमें अधिक मत पैदा हुए, जिन्होंने काफी अव-

१ 'राइटर एण्ड हिज क्राफ्ट', इलिया एहरेनबर्ग

द्वारा प्राप्त करने के कारण धीरे-धीरे खूब विकास किया। इसीलिए हमें एक बड़ी विरासत प्राप्त हुई है और हम उसपर सहूलियत से विचार कर सकने की परम्परा पा सके हैं। हमें रूस की गलतियों से शिक्षा लेनी चाहिए, तभी हम अपने देश को रूस की भांति समृद्ध बना सकते हैं।

अत: हमारा वाक्य स्पष्ट हो जाता है कि कवि अपने देश, काल, वर्ग, व्यक्ति तथा वाद में रहकर भी उनसे पूर्णतया बंधा नहीं है, तथापि वह उन्हींमें है और उच्छृंखल भी नहीं हो सकता। यह तथ्य कोई समन्वयवादी नहीं है जो समाज को आगे बढ़ने से रोके या धर्महीन समाज की स्थापना के सिद्धांत को काटता हो। इसमें एक ऐतिहासिक न्याय का पालन होता है कि कवि को उसकी कविता के माध्यम से जाचना चाहिए। बहुत-से लोग जो अपने को प्रयोगवादी कहते हैं, वे वस्तुत: पुरानी बातों ही को और भी सड़े-गले ढंग से प्रस्तुत करते हैं। कुछ कवियों को शिकायत है कि उनको प्रगति के पथ पर नहीं माना जाता, और उनके शाश्वत सत्य के वर्णन को काव्य नहीं समझा जाता। ईमानदारी की बात तो यह है कि शाश्वत सत्य को वे नहीं जानते, न कोई जानता है। उनका कहना सत्य है कि केवल मजदूर-किसान पर घिसी-घिसाई परिपाटी पर लिखना प्रगति नहीं है। परन्तु उनका यह कहना सत्य नहीं है कि उन्हें वेदान्त के रहस्यवाद की छूट देने में ही प्रगति है। वेदान्त का वह रहस्यवाद जिसने समाज को शक्ति दी है, समाज की रूढ़ियों का विरोध किया है, जैसे विवेकानन्द ने किया था, वह तो सब ही प्रगति मानते हैं, परन्तु जो रहस्य की अनुभूति, अप्रत्यक्ष के मूर्त विधान के बिना, व्यक्ति-वैचित्र्य के गर्तों में ले जाती है, और किसी भी प्रकार की सुन्दरता का बोध नहीं कराती, वह किस प्रकार प्रगति कहला सकती है यह समझ में आना दुष्कर ही है। कबीर जब 'हंसा' को 'मलकूत' और 'जबरूत' के परे ले जाता है तब उस वर्णन के दुरूह होने पर भी, जहां एक ओर उसमें विस्मय और कल्पना का आनन्द है, वहां दूसरी ओर उसमें एक उस दर्शन का सामाजिक सत्य भी है, जो हिन्दू और मुसलमानों के शाश्वत समझे जानेवाले देवी-देवताओं को छोटा करके प्रमाणित करता है कि सत्य इतने में ही सीमित नहीं हो जाता है। साधारण कोटि की कल्पना के पंख लगाकर नपे-तुले आकाश में जिसका पक्षी उड़ता है, और चक्कर लगाकर फड़फड़ाता है, उनमें पिष्टपेषण के अतिरिक्त कुछ रह नहीं जाता। काव्य जहां समाज-सत्य को घोषित करता है, वहां वह अभिव्यक्ति में मनुष्य के माधुर्य भाव की श्री की अभिवृद्धि भी करता है। इसी अभिवृद्धि को प्रकारांतर में ऐंगिल्स कला की सांकेतिकता (Suggestiveness) कहता था, जो निश्चय ही 'ध्वनि' की ही सापेक्ष स्वीकृति है। विचारों का तादात्म्य नहीं होने पर भी जो कभी-कभी काव्य में आनन्द आता है वह इसी सांकेतिकता का आंशिक आनन्द है, जो कला का एक अंगमात्र है, संपूर्णता नहीं है। यदि नये कवि ने वही कलम चलाई है जिसपर महाकवि बड़े ही अच्छे ढंग से लिख चुके हैं तो नया कवि

प्राय उनके सामने दीनहीन लगता है। विचारो से भेद का प्रश्न नही उठता, उनका तो लेखन ही ऐसे विचारो मे स्वय दरिद्र है। लेकिन जहा न ऐ कवियो ने अपनी मौलिकता दिखाई है, वहा उन्होने श्रेष्ठ काव्य लिखा है।

[६] हम 'वाद' का विरोध इसलिए करते हैं कि हमे आधुनिक काल का कोई भी कवि ऐसा नही मिला जिसने एक वाद मे बधी हुई कविता लिखी हो। वाद हैं, परन्तु कोई कवि एक ही वाद मे बद्ध कविता नहीं लिख सका है। अत वाद-भूमि पर विवेचन करने मे बहुत-से कवि परिधि के भीतर ही नही आते और हम वास्तविक मूल्याकन करने से वचित रह जाते हैं। हमे वाद की कसौटी बनाकर उनपर कवियो को फिट नही करना है, वरन् पहले कवियो को देखना चाहिए, तब उनका वर्गीकरण करना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही यह अवैज्ञानिक परिपाटी डाली थी। वे ऐसा वर्गीकरण कर गए हैं कि घनानन्द और रसखान जैसे कवि भी फुटकर कवियो मे डाल दिए गए है। और किसी भी कवि को फुटकर कहते ही उसकी महत्ता अपने-आप कम हो जाती है।

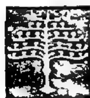
इसी लिए आवश्यकता है एक व्यापक भूमि की। काव्य में 'वाद' की उतनी प्रमुखता नही होनी चाहिए, जितनी जीवन और उसके विभिन्न रूपो की।

यह सक्राति-काल है। इसमे सब कुछ बदल रहा है और नये-नये दृष्टिकोण उपस्थित हो रहे हैं। बहुत-से कवि जो पलायनवादी समझे जाते हैं उन्होने जीवन के बहुत सुदर यथार्थ चित्रण किए हैं। अभी तक नये कवियो की निष्पक्ष आलोचना नही हुई है। जाने-माने रूप से कुछ दल-से बन गए है और उन्ही-उन्हीं लोगो के दो-दो उद्धरण देकर नाम गिना दिए जाते हैं। और वस्तु-विषय या विचारधारा का साम्य ही उनके मूल्याकन का आधार होता है, जबकि काव्य केवल विषय-वस्तु पर निर्भर नही होता। उसके लिए अन्य अनेक सबलो की आवश्यकता होती है, जो किसी भी वर्ण्य विषय को काव्य की सज्ञा दे सके। आलोचको की यह प्रवृत्ति हिन्दी के लिए दुर्भाग्यपूर्ण है। खेद है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति सभी ऐसे आलोचक है, जो प्राय असफल कवि हैं और इसीलिए ये लोग यदि एक सहज आक्रोश मन ही मन रखें तो कोई ऐसा आश्चर्य भी नही है। मैं यह बात व्यक्ति-मूलक सधान पर आश्रित नही करता, वरन् यह तथ्य यह प्रकट करता है कि इनमे वर्तमान के प्रति जो आस्था है, उसमे अध्यापकी लहजा है और वह इनके गौरव के लिए स्तुत्य नही है।

मैं यहा विस्तार से इस विषय पर नही लिखूगा कि कविता क्या है?[१] यहा इतना कह देना काफी है कि काव्य जीवन की सर्वांगीण स्थिति का चित्रण करनेवाली अनुभूतियो और भावो का वर्णन है। वह अपने युगानुरूप समाज की परिस्थितियो मे जन्म लेता है, पनपता है और अपने युग का निर्माण करता है। व्यक्ति की वे अनुभूतिया जो केवल उसी

१ विस्तार के लिए देखिए, 'काव्य-कला और शास्त्र', लेखक रागेय राघव

# आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली



डा० रांगेय राघव

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

# क्रम

नहीं थी, वरन् भारत परतन्त्रता की बेड़ियो मे जकड़ा हुआ था। यह परतन्त्रता केवल राजनीतिक ही नही थी, इसके साथ एक सामंतीय जर्जर व्यवस्था भी थी जो संपूर्णरूप से भारत की अशक्त-असस्य जनता मे फँसी हुई थी, क्योंकि अंग्रेजो ने मध्यवर्गीय उत्थान तथा मशीनो के साथ-साथ भारत मे पदार्पण करने पर भी यहा का सामन्तीय जीवन सुरक्षित छोड दिया था। परिस्थिति के इस भेद ने वही दुरूहता पैदा की जो छायावाद मे प्रकट हुई। रोमासवाद इगलैड मे जनप्रिय हुआ क्योंकि उसमे तथ्यो मे नवीनता का विकास अधिक था, शेली, कीट्स, बायरन आदि जनता में पहुचे हुए कवि बने, जबकि प्रसाद, पन, निराला, महादेवी आदि अपनी अभिजात व्यंजना के कारण पढ़े-लिखे लोगो तक ही सीमित रह सके। इनमें शेली, बायरन जैसा समाज-पक्ष नहीं रह सका तथा न पुश्किन जैसी जनप्रियता ही इन्हे मिल सकी, जो स्वय स्वतन्त्रता का हामी था और जिसने रूसी क्रांति की नीव डालनेवालो में अपना स्थान बनाया था।

हिन्दी का रोमान्सवाद अपनी भिन्न परिस्थितियों मे बदला हुआ था। छायावाद के रूप मे प्रतिफलित यह धारा अपने उद्दाम वेग से बही। इसने जो अपनी व्यजना से लोगों को चमत्कृत किया, पुराने लोगो ने इसका घोर विरोध किया, परन्तु नये मध्यवर्गीय तरुणो ने इसका मुक्त कण्ठ से स्वागत भी किया। धीरे-धीरे हिंदी मे व्यजनात्मकता-भरी इस शैली को इतना प्राधान्य मिल गया कि इसीकी छाया आज भी पीछा नही छोड सकी है। प्रयोगवाद इसीको पकड़ने की चेष्टा मे है, किन्तु क्योंकि प्रयोगवाद मे छायावाद का समाज-पक्ष नही है, वह केवल व्यक्ति-पक्ष को लेकर खड़ा होना चाहता है। प्रयोगवाद की दुरूहता शैली मे ही समाप्त नही हो जाती, वह भाव की भी अभिव्यक्ति को पकड़ती है और रोमासवाद का अल्हड़पन उसमे अपने नवीनतम रूप मे आता है, जो मूलत यौनवाद है। यौनवाद, मासलवाद, आदि हिंदी में बहुत गिने-माने जाते रहे हैं। यौनवाद और प्रकृतवाद मे भेद है। अतियथार्थवाद उसका थोड़ा-सा भिन्न रूप है और इन सबने अपना सन्निवेश प्रयोग मे पाया है। फ्रायड का चिन्तन जिसने यौनवाद की पृष्ठभूमि खड़ी की है, वह भी काफी हद तक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य या व्यक्ति-भिन्नत्व के रूप मे अपने-आपको उसमे बनाए रखने की चेष्टा करता रहा है। यहा हम इनका विवेचन आवश्यक समझते हैं।

[१] यूरोप मे फ्रायड के सिद्धान्तो का गहरा प्रभाव पड़ा। फ्रायड के विषय मे हिन्दी मे लिखा जा चुका है और फ्रायड का बहुत बड़ा प्रभाव बताया गया है। फ्रायड के अनुसार मनुष्य के जो उपचेतन मस्तिष्क होता है उसमे यौन सम्बन्धी भावनाए समाज के वर्जनशील नियमो के कारण समा जाती हैं और वह यौन विकृतिया अपने को विभिन्न रूपों मे प्रकट करती रहती हैं। फ्रायड की बहुत-सी बातो को यद्यपि एडलर और जुग ने ठीक करने की चेष्टा की, किन्तु उस सबका मूलाधार यौन विकृति ही रहा और वे सब

# भूमिका

## काव्य में चेतना का तात्पर्य

काव्य तो चेतना का ही पर्याय है, फिर नयी और पुरानी का सघर्ष तो दूर, पहले इसे ही सोचना आवश्यक है कि उसमे फिर चेतना का प्रयोग ही किसलिए किया जाए। क्योंकि यह या तो विरोधाभास-सा लगता है या इसमे यह दृष्टि है कि जो कुछ है, हमारी ही पीढ़ी है और पहले काव्य मे चेतना ही नही थी ! इसलिए इसकी व्याख्या करना उचित है। काव्य तो सदैव से मानव-चेतना का प्रतिविम्ब है। जब हम उसे काव्य में ढूढते हैं, तब वह अनायास ही मिल जाती है। प्रकृति-वर्णन, लोक-वर्णन, समाज-वर्णन, व्यक्ति-वर्णन से लेकर अत प्रकृति तक के वर्णन मे वह हमे प्राप्त होती है। प्रतीको या पात्रो के माध्यम से वह ध्वनित हुआ करती है। अत जब हम उसीपर केन्द्रित होते हैं तब समग्र सृष्टि का मानव-मस्तिष्क मे चेतन-रूप जो विबीकरण है, उसे नही देखते, वरन् उसे देखते हैं जो मानवात्मा के उत्थान को प्रकट करनेवाली भावना है, जो उसे उदात्त बनाती है। परिपाटी का सौन्दर्य पार करके जब लेखनी नयी स्फूर्ति प्रदान करने में समर्थ होती है, तब हम उसे चेतना कहा करते है, क्योंकि बहुकृत्य-बहुकरणीय जीवन मे कविता एक छन्द-बद्धता ही नही, एक सौन्दर्य है जो जीवन के प्रत्येक कार्य-व्यापार मे होती है। वह सौंदर्य ललित कलाओ के विविध रूपो मे अपनी अभिव्यक्ति पाता है, और लोकहित की कामना भी उसी सौन्दर्य के अतर्गत आती है। इस प्रकार जब हम काव्य मे चेतना देखते हैं तो मानव उस चेतना को नही देखते जो मानवीय विकास का परिणाम है, वरन् उसे देखते हैं जो सर्वात्म को अपने मे लीन करके उदात्त बनने की ओर प्रेरित करता है और सुदरता की अभिव्यक्ति को अपना सत्य और शिव बनाती है।

## नवचेतना की व्याख्या

प्रत्येक युग अपने साथ कुछ परिवर्तन लाता है। आदिकवि वाल्मीकि वास्तव मे आदिकवि नही थे। उनसे पहले उपनिषदो और उनसे भी पहले वेदो के कवि थे। किन्तु महाभारत-युग के अत मे जब लोक-काव्य के रूप मे गेय महाभारत मे लोक-गाथाए सबद्ध हुई तब वाल्मीकि रामायण की पुरानी कथा मे भी नये सवर्द्धन प्रारभ हुए और क्योकि

कवि ऐसा नहीं है, जो इन्हीं वादों में अन्तर्निहित हो जाए। अतः हिन्दी में प्रचलित इन मान्यताओं का विश्लेषण करते समय हम यदि कुछ कवियों के यहां उद्धरण देते हैं, तो उन्हींके उद्धरण हम आगे किसी दूसरे वाद के अन्तर्गत भी दे सकते हैं।

[१०] प्रयोगवाद का एक अलंकार 'प्रतीकवाद' है, जो कुछ समय पहले बहुतायत से प्रयुक्त किया जाता था। हिन्दी में प्रतीकवाद छायावाद की शैली में ही समाविष्ट है, जहां प्रतीकों के प्रयोग से अर्थ समझाने की चेष्टा हुई है। अतः उसे बिलकुल स्वतन्त्ररूप से अलग मानना कदापि उचित नहीं है। रूस में मायकोवस्की के प्रारम्भिक काव्य-काल में साम्राज्यवादी संस्कृति के विरुद्ध जो 'भविष्यवाद' नाम से व्यक्तिपरक विद्रोह उठा था, वह प्रतीकों का अधिकांश प्रयोग किया करता था। हिन्दी में भविष्यवाद का कोई स्पष्ट प्रभाव दिखाई नहीं देता, किंतु प्रतीकों का काफी असर पड़ा है और नये-नये प्रतीक बनाए गए हैं और बनते जा रहे हैं। प्रतीक अपने अलंकार के रूप में काव्य का गुण है, किन्तु वह स्वयं काव्य नहीं है, क्योंकि वह एक मूर्त की छाया बनकर सांकेतिक योजना बनकर ही रह जाता है, उसमें भाव को जागरित करने की शक्ति नहीं होती। वह भावानुभूति की तीव्रता को स्पष्ट करने में अवश्य लाभकारी सिद्ध हो सकता है। प्रतीक काव्य में इसीलिए सदैव ही बनते रहेंगे। वास्तव में प्रतीक बाह्याधार है जो युगानुरूप परिस्थितियों से प्रभावित होकर देश-काल के अनुरूप सदैव बदलता रहेगा। उसे काव्य का जीवन-स्रोत नहीं समझा जा सकता। प्रयोगवाद प्रतीक पर सबसे अधिक निर्भर है, क्योंकि प्रतीक की नवीनता ही प्रयोग की व्यंजना की एकमात्र आत्मा है, उसीमें चमत्कार उत्पन्न करने की बहुला शक्ति हो सकती है।

[११] सार्त्र का अस्तित्ववाद हिन्दी में अपना सीधा प्रभाव नहीं डाल सका है। व्यक्ति जीवित रहना चाहता है और किसी प्रकार अपना अस्तित्व-मात्र बनाए रहना चाहता है—यही इस समस्त वाद का मूल है। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति अपने को समाज की घोर बीभत्सा में पिसा हुआ सोचता है। उसे न केवल अपने चारों ओर दैन्य और निराशा दिखाई देती है, वरन् वह स्वयं उसके विरुद्ध होने की कल्पना कर लेता है। इस दृष्टि से व्यक्ति अपने को निस्सहाय समझता है और समाज में अर्थ के घात-प्रतिघात को भाग्यवाद की दुर्दमनीय प्रणाली-मात्र समझने लगता है। उसकी सत्ता अपने चारों ओर परिधि खींच लेती है और एक का अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व से सामरस्य नहीं ढूंढता, वरन् वह दायरों में बंध जाता है और उसे यह प्रतीत होता है कि यह संसार वास्तव में उसको मिटा देने में लगा हुआ है।

अस्तित्ववाद की स्थापना यूरोपीय प्रथम महायुद्ध के बाद की निराशा में हुई जब पूंजीवादी संस्कृति की विभीषिका में व्यक्ति को लगने लगा कि वह हर ओर से असुरक्षित है। साम्यवाद अस्तित्ववाद के दृष्टिकोण से सर्वहारा का बर्बर और निरंकुश अधिनाय-

हुआ और भारत मे अधिक होने का तात्पर्य है कि यहा विद्रोह अधिक हुआ। परिवर्तन की अधिक माग रही। नया समाज बार-बार बनाने की चेष्टा हुई। मानवीय मूल्यो को बार-बार पुनरांकित करने का यत्न हुआ। यह किसलिए ? इसलिए कि यहा मानववादी विचारधारा अधिक फैली, क्योकि यहा समाज की व्यवस्था व्यवहार मे बडी ही असमता पर स्थापित रही। परन्तु प्रत्येक युग में हम परिवर्तन देखते हुए भी, उसका अपने से पुराने युग से एक क्रमश विकास देखते हैं। राजनीतिक स्वतत्रता या दासता से चेतना की स्वतत्रता या दासता नहीं मिलती। जब तुलसी-सूर का युग था, तब भारत मुगल साम्राज्य के नीचे बुरी तरह कुचला पडा था, किन्तु कवि-चेतना उतनी ही उद्दाम-प्रखर थी। जब बिहारी-देव के युग मे मुगलो का वैभव भारतीय जनता पर इतना भयावह नहीं रहा था, तब कवि-चेतना उतनी प्रखर नहीं थी। जितना दु ख होता है, चेतना उतना ही निखार लाती है। दासता के मध्यकालीन आठ सौ वर्षों मे भक्ति के रूप मे जिस मानववाद को भारत मे प्रतिध्वनित कर दिया गया, वह पहले के युगो मे इतना प्रचण्ड नहीं था, क्योकि समाज तब इतना जकडबद्ध कुरीतिपूर्ण नही था जितना बाद में हो गया। इस तरह हम देखते हैं कि 'नये' का 'पुराने' से जो सबध होता है वह 'भावना' का ही अधिक होता है।

## उसका स्थायित्व और सार्वजनीन सत्य

तब प्रश्न यह उठता है कि युग तो बदलते ही रहते हैं, फिर साहित्य का स्थायित्व और सार्वजनीन सत्य क्या है ? मानव-समाज के बाह्य परिवर्तनो की भाति मनुष्य के भाव-जगत् मे उतना परिवर्तन नही होता, क्योकि वह मूलत अपनी प्रवृत्तियो की नीव पर ही खडा होता है। मन 'भाव' का स्थायित्व अन्य वस्तुओ की अपेक्षा कही अधिक है। जो साहित्य 'भाव' से सम्बन्ध रखता है, वह किसी भी वस्तु-विषय या रूप को लेकर भी, स्थायी तत्त्व अपने भीतर अधिक रखता है। मैंने इसी दृष्टि से नये काव्य को देखा है। मेरा उद्देश्य केवल उसका परिचय देना ही नही था, वरन् उसकी उपलब्धियो को भी मनन के योग्य जानकर सामने लाना था, उसकी सुन्दरता को प्रकट करना था।

युग के प्रश्न बदल जाते हैं, मानव अपनी पीढी दर पीढी चलती सास्कृतिक परम्परा मे उस एकसूत्र चेतना को देखता है, जिसमे मानव का उदात्त रूप, उसका सौन्दर्य चलता चला जाता हुआ दिखाई देता है। यह मानव का भावपक्ष ही है। उसका यथातथ चित्रीकरण अपने मे कोई विशेषता नही रखता। वह तो उसको चाहता है जो उसे आगे का पथ दिखाए, उसके सामने पथ को चौडा करता चला जाए। नये युग मे इस कार्य की ओर जो प्रयत्न हुआ है, वही हमने यहा अपने विवेचन का विषय बनाया है। इसमे कितना सार्वजनीन और सार्वकालिक है, वह पाठको के समक्ष स्पष्ट रखा गया है, और वे पढकर ही जान सकते हैं कि वे इसमे से कितना इस योग्य पाते हैं। इस दृष्टि से मैं समझता हू कि

था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य की इस धारा को नही देख सके थे।

[१३] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय जब समाज मे परिवर्तन हुए तो वे काव्य को इन अभिव्यक्तियो के समीप लाने मे लगे। उनकी राय मे काव्य का सहज होना अत्यन्त आवश्यक था। परन्तु द्विवेदी-काल मे कविता को तनिक उठाया गया और अभिधा-प्रधान होते हुए भी यह काव्य उतना सरल नही था जितना भारतेन्दु-कालीन काव्य था। रीतिकाल की शृंगारपरकता कम की गई और उपादेयतावाद ने स्थान लिया। इसका कारण दयानन्द के आन्दोलन का प्रभाव था, और राष्ट्रीय सग्राम की भी उसपर छाया पडी थी।

किन्तु मध्यवर्ग उतने ही से सतुष्ट नही था। छायावाद अर्थात् अभिजात शैली का उदय हुआ, जिसने काव्य को यद्यपि मुक्त तो किया किन्तु इसकी उडान साधारण जनता से काफी दूर हो गई। व्यञ्जना-प्रधान इस शैली ने भारतेन्दु तथा द्विवेदी-कालीन कविता को उतनी ऊंची कोटि का नही माना, जितनी अपनी कविता को। आज भी बहुत-से आलोचक यही मानते हैं कि छायावाद ने भाषा को जो मजाहट दी है, उसको छोडने से कविता का मेयार गिर जाता है। आधुनिक कविता को जनप्रिय होने से रोकने-वाला यह सबसे बडा कारण है। प्रयोगवादी काव्य ऐसा ही एक प्रयत्न है जो काव्य को उसी ऊंची अभिजात शैली का ध्वसावशेष बनाकर रखना चाहता है।

मैकॉले ने कहा था कि ज्यो-ज्यो सभ्यता का विकास होता है, कविता का ह्रास होता है। मैकॉले अपनी जगह ठीक था क्योकि सभ्यता से उसका तात्पर्य पूजीवादी संस्कृति के विकास से था। पूजीवादी संस्कृति धन को मनुष्य के ऊपर स्थापित करती जा रही थी, व्यक्ति समाज के द्वन्द्व मे आ गया था, और मशीनो का महत्त्व तथा प्रभुत्व धीरे-धीरे प्रकृति के साहचर्य को दूर कर रहा था, और हृदय-पक्ष पर हृदयहीन शोषण सवार होता जा रहा था। सामतीय जीवन मे प्रजा और राजा का सीधा सम्बन्ध था और भाग्य-वाद उस समाज की रीढ़ था। पूजीवाद ने भाग्यवाद के दुख भोगनेवाले भाग को तो जीवित रखा, किन्तु अब शोषण के रूप बदल गए और शोषक और शोषित का व्यक्ति-पक्ष मे भी कोई सम्बन्ध नही रहा। यह याद रखने की बात है कि काव्य का जन्म सामू-हिक जीवन के उत्पादन-वितरण के सामूहिक रूप मे हुआ था, और व्यक्ति के समाज मे एकातिक होते जाने के साथ, काव्य का भी ह्रास होता गया। अतएव काव्य की जीवत शक्ति, भावानुभूति का सामरस्य ही जब नष्ट होने लगा तब काव्य का दुरूह हो जाना नितान्त ही स्वाभाविक हो गया। इसके विरुद्ध दूसरी ओर सोवियत काव्य का जन्म हुआ, परन्तु वह अधिकाश नीतिपरक रहा और उसने अधिकाश जीवन की वीरता, करुणा आदि को ही छुआ, जिसके कारण जीवन का सागोपाग रूप समाज को नही मिला। इन दो दूरियो ने एक खाई पैदा की। सोवियत रूस ने क्राति की और वहा छलाग लगाई गई

विभिन्न रूपों में विकास किया है।

प्रकृति मनुष्य के इतने पास है कि उसने उसके मन के पक्ष को छुआ है, तभी उसे निरन्तर उसके काव्य में स्थान मिलता रहा है।

## प्रकृति के काव्य में रूप और साधर्म्य का विकास

प्रकृति के काव्य में अनेक रूप हैं।

प्रकृति को पहले पक्ष में उपासना के आधार के स्वरूप में लिया गया। इसलिए हमें भक्ति के स्वरों में उसका दर्शन मिलता है। इसी पक्ष का दूसरा स्वर है भय, जिसके स्वरों में हमें प्रकृति का आतंक प्रदर्शित होता है। किन्तु कालावधि व्यतीत होने पर हम ज्यों-ज्यों प्रकृति को समझते गए और सभ्यता की ओर अग्रसर होते गए, हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन होता गया।

प्रकृति एक उद्दीपन करनेवाली वस्तु बनी। और उसके माध्यम से मनुष्य अपने राग-द्वेष को घटता-बढ़ता देखने लगा। इसमें स्मृति का हाथ काफी प्रबल हो उठा। वासनाजन्य विकारों ने इसमें अपना बहुत अधिक सान्निध्य देखा।

आलम्बन रूप में प्रकृति को देखना दूसरा दृष्टिकोण बना।

इन दो रूपों के अतिरिक्त भी प्रकृति के काव्य में स्वरूप प्रस्तुत हुए।

प्रकृति का स्वयं में भी सौन्दर्य होता है। महाभारत के प्रकृति-चित्रण में हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें प्रकृति अपने-आपके ही लिए अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से चित्रित की गई है।

प्रकृति में अपने उपास्य को खोजना और ब्रह्मस्वरूप समझकर एकमात्र रहस्य के अन्तर्गत उसे रखकर देखना भी प्रकृति के चित्रण का एक रूप है। प्राचीन और मध्य-कालीन रहस्यवादियों का ऐसा ही दृष्टिकोण था। किन्तु अर्वाचीन काल में ब्रह्मरूप में तो कोई एकेश्वर नहीं माना गया, तथापि प्रकृति की महानता में अपनेको आत्मसात् करने की छायावादी कवियों ने चेष्टा की।

प्रकृति पलायन का भी केन्द्र-स्थल बनी। समाज की विषमता से ऊबे हुए मनुष्य ने प्रकृति की कमनीयता को ही अपने सामने रखा।

मध्यकाल में प्रकृति को उपदेशक के रूप में काव्य में चित्रित किया गया। यदि प्रत्यक्ष ऐसा नहीं किया गया तो प्रकृति के गुणों को तुलनात्मक रूप में मनुष्य के चरित्र से मिलाकर प्रस्तुत किया गया। यह प्रवृत्ति संतों और भक्त कवियों में हमें मिलती है।

किन्तु प्रकृति का एक और रूप रहा है, अप्रस्तुत का मूर्तीकरण। इस रूप में प्रकृति अपने-आपमें इतना प्रभाव नहीं रखती, जितना अपने आधार की उपमा या छवि-विधान बनने में सार्थकता दिखलाती है।

समाज की रूढ़ियों में बन्द हो जाने पर भी साहित्य ने परम्परा और परिपाटी की

छापेखाने के प्रयोग ने कवि को जनता से अलग किया। और लिखने, छपवाने की प्रवृत्ति ने काव्य को जनता के प्रति नये युग मे सीधा उत्तरदायित्व नही दिया। रीतिकाल की समस्त मुक्तक कविता वास्तव मे राधाकृष्ण की प्रचलित कथा पर आधारित है, इसलिए उसे भी समझने में जनता को, जो भी उसके निकट आ सकी, उतना कष्ट नही हुआ, जितना नई कविता को समझने मे होता है, क्योकि अबकी बार के मुक्तक काव्य ने जनता मे प्रचलित किसी आधार को नही लिया है। नये मुक्तक के उपमान, तथ्य आदि सब ही नये हैं, और उनकी पृष्ठभूमि अभी तक बन नही सकी है। प्रयोगवाद में तो यह शैली तथा भावगत दुरूहता है और प्रगतिवादी काव्य की अड़चन दूसरी है। वह अभी नये समाज की नई नीति को स्थापना कर रहा है। अभी उस नये समाज की कल्पना पूरी तरह से जनता मे उतर नही पाई है, क्योकि व्यक्तिवादी ढग से प्रचलित आधुनिक प्रगतिवादी कविता ने मध्यवर्गीय शैली मे विकास किया है, उसने जनता मे प्रचलित काव्य-माध्यमो से अपना नाता नही जोडा है और जनता तभी काव्य को मानती है, जब उसका अपना जीवन उसमे प्रतिबिम्बित होता है।

प्रयोग के विषय मे जो हमने बताया था कि उसने अपनी ही परम्परा में मौजूद स्थलो मे आश्रय बनाया था उसमे एक यह ही है जिसने काव्य को बढने से रोका है।

[१४] इनके अतिरिक्त प्रयोगवाद के आश्रयस्थल रहस्यवाद और पलायनवाद हैं, जो अभी तक हिन्दी काव्य मे बचे हुए हैं। इनका प्रभाव भारत मे दो कारणो से है, एक तो दर्शन की परम्परा और दूसरी योग-मार्गो की परम्परा। दर्शन का प्रश्न भारत में बहुत पुराना है और शताब्दियो मे उसका प्रभाव जनता तक गहरा उतर गया है, जिसका कारण है यहा के जीवन की प्राय एकरसता। खेतिहर प्रणाली इसका मूलाधार है। वह भाग्यवाद को जन्म देती है क्योकि परिस्थितिया आकाश के बादलो पर निर्भर होती हैं। जल नही बरसा, अकाल पड गया। बरस गया, खेती हो गई। सृष्टि की प्राकृतिक क्रियाओ के ऊपर निर्भरता, मनुष्य को लघुता की ओर प्रेरित करती है और फिर वह सृष्टि के रहस्यो को जान लेने की चेष्टा करता है और यही रहस्यवाद का मूल उद्गम है, क्योकि जानने मे लगा हुआ व्यक्ति जब असली तथ्य की व्याख्या नही कर पाता, तब अज्ञात को अव्यक्त-रूप में अनुभव करने का प्रयत्न करता है। यही रहस्यवादी भावना जब समाज मे पुरोहित-वर्ग के रूढिवाद के विरुद्ध उठ खडी हुई थी, तब उसने लघुता से महानता की ओर प्रेरित किया था, किन्तु उसके बावजूद अपनी वस्तुस्थिति मे वह अभावात्मक ही रहा योग-मार्ग की परम्परा जब रहस्यात्मक जीवन को साधनापरक पद्धति से खोजने का यत्न करती है तब वह व्यक्तिमूलक हो जाती है। मध्यकालीन साहित्य तक हम कह सकते है कि अततोगत्वा इसीके रूप काव्य मे प्रतिबिम्बित हुए थे, किन्तु आधुनिक काल मे छायावाद ने जिस रहस्य की छाया देखी, वह यद्यपि पुरानी धारा का ही प्रतिफलन था, किन्

इसके अतिरिक्त सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि अन्तत मनुष्य की भी एक प्रकृति है। क्षुधा, पिपासा, काम, प्रजनन और मृत्यु उसके वे काम हैं जिनके प्रति वह अपने को विवश पाता। है किंतु यह तो प्राणिमात्र के धर्म हैं अत उनको ही अन्त नहीं समझना चाहिए। मनुष्य में एक और भी पक्ष है। वह उसका आन्तरिक पक्ष है। जो उसका प्रवृत्ति-पक्ष है, वह तो सर्वसाधारण है, किंतु वह पक्ष जिनमें उसकी सुख-दुख की अनुभूति है, प्राणि-जगत् में उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से जबकि अन्य प्राणी प्रकृति के अगमात्र हैं मनुष्य ऐसा अग है, जो अपने अगत्व को पहचानता भी है और निरतर यह भी सोचता है कि ऐसा क्यो है? वैसा क्यो है? यह एक विचित्र बात है कि पूर्ण का अग अपने को पूर्ण समझकर, वस्तु के भीतर होते हुए भी, उसमें अन्यत्व अनुभव करके, फिर उसमें सामीप्य का अनुभव करता है।

यही मनुष्य का भाव-पक्ष है। इस भाव-पक्ष का आधार उसकी प्रवृत्तियो पर निर्भर है। योगी लोग अपनी प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे लोगो को लोक मे असाधारण माना गया है। इसलिए भरत मुनि ने योग-पक्ष को काव्य के अतर्गत नही माना है, क्योंकि उसमें सुख-दुख की सहज और सर्वसाधारण की सी अनुभूति नही होती। लोक में द्वेष और राग दोनो ही मनुष्य का सचालन करते हैं। यद्यपि प्रवृत्ति-रूप में यह सब मानव मे विद्यमान है, किंतु उसके दमन की जगह, उसका उदात्तीकरण ही काव्य का मुख्य कार्य माना गया है। एक दृष्टि से काव्य का उद्देश्य और योग का उद्देश्य समान है, परतु एक मे भावात्मक दृष्टिकोण को अपनाया गया है, जबकि दूसरे मे अभावात्मक ढग को अपनाकर प्रकृति के कुछ अश को अस्वीकार कर दिया गया है। योगी होने पर भी मनुष्य क्षुधा और पिपासा का तो निराकरण करता ही है।

## मानव-धर्म और जिजीविषा

प्रकृति को जीतना ही मनुष्य का कार्य रहा है।

आदिम मानव ने जब गुहा ढूढ ली थी और वर्षा मे वहा बैठ गया था, तब यद्यपि वह मेघ देवता से डरता रहा, तथापि उसने एक प्रकार से अपने को बचाकर, प्रकृति पर जीत प्राप्त कर ली थी। अग्नि का प्रयोग सीखकर उसने अपनी सभ्यता को आगे बढाया। अग्नि की कथा अनेक प्राचीन साहित्यो में भी इसीलिए प्राप्त होती है। यह एक द्वन्द्व है कि मनुष्य ने अग होकर अगी को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। प्राचीन और मध्यकाल मे मनुष्य की सभ्य जातियो का प्राय विश्वास यह था कि पृथ्वी ही सृष्टि का केन्द्र थी और मनुष्य के लिए ही यह सारी रचना हुई थी। किंतु विज्ञान के विकास ने उसकी इस धारणा को तोड दिया। इससे यद्यपि मनुष्य ने अपनी निरर्थकता और लघुता के नये दृष्टिकोण अपनाए, परन्तु उसमें जीवित रहने की इच्छा ने नये प्रकार की प्रतिस्पर्धा भर दी। इसका दूसरा फल यह भी हुआ कि

हैं। मार्क्सवाद ने इस दृष्टिकोण को तोड़ा और 'नया 'मानववाद' प्रस्तुत किया जिसमे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सच्ची व्याख्या थी। किन्तु दुर्भाग्य से वह प्रतिष्ठापना ऐसी नही हो सकी कि जनसंघर्षों मे से अपना विकास करती, वह बौद्धिक रही, और उसने समस्त पुरानी परम्परा को आत्मसात् करके छोडने के स्थान पर, उसपर एकदम प्रहार किया और सबको चौंका दिया और वह अपना अलग रास्ता बनाने लगी। इसका कारण था सकीर्णतावाद जिसने सामाजिक विवेचन करते समय रूढिवाद का पल्ला पकडा। मार्क्स ने जिन परिणामो को यूरोप के इतिहास का अध्ययन करके निकाला था उन्हे भारतीय परिस्थिति पर लागू किया गया, जबकि मार्क्स के परिणामो को नही उसके सिद्धान्तो को भारतीय परिस्थिति पर लागू करने की आवश्यकता थी, उसके लिए इस देश के इतिहास, सस्कृति और परिस्थिति को अपने अध्ययन का विषय बनाने की आवश्यकता थी। इस प्रकार यथार्थ के नाम पर सकुचित राजनीतिक दृष्टि-भर रखी गई और जीवन के अन्य क्षेत्रो को छोड दिया गया, जबकि मार्क्सवाद केवल राजनीति नही है, वह जीवन के मूल्यो का नया निर्धारण है जो व्यक्ति, समाज और सस्कृति के मूल प्रश्नो को उठाता है और उनमे द्वन्द्व नही समन्वय स्थापित करना चाहता है, जो मानव-मानव के पारस्परिक द्वन्द्व को मिटाकर द्वन्द्व को मानव और प्रकृति के बीच मे पैदा करने की योजना बनाता है, और प्रकृति और मानव का द्वन्द्व वह ऐसे पैदा करता है कि मानव 'अप्राकृतिक' नही हो जाए, वरन् प्रकृति को अधिक से अधिक अपने लाभ के लिए प्रयुक्त कर सके, क्योंकि मानव अततोगत्वा प्रकृति का एक भाग ही है, और वह प्रकृति का प्रयोग कर सकता है, उसको बदल नही सकता। 'रहस्य' और 'शाश्वत' का वह कोई परम्परागत समाधान नही करता।

[१६] द्विवेदीयुगीन काव्य की उपादेयतावादी चितना के विरुद्ध छायावाद ने अपना सफल स्थान बनाया, किन्तु शीघ्र ही लोग उससे ऊब उठे क्योकि युग की माग आगे बढने की चेष्टा कर रही थी। इस आगे बढने की चेष्टा को मध्यवर्गीय कला ने ईमानदारी से देखा और बौद्धिक दृष्टिकोण ने 'ग्राम्या', 'युगवाणी' का सिरजन किया, जिसमे 'होना चाहिए' की पद्धति अपनाई गई और इसीलिए कवि ने उस काव्य को 'गद्य-गीत' कहा। प्रगतिशील काव्य की यह बुनियाद बुद्धिवादी रही। बजाय जन-जीवन मे उतरने के, दूर से उसपर विवेचन किया गया और प्रगतिशील कवियो मे यही परम्परा चल पडी।

दूसरी ओर छायावादी परम्परा तरुण कवियो द्वारा तोडी गई। हालावाद व्यक्ति की मस्ती का प्रतीक बनकर आया, जिसने समाज की रूढियो पर प्रहार किया। अराजकतावाद, सघर्षवाद, अतिक्रातिवाद और विद्रोहवाद फूट निकला, जो पुराने को पसन्द नही करता था, जिसकी भुजाए फडकती थी, जो प्रचलित पलायनवाद और निराशावाद को उखाड फेंकना चाहता था, परन्तु व्यक्ति का आक्रोश उसकी शक्ति थी, उसका कोई सामाजिक आधार नही था। यह आवाज़ साम्राज्यवाद के भी विरुद्ध थी। इसने पुरानी

अनुभव करता है।

और आज भी जब हम विज्ञान की बात करते हैं तब वहा प्रकृति से केवल प्रतिस्पर्धा दिखाई देती है। जबकि मनुष्य चाहता है सुदरता।

सुदरता अपने-आपमें कुछ भी नही है, वह तो प्रकृति के कार्य-व्यापारो का ही स्वरूप-भेद है। उसीको हमने बाहर से भीतर तक उतार लाने की चेष्टा की है, अपनी लघुता में उस विराट तत्त्व को समेटकर। प्राणी मे सुदरता की परख समान रूप से नही होती। मयूर मेघ को देखकर नाचता है, जिसे देखकर लगता है कि उसको उमग आती है जब वह मेघ को देखता है। परतु यह स्वभावजन्य भी माना जा सकता है। मनुष्य में सुदरता की अनुभूति बहुत अधिक होती है, यद्यपि सब मनुष्यो में यह भावना समान रूप से नही पाई जाती। बहुत-से लोगो की सुदरता बहुत ही स्थूल होती है, जबकि उसकी अतिसूक्ष्मता की ओर सस्कृति निरतर प्रेरित करती रही है।

## रहस्य-भावना और व्याख्या-केन्द्र

आदिम रहस्य-भावना मे प्रकृति मे भय था। आज भी विज्ञान ने भय को जागरित किया है। तब अज्ञान का भय था, अब अविश्वास का भय है। तब मनुष्य समझता था कि उसके पाप-पुण्य का प्रकृति की शक्तियो से सीधा सम्पर्क है और अब वह यह समझता है कि प्रकृति उसे निरीह समझती है। विवेक ने उसे बार-बार जागरित किया है कि वह अपने को इतना अधिक महत्त्व न दे कि वह अपने को ही सबका केन्द्र समझे। असल मे मनुष्य का अह यही चाहता है कि सबपर छा जाए। वह यह स्वीकार नही करना चाहता कि वह अपनी सत्ता का अर्थ नही समझता।

विवेक के विकास द्वारा मनुष्य का सौहार्द एक ओर जहा प्रकृति के प्रति घटा है, वहा दूसरी ओर उसमे तर्क-प्रवृत्ति अधिक बढ गई है। वह अधविश्वास से केवल आखो-देखा, या परम्परा से आया सत्य स्वीकार नही करना चाहता। वह सहज को भी अपने सम्बन्ध में सदैव असाधारण करके देखने का आदी हो गया है। ज्यो-ज्यो वह प्रकृति की व्याख्या करता जा रहा है, त्यो-त्यो उसका अह भी बढता जा रहा है। किन्तु अहकार प्राणि-विकास का ही एक गुण है। वह प्राणि-मात्र मे है। अह, अर्थात् अपने अलगपन की अनुभूति होना, कीट-पतगो मे भी है, तभी मृत्यु से वे भी डरते हैं। यह प्रवृत्त्यात्मक सत्य है। प्राणी ज्यो-ज्यो विकसित होता जाता है, त्यो-त्यो उसमें अपने को जीवित रखने की, आनद मनाने की प्रवृत्ति बढती जाती है।

और अब विज्ञान द्वारा हमने देखा है कि अह का यह विकास जिस रूप मे हुआ है वह एक सहज प्रक्रिया है। मनुष्य ने अब उसकी कुछ झलक-भर पाई है। अभी भी मनुष्य मे स्वप्न-पक्ष की एक प्रकृति है, जो वह स्वय समझ नही पाया है।

पुराने लोगों ने इसी 'अपनेपन' को अधिक से अधिक समझने की चेष्टा की थी।

प्रगतिशील चिंतन पर विवेचन करना अब आवश्यक है। 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' में हम इसपर विवेचन कर चुके हैं, परन्तु वहा जो बातें रह गई थी, उनको यहा स्पष्ट कर देना आवश्यक है। काव्य क्या है यह हम स्पष्ट कर चुके हैं। यहा हिन्दी की समस्याओं पर ही विचार करेंगे।

पहली बात यह है कि व्यक्ति की किसी भी अवस्था मे ऐसी कल्पना नही की जा सकती, जिसमें व्यक्ति के विवेक अथवा न्यायबुद्धि को समाज के सम्बन्धो मे निरपेक्ष भाव मे मुक्त करके देखा जा सके। दूसरी बात यह है कि व्यक्ति जब समाज के तादात्म्य मे अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्र समझी जानेवाली उन वृत्तियो का परिमार्जन करता है, जो उसके दैनिक-सामाजिक सम्बन्धो मे वाह्य वस्तुओ का नियत्रण करती हैं, अथवा यो कहें कि एक-दूसरे को हानि-लाभ पहुचानेवाली आदान-प्रदान, वितरण, क्रय-विक्रय करनेवाली वे स्थिति का माध्यम बनती हैं, तब वह अपने व्यक्तित्व का हनन नही कर देता वह समाज मे मशीन का अग बनकर नही रह जाता। जिस प्रकार समाज-रूपी शरीर मे आख-रूपी व्यक्ति अपने स्थान पर नियत है, पर अपनी शक्ति से दूर-दूर तक को देखने के लिए स्वतन्त्र है, उसी प्रकार व्यक्ति की मेधा भी समाज मे कुण्ठित नही हो जाती। मार्क्स ने यूरोप की तत्कालीन परिस्थिति मे इसी सत्य को देखा था। गड्ढा देखकर भी यदि आख गड्ढे में शरीर को ले जाना चाहे, अथवा शरीर के मरने पर आख जीवित रहना चाहे, तो जिस प्रकार आख के माध्यम से मस्तिष्क परिचालित होकर भी अपना भला-बुरा नियन्त्रित करता है, तथा शरीर के मरने पर आख को भोजन मिलना बन्द होकर आख का काम समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति सारे समाज में ऐसी अन्य भी शक्तिया प्राप्त करता है, जो उसपर नियत्रण करती हैं और समाज के न होने पर व्यक्ति भी जीवित नही रहता। व्यक्ति अपनी भाषा, अपना चिन्तन, सब सामूहिक रूप से ही सीखता-समझता है। ये दो बातें समस्त सघर्ष को स्पष्ट करती हैं। 'ऊर्ध्वचेतन' की ओर विकास-क्रम में आगे ले जाने की जो बात योगी श्री अरविन्द ने कही है वह व्यक्ति की चेतना को समाजगत करके नही देखती, जबकि अरविन्द ने एमीबा से अपने विकास को प्रारम्भ किया है।

यह सत्य है कि मनुष्य का विकास करोडो वर्षों मे हो जाएगा, परन्तु उसका कोई विकास व्यक्तिवादी ढग से समाजगत रूप को छोडकर नहीं हो सकता। यहा कोइस्लर की बात आ जाती है, जिसने कहा है कि योगी और कमिसार दोनो का समन्वय ही विकास की अगली मजिल है। अर्थात् व्यक्ति और समाज का यह आत्मोन्नति और समाजोन्नति की ओर उन्मुख रूप ही भौतिक और आध्यात्मिक रूप का चरम मिलन है। परन्तु यहा दोनो रूपो को द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। योग का अर्थ शरीर और मन की शक्तियो का नियोजन-मात्र है। 'योग' का विकास भारतीय इतिहास में समाज-

प्रतिभा का स्पर्श दिया और अमर काव्यों की सृष्टि की। पुश्किन ने अवश्य 'यूजीन ओनिगिन' ऐसा पद्योपन्यास लिखा जिसकी कथा उसने अपने-आप बनाई थी। यह प्रकट करता है कि शास्त्रीय पद्धति से, अथवा किसी भी प्रकार के चित्रण-सौन्दर्य-मात्र से, कोई भी कथानक, युग पर प्रभाव नहीं डालता, जब तक कि उसके भीतर युगव्यापी कोई विषय नहीं हो। युगानुरूप होने का यह तथ्य यह भी प्रमाणित करता है कि कवि अपनी कथा भी गढ़ सकता है, उसमें यदि शक्ति होगी तो वह युग को प्रभावित कर सकेगा।

प्रबन्धकाव्य को यद्यपि निभाना अत्यन्त कठिन है, फिर भी उसमें वर्णन-चित्रण के लिए हाथ-पाव खुले रहते हैं। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' एक खण्डकाव्य है और ओज के दृष्टि-कोण से यह सफल है। परन्तु इतना पुराना विषय भी युगानुरूप होने के कारण ही लोक-प्रियता प्राप्त कर सका है, जबकि प० द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' उतना स्थान प्राप्त नहीं कर सका, हालांकि चित्रण की दृष्टि मे मिश्रजी का काव्य कहीं अधिक उत्कृष्ट है। यद्यपि लोकप्रियता ही काव्य के उत्कृष्ट और श्रेष्ठ होने का परिचायक नहीं है, तथापि यह निस्सदेह सत्य है कि कलाकृति अपने सृजन के युग मे अपने युग की अपेक्षा करती है और कालान्तर में वह उन्ही मानवीय मूल्यों और अनुभूतियों तथा चित्रण के बल पर जीवित रहती है, जिनसे वह अपने युग का सत्य प्रतिपादित करके भविष्य का मार्गप्रदर्शन करती है।

किन्तु गीतिकाव्य मे यह सरलता नही होती। पुराने मानदण्डो के अनुसार इसको यो रखा जा सकता है। भाव, विभाव, अनुभाव, सचारी, व्यभिचारी आदि की वर्णन-स्वतत्रता तथा गुजायश से प्रबन्धकाव्य मे तो रस की निष्पत्ति हो जाती है, परन्तु गीतिकाव्य मे एक गीत में एक ही भाव का वर्णन होता है, अत यहा उतने फैल फूटने का अवसर ही नही मिलता। पुराने आचार्यों ने गीत मे 'ध्वनि' को प्रमुख माना था। वह भी ऐकान्तिक है। गीत भाव पर ही आश्रित होता है, जिसका प्रवृत्ति से सबध है, जो मनुष्य-मात्र मे सहज और साधारण है, सामान्य है। वही गीत का हृदय से तादात्म्य कराती है, वही सुलभ बनाती है। पुराने और नये गीतिकाव्य मे बहुत बडा अन्तर है। पुराने मुक्तक राधाकृष्ण-सबधी, या प्रार्थनापरक रहे। जयदेव का गीतगोविंद, विद्यापति की पदावली, रीतिकाल के सवैये और कवित्त तथा सूर के पद, सब ही राधाकृष्ण के जीवन पर अवलबित थे। इसलिए एक भी पद या छन्द वास्तव मे स्वतन्त्र नही था। उसकी भावभूमि आश्रय से राधाकृष्ण की कथा के रूप मे पहले से विद्यमान थी। वह मुक्तक उस विद्यमान प्रबधवत् भूमि मे एक विशेष फूल बनकर खिल जाता था। अत-वह आज के मुक्तक से भिन्न था। दूसरी ओर सिद्धो, नाथो और कबीर के गीत हैं, जिनकी रसात्मकता का पूरा प्रचलित दार्शनिक चिंतन ही आधार था। अब वे प्रचलित हो गए। आज के गीत व्यक्ति-विवेचन-भूमि पर बने हैं और यदि वे सहज ग्राह्य नहीं होते, तो उनमे लोगो को रस नही मिलता, विशेषतया तब जब उनके लिए नयी दृष्टि से काम नही लिया जाता। मैं प्रयोगवादियों की बात नही कर रहा

# सत्य, शिव और सुन्दर

आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेंदु हरिश्चंद्र से माना जाता है। द्विवेदी-युग और उसके उपरांत छायावादी युग तक को आलोचकों ने अधिकांश अध्ययन से अपने मनन का विषय बनाया है। जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा छायावादी युग के प्रमुख और माने हुए कवि हैं। इनके उपरांत भी हिंदी मे बहुत कविता लिखी गई है, किंतु उस कविता का कोई सहानुभूतिपूर्ण विवेचन नही हो सका है।

[१] हिंदी मे आलोचक-वर्ग बहुधा अध्यापकों के वर्ग मे से आया है, और इसलिए उन्ही विषयों पर अधिकतर लिखा जाता रहा है, जोकि परीक्षा से संबंधित हो। काव्य तो दूर की बात है, हिंदी मे उपन्यास अधिक जनप्रिय हैं और उन उपन्यासों की प्रवृत्तियों तक पर निरपेक्ष दृष्टि से नही लिखा गया है।

[२] आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद पुराने आलोचकों ने अधिकांश केवल पिष्ट-पेषण किया है। उन्होंने दोष अधिक निकाले हैं, आलोचक का मूल कर्तव्य नही निभाया है। और वह मूल कर्तव्य यह है कि आलोचक पाठक और लेखक के बीच की कड़ी है। दुर्भाग्य से हमारी शिक्षण-व्यवस्था मे अध्यापकों के प्रभुत्व के कारण आलोचक होना लेखक को गिरा देने के पर्याय के रूप मे ही साहित्य मे प्रचलित हो गया है। आलोचक का असली कार्य लेखक के नवीन प्रयोगों, उसके अर्थों की महिमाओं को प्रकट करते हुए, उसकी कमियों को इस ढंग से दिखाना है कि लेखक और भी अच्छा लिख सके।

[३] उठते हुए आलोचक शीघ्र प्रसिद्ध हो जाने के लिए शाब्दिक चमत्कार दिखाकर विध्वंस मे जुट जाते हैं और नये कवि को फिर भी कोई आशाप्रद साथी नही मिलता जो व्यक्ति या संस्था के परे, समस्त साहित्य को दृष्टि मे रखकर, साहित्य की अभिवृद्धि के दृष्टिकोण से सहयोगी बन सके।

[४] वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन और यूरोप के विभिन्न वादों ने हिंदी के आलोचकों का ज्ञान नई दिशा मे बढ़ाया। पुराने आलोचक रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और अलंकार मे आलोचना समाप्त कर देते थे, उनके बाद आचार्य शुक्ल ने भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही दृष्टिकोणों को अपने सामने रखा। नये आलोचकों ने उसके

इकाई उसका व्यक्ति है, उसी प्रकार समाजवस्तु-काव्य की अनुभूति व्यक्ति में होती है। जिस प्रकार मनुष्य के लिए समाज और व्यक्ति अन्योन्याश्रित हैं, उसी प्रकार काव्य के लिए लोकपक्ष और व्यक्तिपक्ष अन्योन्याश्रित है। जिस प्रकार मनुष्य का मंगल व्यक्ति-परक नहीं है, उसी प्रकार काव्य का मंगल व्यक्तिपरक नहीं है। दोनों की अवस्था और आस्था सामूहिक जीवन के मूलाधार तथा आदान-प्रदानरूपी शब्द-व्यवस्था पर आधारित है। अतः काव्य के अंगों के रूप में ध्वनि, रीति, अलंकार और वक्रोक्ति मान्य हैं; परन्तु वे ही सब कुछ नहीं हैं। पुरानी परम्परा का सर्वश्रेष्ठ स्वीकार लेने पर प्रगति संकुचित नहीं रहती। वह जीवन की सर्वांगीण चेतना का विकास है। वह समाज-पक्ष में लोक-वैषम्य में प्रेम-भावना का पक्ष लेकर चलती है और अभिव्यक्ति में मनुष्य की कल्पना को समृद्ध बनाती है। सौन्दर्य सापेक्ष है अतः वह नयी अभिव्यंजनाओं को स्वीकार करता है। प्रेम, वासना आदि जीवन के प्रति अधिक सजीव अनुरक्ति पैदा करनेवाली अनुभूतियां काव्य का आवश्यक अंग हैं। वैराग्य की वह सीमा जो चेतना को व्यापक बनाकर, परानुभूति के प्रति उन्मुख बनाकर, केवल ऐंद्रियपरकता रोकती है, श्रेष्ठ है। यूरोप में आए हुए विभिन्न वाद निम्नमध्यवर्गीय गतिरोधों में पैदा हुए पलायन हैं। उनके प्रयोग शैली-अभिव्यक्ति तक मान्य हैं। प्रतीकों का सृजन काव्य के लिए आवश्यक है। केवल मजदूर-किसानों पर लिखी कविता, घिसी-पिटी नारेबाज़ी, राजनीतिक कार्यक्रमों की तुकबन्दी, और व्यक्ति-वैचित्र्य की अतिकुण्ठा कविता नहीं है। न उपादेयता के नाम पर उपदेशात्मकता श्रेय है, न आत्माभिव्यक्ति के लिए द्रविड प्राणायामी कल्पना। काव्य में तो 'कान्ता उपदेशवत् सरसता' होनी चाहिए।

भरतमुनि का रस-सिद्धान्त दास-प्रथावाले समाज के ह्रासकाल में जन्मा था। तब सामन्तवाद दासों को मुक्त करके भूमिबद्ध किसानों को पहले की तुलना में अधिक स्वतन्त्रता दे रहा था। तब यह स्वीकार किया गया कि काव्य केवल पुरोहितों के लिए नहीं, न देवताओं के लिए है। वह तो मनुष्य के लिए समान रूप में ग्राह्य है। तब साधारणीकरण के माध्यम से भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के योग से होनेवाली रस-निष्पत्ति का सिद्धांत बना जो समाज-पक्ष को स्वीकार करता था। ज्यों-ज्यों सामन्तीय समाज का प्रगति-तत्त्व घटा, वह शोषणकर्ता बना, उच्च वर्गों ने रस-सम्प्रदाय पर हमला किया और आज के प्रयोगवाद, तथा अन्य पलायनवादी वादों की भांति, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि, अलंकार आदि ने दरबारों में सिर उठाकर रसवाद को घटाना चाहा। परन्तु आगे बढ़ा हुआ इतिहास नहीं लौट सका। भरत के सिद्धांत-निर्माण के समय शोषण मिटा नहीं था, उसने रूप बदला था। अतः युगानुरूप बन्धन सिद्धांत पर आए। व्यक्ति-मात्र विवेचन का आधार बना और दरबारी नायक—धीरोदात्त की कल्पना हुई। समाज के ह्रास ने काव्य को दरबारों तक सीमित कर दिया। काव्य में वह जो कि मनुष्य-मात्र के लिए थी—'रति'

रस[1]-सम्प्रदाय का जन्म सामंत-काल के विकासशील युग में हुआ था, अतः दास-प्रथा के आगे होने के कारण उसमें समाज का कल्याण करने की शक्ति थी। परन्तु सामन्त-काल के गतिरोधों और उच्चवर्गीय प्रभुत्व ने काव्य को, रस के विरोध में ध्वनि, रीति आदि के जाल में, अभिजात्य बंधनों में बांधने की चेष्टा की, और यद्यपि वे समाज को उतना पीछे तो नहीं हटा सके कि 'रस' की प्रगति को झुठा दें, परन्तु उन्होंने काव्य के बाह्य परिवेष्टन अवश्य दुरूह बना दिए।

आधुनिक काल के यूरोपीयवाद मध्यवर्गीय टुटपूंजियों की वर्ग-व्यवस्था में से जन्म ले सके हैं। उनमें आधुनिकता का फैशन है, और वे मूलतः सामंतीय काव्यशास्त्र के आगे नहीं ले जाते, बल्कि यों कहना उचित होगा कि सामंतीय काव्यशास्त्र जहां अपने दायरों के भीतर पूर्ण है, वहां ये आधुनिकवाद उतने भी पूर्ण नहीं हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इन्हें 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' में रखा था, किन्तु ये तो उतने में ही समाप्त नहीं हो जाते। छद्म वेश में ये 'रस' का पल्ला पकड़ते हैं। और यह इनका सबसे बड़ा खोखलापन है, क्योंकि सौन्दर्य के अनिर्वचनीय निरपेक्ष आनन्द की उच्च भावभूमि को तभी रस-सम्प्रदाय में उच्चतर समझा गया है, जब उसमें साधारणीकरण का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है।

यौन प्रवृत्तियां जो 'हाल' से चली आती हैं और पूरे रीतिकाल में सामंतीय बन्धनों में रहीं, वे ही इन नये वादों में नये रूप लेकर उठ खड़ी हुई हैं।

इन समस्त अपरिपक्वताओं ने साहित्य पर घातक प्रहार किया है। यहां कवित्व को न देखकर, उसकी कविता को न देखकर, कविमात्र को ही देखा जाता रहा है। रहस्यवादियों द्वारा समादृत कविकुलगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ही अनजाने में 'अचलायतन' लिख गए थे, जहां उन्होंने जीवन के कठोर सत्यों का वर्णन करते हुए सशस्त्र विद्रोह न्यायोचित बताया था। शेक्सपियर दरबारी-युगीन कवि था, किन्तु उसकी रचनाओं में मध्यवर्ग की उठती चेतना का प्रतीक दिखाई देता है। ताल्सताय ईसाई अहिंसावादी था, परन्तु लेनिन ने उसे क्रांति का दर्पण कहा है। प्रेमचन्द अहिंसावादी था, वर्गवाद उसमें समन्वयवाद का स्थान लेता है, किन्तु उसने किसानों की चेतना को उठाया और राष्ट्रीय आंदोलन को आगे बढ़ाया।

आज भी कवियों की वाणी को देखने की सबसे बड़ी आवश्यकता है, न कि उनके बाह्यबन्धनों, गुटों, पार्टियों, आदि को ही देखकर उन्हें छोड़ दिया जाए। आगे आपको इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे, कि 'अरे, यह इसी व्यक्ति ने लिखा है!' ऐसे वाक्य तक आपके मुख से निकल जाएंगे।

[५] हमें एक ओर काव्य को वाद, व्यक्ति, देश, काल और वर्गभूमि के ऊपर उठ-

१ देखिए, 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड', ले० रांगेय राघव

साहित्य का स्रष्टा व्यक्ति होता है और व्यक्ति के महत्त्व को साहित्य में राजनीति की भांति झुठाया नहीं जा सकता। व्यक्ति राजा होने पर भी दरिद्र के दुःख से दुःखी होता है। और कला के क्षेत्र में, अर्थात् सत्य के क्षेत्र में, कलाकार लिखते समय, चाह कर भी, अपने को रोक नहीं सकता, उसकी कला बोलती है, और कला क्योंकि *सत्पुरुष-ग्राह्य है अतः उत्तम पुरुष का समस्त बन्धन भी भाव-माध्यम* को सकोच में बांध नहीं पाता। व्यक्ति मूल होता है, परन्तु काव्य का वृक्ष खड़ा होने पर, अपनी सत्य को परखने की तीक्ष्ण दृष्टि के सहारे से, अपनी डालें अपने-आप फैलाता है और जो फल उस वृक्ष में आते हैं, महान कलाकार निःसन्देह, उनके विषय में नहीं जानता। ऊपर दिए गए शेक्सपियर, और ताल्सताय के उदाहरण इसे स्पष्ट करने के लिए काफी हैं।

जिस प्रकार राजनीति में पार्टी के सदस्य अपने व्यक्तित्व को एक ध्येय में समर्पित करके सामूहिक नियोजन में कार्य करते हैं, उसी प्रकार लेखक नहीं कर सकता, क्योंकि लेखक की शैली, कल्पना, प्रतिभा, व्यक्तिगत वस्तु हैं, और वे सामूहिक नहीं हो सकतीं।

कवि-व्यक्तित्व जहां इन बातों में बंध नहीं सकता, वहां वह उच्छृंखल होने का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि व्यक्ति की यह समस्त स्वतन्त्रता सामूहिक जीवन के लिए है, और समूह के लिए ही कला एक माध्यम है जो जीवन को सुन्दर से सुन्दरतर बनाती है। यों दोनों एक-दूसरे पर आश्रित सत्य हैं।

लेनिन ने साहित्य के लिए पुकार उठाई थी कि *साहित्य को पार्टीजन साहित्य होना चाहिए*। लेनिन को विकृत करनेवाले लोग इसका यह अर्थ लगाते हैं कि वह पार्टी-नियमावली को ही साहित्य मानता था। यह बहुत बड़ा भ्रम है। लेनिन स्वयं गोर्की से कहता था कि ताल्सताय से लिखना सीखो, और वह मायकोवस्की से पुश्किन को ऊंचा स्थान देता था। लेनिन का अर्थ था कि 'कला कला के लिए' वाले काव्य को दुरूह बनाते हैं, उसे जनता के लिए खींचकर लाओ और स्वतन्त्र करो। रूस की तत्कालीन परिस्थिति में सशस्त्र क्रांति की भूमि तैयार थी और वह नारा भी ठीक था। किन्तु फिर रूस में बदलती परिस्थितियों में भी उस नारे को किनारे की नाव की तरह इस्तेमाल किया गया और इलिया एहरेनबर्ग ने अब लेखकों की समस्या उठाई है जिसमें उसने स्वीकार किया है कि क्रांति के बाद के रूस में अभी महान साहित्य का सृजन नहीं हो सका है।[1]

असलियत यह है कि रूस के काव्यशास्त्र में साधारणीकरण के सिद्धांत का ज्ञान नहीं था। लेनिन ने अपने युग के अनुरूप उसीको स्थापित करने की चेष्टा की थी। उसकी गत्यात्मकता को न समझ सकने के कारण बाद के लेखकों ने विषय के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया। भारत एक प्राचीन देश है और इसमें अधिक मत पैदा हुए, जिन्होंने काफी प्रव-

१ 'राइटर एण्ड हिज़ क्राफ्ट', इलिया एहरेनबर्ग

महादेवी वर्मा ने अपने छायावाद की व्याख्या करने की चेष्टा की है। परन्तु वह कोई महत्व की बात नहीं है। वस्तुत आधुनिक काव्य का नया ही काल-विभाजन आवश्यक है।

सामन्तीय ह्रासकाल में, १७४० ई० से १८५७ ई० तक हिन्दी में सब तरह काव्य का ह्रास हो रहा था। इस समय को अभी तक उत्तर रीतिकाल कहा जाता है, जबकि यह गलत है। इस समय जहां एक ओर दरबारी कविता लिखी जा रही थी, वहां पलटूदास, दयाबाई, सहजोबाई, दूलमदास, तुरसी साहेब इत्यादि अनेक कवि संतकाव्य की परम्परा को आगे बढ़ा रहे थे। आचार्य शुक्ल इसे नहीं देख सके थे। वे शेख निसार और नूरमुहम्मद जैसे सूफी कवियों के भीतर इस युग-विशेष में आए परिवर्तन को भी नहीं पकड़ सके, क्योंकि उन्होंने तो धाराएं पकड़ीं, यह नहीं देखा कि एक ही विचार का विभिन्न परिस्थितियों में कैसा विकास होता है। यही वह काल था जब हिन्दी का फारसी-गर्भित (उर्दू) काव्य दरबारों में फल-फूल रहा था। इस काल के बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग आया। वहीं से सब आधुनिक काल मानते हैं। किन्तु भारतेन्दु का युग केवल उन्मेष-काल था। उर्दू में दाग पुरातन परम्परा को लिए हुए थे, और हाली में पुनरुत्थान की भावना थी। वही हमें प्रकारान्तर से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, नाथूराम शंकर और श्रीधर पाठक में मिलती है। इसके बाद आया सुधार-युग। इस युग में हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त प्रमुख नेता थे। यों तो गुप्तजी अभी तक लिख रहे हैं और अच्छा भी लिखते हैं। परन्तु उनकी विषय-वस्तु अपना रूप नहीं बदल सकी है।

इस काल के बाद हिन्दी में नया मोड़ आया। चूंकि इसे अब छायावाद कहा जाने लगा है, सुविधा के लिए मैंने भी वही नाम प्रस्तुत किया है, किन्तु वस्तुत छायावाद-काल की जगह नाम होना चाहिए अभ्युदय-काल। इसी युग के ज्योतिस्तम्भ प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी हैं। महादेवी और प्रसाद ने तो आगे नहीं लिखा है। परन्तु पन्त और निराला अभी तक लिख रहे हैं। अभ्युदय-काल जिस अभिव्यंजना को लेकर चला था, उसकी चरमसीमा प्रसाद की 'कामायनी' में जाकर हुई। उस सीमा तक निराला, पन्त और महादेवी नहीं पहुंच सके। अवश्य ही पन्त और निराला ही हमारे आलोच्यकाल के युगप्रवर्तक कवि हैं। उन्होंने ग्राम्या और कुकुरमुत्ता आदि रचनाएं देकर आगे के मोड़ की ओर इंगित किया किन्तु उनका ही नाम गिनाना साहित्य के इतिहास के साथ अन्याय करना है। वे अपने को नये युग के लिए उपयुक्त नहीं बना सके। नयी बागडोर तो नये कवियों ने संभाली। आज की हिन्दी कविता निराला, पन्त में सीमित नहीं है। अवश्य ही यह सत्य है कि जिस क्षेत्र में एक विशेष ऊंचाई ये लोग पा चुके हैं, उतनी ऊंचाई नये कवि अपने क्षेत्र में नहीं पा सके हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि आज की कविता इन दोनों के अतिरिक्त भी अपना एक स्वरूप रखती है।

प्राय उनके सामने दीनहीन लगता है। विचारो से भेद का प्रश्न नही उठता, उनका तो लेखन ही ऐसे विचारो मे स्वय दरिद्र है। लेकिन जहा न रे कवियो ने अपनी मौलिकता दिखाई है, वहा उन्होने श्रेष्ठ काव्य लिखा है।

[६] हम 'वाद' का विरोध इसलिए करते हैं कि हमे आधुनिक काल का कोई भी कवि ऐसा नही मिला जिसने एक वाद मे बधी हुई कविता लिखी हो। वाद हैं, परन्तु कोई कवि एक ही वाद मे बद्ध कविता नहीं लिख सका है। अत वाद-भूमि पर विवेचन करने मे बहुत-से कवि परिधि के भीतर ही नही आते और हम वास्तविक मूल्याकन करने से वचित रह जाते हैं। हम वाद की कसौटी बनाकर उनपर कवियो को फिट नही करना है, वरन् पहले कवियो को देखना चाहिए, तब उनका वर्गीकरण करना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही यह अवैज्ञानिक परिपाटी डाली थी। वे ऐसा वर्गीकरण कर गए हैं कि घनानन्द और रसखान जैसे कवि भी फुटकर कवियो मे डाल दिए गए हैं। और किसी भी कवि को फुटकर कहते ही उसकी महत्ता अपने-आप कम हो जाती है।

इसीलिए आवश्यकता है एक व्यापक भूमि की। काव्य में 'वाद' की उतनी प्रमुखता नही होनी चाहिए, जितनी जीवन और उसके विभिन्न रूपो की।

यह सक्राति-काल है। इसमे सब कुछ बदल रहा है और नये-नये दृष्टिकोण उपस्थित हो रहे हैं। बहुत-से कवि जो पलायनवादी समझे जाते हैं उन्होने जीवन के बहुत सुदर यथार्थ चित्रण किए हैं। अभी तक नये कवियो की निष्पक्ष आलोचना नही हुई है। जाने-माने रूप से कुछ दल-से बन गए हैं और उन्ही-उन्हीं लोगो के दो-दो उद्धरण देकर नाम गिना दिए जाते हैं। और वस्तु-विषय या विचारधारा का साम्य ही उनके मूल्याकन का आधार होता है, जबकि काव्य केवल विषय-वस्तु पर निर्भर नही होता। उसके लिए अन्य अनेक सबलो की आवश्यकता होती है, जो किसी भी वर्ण्य विषय को काव्य की सज्ञा दे सके। आलोचको की यह प्रवृत्ति हिन्दी के लिए दुर्भाग्यपूर्ण है। खेद है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति सभी ऐसे आलोचक हैं, जो प्राय असफल कवि हैं और इसीलिए ये लोग यदि एक सहज आक्रोश मन ही मन रखें तो कोई ऐसा आश्चर्य भी नही है। मैं यह बात व्यक्ति-मूलक सधान पर आश्रित नही करता, वरन् यह तथ्य यह प्रकट करता है कि इनमे वर्तमान के प्रति जो आस्था है, उसमे अध्यापकी लहजा है और वह इनके गौरव के लिए स्तुत्य नही है।

मैं यहा विस्तार से इस विषय पर नही लिखूगा कि कविता क्या है?[1] यहा इतना कह देना काफी है कि काव्य जीवन की सर्वांगीण स्थिति का चित्रण करनेवाली अनुभूतियो और भावो का वर्णन है। वह अपने युगानुरूप समाज की परिस्थितियो मे जन्म लेता है, पलता है और अगले युग का निर्माण करता है। व्यक्ति की वे अनुभूतिया जो केवल उसी

१ विस्तार के लिए देखिए, 'काव्य-कला और शास्त्र', लेखक रागेय राघव

उसे देखना बहुत आवश्यक है।

अभिव्यक्ति के माध्यम के कोण का बदल जाना यह प्रकट नहीं करता कि उससे 'ध्येय' बदल जाता है, परन्तु काव्य के इतिहास के बदलते रूपों में उसका अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। गुप्तजी और पंत, निराला आदि पर हिन्दी में तो भी कुछ लिखा जा चुका है। उनके बाद के युगों का अध्ययन तो बहुत ही अनर्थपूर्ण हुआ है, क्योंकि आलोचकों ने आचार्य शुक्ल की सरल अध्यापकीय प्रवृत्ति अपनाकर वाद-भूमि पर काव्य का खंडित अध्ययन किया है और नये स्वरों को पूर्णतया नहीं देखा है।

यहां हम उसीका अध्ययन करेंगे।

[२६] आगे बढ़ने से पहले मैं यहां एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूं। किसी भी युग का कवि अपने सामने एक ध्येय रखता है। इससे उसके भीतर एक अपना सत्य जन्म लेता है। यह युग और व्यक्ति का परम्पराश्रित सत्य होता है। इसमें व्यक्ति की लघुता और महत्ता, दोनों हो रहती हैं। इसीके साथ एक सत्य युग-युग का होता है। वह युग-युग का सत्य क्या है? यह 'कला कला के लिए' नहीं है। वह किसी समाज-निरपेक्षिता में नहीं है, वह है मानव के कल्याण का सत्य। एक समय था जब राजाओं के वैभव का यशोगान, उनकी वीरता की स्तुति कवि का युग-सत्य था। एक और समय आया जब देवता की स्तुति उसका ध्येय बनी। एक बार और उसने परमात्म की धुन छेड़ी। एक बार और ही रूप बदला और वह स्त्री के सौन्दर्य में डूब गया। युग और देश के विशेष बंधनों में मनुष्य ने विभिन्न सत्यों का साक्षात्कार किया। किन्तु हम अब प्रत्येक रचना का मूल्यांकन उस युग की सीमा और उस युग की परिधि के भीतर नहीं करते। हम काव्य की विरासत को सौन्दर्य के विकास के रूप में लेते हैं। आचार्य शुक्ल ने वीरकाव्य को तो इसी दृष्टि से देखा। किन्तु रीतिकाव्य की सुन्दरता को वे मानववाद की व्यापक भूमि पर कसने की बजाय, रीतिकाव्य की सीमाओं के भीतर ही खोजते रहे। यह उनकी अध्यापकीय मनोवृत्ति थी।

युग के परिवर्तन ने हिन्दी-काव्य को नये रूप दिए। भारतेन्दु में पुरातन और नवीन का मिलन हुआ और फिर हम नवीनता की ओर अधिक खिंच चले। हिन्दी के आलोचकों ने इन समस्त युगों को प्रायः ही मानववाद की भावभूमि पर देखने की चेष्टा की। परन्तु वे पूर्ण न्याय नहीं कर सके, क्योंकि उन्होंने 'छायावाद' शब्द को पकड़ा, उसके 'अभ्युदय' को नहीं लिया। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी भारतीय संस्कृति में एक नये अभ्युदय हैं। यह सत्य किसी आलोचक ने स्वीकार नहीं किया। जिसे अंग्रेजी में रिनेसां कहते हैं, वह इन्हींका लाया हुआ है। इन्हीं लोगों ने कवि के सत्य को युग के सत्य से एकाकार करने के भीम प्रयत्न में सफलता पाई और इसीलिए इन्होंने महाकवि होने का भी गौरव पाया। फिर भी इनमें एक कमी रह गई कि ये कवि जनता तक नहीं

का 'उर्मिला', प्रभात की 'ऋतवरा' इसी ऊचाई की ओर को सकेत है। आज के युग मे कवि अभी एक पूर्ण जीवन-स्वप्न नही खोज पाए हैं, तभी वे ऊची चोटी तक पहुच नहीं पाए हैं। कौन पहुचेगा यह अभी नही कहा जा सकता। एक नीम-आलोचक ने इसे बौनो का युग कहा था। मैं इसे कुल्मा कहता हू। कहनेवाला स्वय बौना है। बौनो के हाथ निरतर आगे और ऊपर उठते हुए नही दिखाई देते। हमारे यहा यदि व्यक्ति रूप से अभी पूर्ण उपलब्धि नहीं भी हुई तो भी क्या डर है। जहा तक युग का प्रश्न है, जितना सत्काव्य इस युग मे जन्मा है, उतना पुराने युगो मे नही मिलता। और फिर कवि निरतर बढ रहे हैं। हमे यह नही भूलना चाहिए कि तुलसी ने साठ वर्ष की उम्र मे 'मानस' लिखा था और अस्सी वर्ष की आयु मे गेटे 'फॉस्ट' की रचना कर सका था। नयी कविता व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो का गहरा विश्लेषण ही नही है, वह व्यक्तित्व के विकास की भी ज्वलत कहानी है। अभी उससे आशाए हैं और वे अवश्य ही फलवती होगी। प्रगति, प्रयोग इत्यादि को हम सहज ही ध्वनि, वक्रोक्ति इत्यादि के नये रूपातर कह सकते हैं। हम किसी भी कवि की रचना देखते हैं तो वह अपने 'कथ्य' के अनुरूप नही उतरता।

नहीं थी, वरन् भारत परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। यह परतन्त्रता केवल राजनीतिक ही नहीं थी, इसके साथ एक सामंतीय जर्जर व्यवस्था भी थी जो सम्पूर्ण रूप से भारत की असंख्य-असंख्य जनता में फैली हुई थी, क्योंकि अंग्रेजों ने मध्यवर्गीय उत्थान तथा मशीनों के साथ-साथ भारत में पदार्पण करने पर भी यहां का सामंतीय जीवन सुरक्षित छोड़ दिया था। परिस्थिति के इस भेद ने वही दुरूहता पैदा की जो छायावाद में प्रकट हुई। रोमांसवाद इंगलैंड में जनप्रिय हुआ क्योंकि उसमें तथ्यों में नवीनता का विकास अधिक था, शेली, कीट्स, बायरन आदि जनता में पहुंचे हुए कवि बने, जबकि प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी आदि अपनी अभिजात व्यंजना के कारण पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रह सके। इनमें शेली, बायरन जैसा समाज-पक्ष नहीं रह सका तथा न पुश्किन जैसी जनप्रियता ही इन्हें मिल सकी, जो स्वयं स्वतन्त्रता का हामी था और जिसने रूसी क्रांति की नींव डालनेवालों में अपना स्थान बनाया था।

हिन्दी का रोमान्सवाद अपनी भिन्न परिस्थितियों में बदला हुआ था। छायावाद के रूप में प्रतिफलित यह धारा अपने उद्दाम वेग से बही। इसने जो अपनी व्यंजना से लोगों को चमत्कृत किया, पुराने लोगों ने इसका घोर विरोध किया, परन्तु नये मध्यवर्गीय तरुणों ने इसका मुक्त कण्ठ से स्वागत भी किया। धीरे-धीरे हिंदी में व्यंजनात्मकता-भरी इस शैली को इतना प्राधान्य मिल गया कि इसीकी छाया आज भी पीछा नहीं छोड़ सकी है। प्रयोगवाद इसीको पकड़ने की चेष्टा में है, किन्तु क्योंकि प्रयोगवाद में छायावाद का समाज-पक्ष नहीं है, वह केवल व्यक्ति-पक्ष को लेकर खड़ा होना चाहता है। प्रयोगवाद की दुरूहता शैली में ही समाप्त नहीं हो जाती, वह भाव की भी अभिव्यक्ति को पकड़ती है और रोमांसवाद का अल्हड़पन उसमें अपने नवीनतम रूप में आता है, जो मूलतः यौनवाद है। यौनवाद, मांसलवाद, आदि हिंदी में बहुत गिने-माने जाते रहे हैं। यौनवाद और प्रकृतवाद में भेद है। अतियथार्थवाद उसका थोड़ा-सा भिन्न रूप है और इन सबने अपना सन्निवेश प्रयोग में पाया है। फ्रायड का चिन्तन जिसने यौनवाद की पृष्ठभूमि खड़ी की है, वह भी काफी हद तक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य या व्यक्ति-भिन्नत्व के रूप में अपने-आपको इसमें बनाए रखने की चेष्टा करता रहा है। यहां हम इनका विवेचन आवश्यक समझते हैं।

[१] यूरोप में फ्रायड के सिद्धांतों का गहरा प्रभाव पड़ा। फ्रायड के विषय में हिन्दी में लिखा जा चुका है और फ्रायड का बहुत बड़ा प्रभाव बताया गया है। फ्रायड के अनुसार मनुष्य के जो उपचेतन मस्तिष्क होता है उसमें यौन सम्बन्धी भावनाएं समाज के वर्जनशील नियमों के कारण समा जाती हैं और वह यौन विकृतियां अपने को विभिन्न रूपों में प्रकट करती रहती हैं। फ्रायड की बहुत-सी बातों को यद्यपि एडलर और जुंग ने ठीक करने की चेष्टा की, किन्तु उन सबका मूलाधार यौन विकृति ही रहा और वे सब

ज्योति-सी उर से निकल ओ' ज्योति-सी उर से प्रकृति के
मिल अचानक,क्षण चकित कर लीन होती किस गगन में ?
आज मेरे प्राण पर ओ प्राण! डालो स्निग्ध छाया
अमद उस सौन्दर्य-राशि की अयक अपार अगाध माया
आज मेरे प्राण उमड़े मानते ना स्थूल बन्धन
ज्योति में निज को मिटाकर हो मिलेंगे क्या छिपे कन ?

—राजेन

संवेदना का जागरण होता है प्रकृति के आवाहन मे। मनुष्य उसे प्राप्त कर लेना चाहता है, किन्तु उसे फिर भी यही लगता है कि वस्तु को वह पूरी तरह से ग्रहण नही कर सका है, उसमें एक आकुलता बची ही रह जाती है, उसके भीतर भी एक ज्योति है, जो समग्र की ज्योति से मिल जाती है, किन्तु वह अततोगत्वा कहा जाकर लीन हो जाती है, यह वह नही जान पाता। तभी वह चाहता है कि सौंदर्य का अवाक् कर देनेवाला, मन मे एक आशका उत्पन्न कर देनेवाला, विस्मय से विमूढ कर देनेवाला मायावी स्वरूप किसी प्रकार उसके सामने प्रकट हो जाए। उसकी चेतना स्थूल के बन्धन मे ही सीमित नही रह जाना चाहती। वह तो ज्योति बनना चाहता है। किन्तु फिर भी वह सदेह से सोचता है कि जब ज्योति मे ज्योति मिल जाएगी तब फिर छिपा हुआ गोपन रूप रह ही क्या जाएगा ? क्या गोपन की खोज मे अपने को मिटा ही देना होगा ?

'सावन मेघ' के रूप मे कवि इसी प्रश्न को स्थूल दृष्टिकोण से देखता है और मानवी सौन्दर्य के प्रति उसकी दृष्टि अधिक दिखाई देती है। वह अपनी वासना मे ही प्रकृति को आकता है

घिर गया नभ, उमड आए मेघ काले
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर छा गया इन्द्र का नील वक्ष—
वज्र-सा, यदि तडित से झुलसा हुआ-सा।
आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड आई है लहू की धार

—अज्ञेय

उन्माद की भाति, तन्मयता की वासना भी तीव्र होती है

मैं हरित वन की बासुरी हू। श्याम के मधुमय अधर की वारुणी पीकर बावरी हो चुकी हू। साधना मे स्वर्ण-सा गलकर, वेदना की अग्नि मे जलकर प्रेम की लोहित शलाका से कोमल मर्म मे छिद्र कर मैं मृत्यु मे जीवन छिपाकर नागरी बन गई हू। मेरे नाभिसर मे अमरता की माधुरी है।

कवि ऐसा नहीं है, जो इन्हीं वादों में अन्तर्निहित हो जाए। अतः हिन्दी में प्रचलित इन मान्यताओं का विश्लेषण करते समय हम यदि कुछ कवियों के यहाँ उद्धरण देते हैं, तो उन्हींके उद्धरण हम आगे किसी दूसरे वाद के अन्तर्गत भी दे सकते हैं।

[१०] प्रयोगवाद का एक अलंकार 'प्रतीकवाद' है, जो कुछ समय पहले बहुतायत से प्रयुक्त किया जाता था। हिन्दी में प्रतीकवाद छायावाद की शैली में ही समाविष्ट है, जहाँ प्रतीकों के प्रयोग से अर्थ समझाने की चेष्टा हुई है। अतः उसे बिलकुल स्वतन्त्ररूप से अलग मानना कदापि उचित नहीं है। रूस में मायकोवस्की के प्रारम्भिक काव्य-काल में साम्राज्यवादी संस्कृति के विरुद्ध जो 'भविष्यवाद' नाम से व्यक्तिपरक विद्रोह उठा था, वह प्रतीकों का अधिकांश प्रयोग किया करता था। हिन्दी में भविष्यवाद का कोई स्पष्ट प्रभाव दिखाई नहीं देता, किंतु प्रतीकों का काफी असर पड़ा है और नये-नये प्रतीक बनाए गए हैं और बनते जा रहे हैं। प्रतीक अपने अलंकार के रूप में काव्य का गुण है, किन्तु वह स्वयं काव्य नहीं है, क्योंकि वह एक मूर्त की छाया बनकर सांकेतिक योजना बनकर ही रह जाता है, उसमें भाव को जागरित करने की शक्ति नहीं होती। वह भावानुभूति की तीव्रता को स्पष्ट करने में अवश्य लाभकारी सिद्ध हो सकता है। प्रतीक काव्य में इसीलिए सदैव ही बनते रहेंगे। वास्तव में प्रतीक बाह्याकार है जो युगानुरूप परिस्थितियों से प्रभावित होकर देश-काल के अनुरूप सदैव बदलता रहेगा। उसे काव्य का जीवन-स्रोत नहीं समझा जा सकता। प्रयोगवाद प्रतीक पर सबसे अधिक निर्भर है, क्योंकि प्रतीक की नवीनता ही प्रयोग की व्यंजना की एकमात्र आत्मा है, उसीमें चमत्कार उत्पन्न करने की बहुत शक्ति हो सकती है।

[११] सार्त्र का अस्तित्ववाद हिन्दी में अपना सीधा प्रभाव नहीं डाल सका है। व्यक्ति जीवित रहना चाहता है और किसी प्रकार अपना अस्तित्व-मात्र बनाए रहना चाहता है—यही इस समस्त वाद का मूल है। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति अपने को समाज की घोर बीभत्सता में पिसा हुआ सोचता है। उसे न केवल अपने चारों ओर दैन्य और निराशा दिखाई देती है, वरन् वह स्वयं उसके विरुद्ध होने की कल्पना कर लेता है। इस दृष्टि से व्यक्ति अपने को निस्सहाय समझता है और समाज में अर्थ के घात-प्रतिघात को भाग्यवाद की दुर्दमनीय प्रणाली-मात्र समझने लगता है। उसकी सत्ता अपने चारों ओर परिधि खींच लेती है और एक का अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व से सामरस्य नहीं ढूंढता, वरन् वह दायरों में बंध जाता है और उसे यह प्रतीत होता है कि यह संसार वास्तव में उसको मिटा देने में लगा हुआ है।

अस्तित्ववाद की स्थापना यूरोपीय प्रथम महायुद्ध के बाद की निराशा में हुई जब पूंजीवादी संस्कृति की विभीषिका में व्यक्ति को लगने लगा कि वह हर ओर से असुरक्षित है। साम्यवाद अस्तित्ववाद के दृष्टिकोण से सर्वहारा का बर्बर और निरंकुश अधिनाय-

पलकें रोटी बुनें, उन्हें ऐसी फिरकनी बना जा री !
निंदिया री तू आजा री !

—राजनारायण बिसारिया

यहाँ कवि प्रकृति को मानवीय वातावरण में भी उतार लाता है। लोरी प्रायः ही पलायन के सौन्दर्य को अंकित करती है। लोक-गीतों में यद्यपि लोक जीवन प्रतिबिंबित होता है, जैसे दक्षिण भारत की कन्नड की एक लोरी है—अरे ! देखो ! नारियल का व्यापारी आ गया ! वह नीले समुद्र के किनारे से अपना जहाज लाता है इत्यादि। किंतु इस प्रकार के गीतों में भी एक स्वप्निल छाया-सी व्याप्त रहती है। मजदूरिन की मानसिक भूमि इतनी व्यापक नहीं है। उसने अपने जीवन के संघर्ष को भी इस सौन्दर्य-चेतना में एकरस कर दिया है। पलकों के रोटी बुनने की कल्पना वास्तव में अनूठी है। ऐसे चित्र मूलतः प्रकृति की परिकल्पना में लिये जाते हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध अपने लौकिक जीवन से जोड़कर उन्हें भावपक्ष के अधिक समीप बनाया जाता है। इससे पहले अमूर्त में मूर्त को प्रस्तुत किया गया था, और इसमें उसकी उल्टी बात दिखाई देती है।

प्रकृति के वे चित्र जो उसे मानवीय रूप में प्रस्तुत करते हैं, वे अभिव्यंजना के क्षेत्र में अपनी रंगीनी को अधिक प्रसार देते हैं। इसीके साथ जब किसी मत-विशेष को भी कलात्मक रंग देकर रखा जाता है, तो मत से अधिक हम चित्र में ही उलझते हैं :

क्षितिज-तीर से आ रही है उतरती
बढ़ाती सुनहरे चरण
कलश शीश पर स्वर्ण का ले सकुचती
पहनकर सिंदूरी वसन
सितारे गगन के छिपे दूर जाकर कहीं
गये सो निशा के मधुर स्वप्न जाकर कहीं
नहीं शेष पथ पर रही अब तिमिर की घटा
थिरकने लगी पूर्व में एक स्वर्णिम छटा
अरे यह उषा का नवल आगमन है
कि जो ला रहा जागरण
अमर पर्व है आज नववदना का अरे
सभी के हृदय हर्ष की भावना से भरे
न जायें पुष्प देश की अर्चना के
कहाँ ये सलोने सुमन
उठा राष्ट्र का ध्वज, बढ़ा पांव दो सब
खड़ा द्वार खोले विजन

था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य की इस धारा को नहीं देख सके थे।

[१३] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय जब समाज में परिवर्तन हुए तो वे काव्य को इन अभिव्यक्तियों के समीप लाने में लगे। उनकी राय में काव्य का सहज होना अत्यन्त आवश्यक था। परन्तु द्विवेदी-काल में कविता को तनिक उठाया गया और अभिधा-प्रधान होते हुए भी यह काव्य उतना सरस नहीं था जितना भारतेन्दु-कालीन काव्य था। रीतिकाल की शृंगारपरकता कम की गई और उपादेयतावाद ने स्थान लिया। इसका कारण दयानन्द के आन्दोलन का प्रभाव था, और राष्ट्रीय संग्राम की भी उसपर छाया पड़ी थी।

किन्तु मध्यवर्ग उतने ही से संतुष्ट नहीं था। छायावाद अर्थात् अभिजात शैली का उदय हुआ, जिसने काव्य को यद्यपि मुक्त तो किया किन्तु इसकी उड़ान साधारण जनता में काफी दूर हो गई। व्यञ्जना-प्रधान इस शैली ने भारतेन्दु तथा द्विवेदी-कालीन कविता को उतनी ऊंची कोटि का नहीं माना, जितनी अपनी कविता को। आज भी बहुत-से आलोचक यही मानते हैं कि छायावाद ने भाषा को जो मजाहद दी है, उसको छोड़ने में कविता का मेयार गिर जाता है। आधुनिक कविता को जनप्रिय होने से रोकनेवाला यह सबसे बड़ा कारण है। प्रयोगवादी काव्य ऐसा ही एक प्रयत्न है जो काव्य को उसी ऊंची अभिजात शैली का ध्वंसावशेष बनाकर रखना चाहता है।

मैकॉले ने कहा था कि ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता है, कविता का ह्रास होता है। मैकॉले अपनी जगह ठीक था क्योंकि सभ्यता से उसका तात्पर्य पूंजीवादी संस्कृति के विकास से था। पूंजीवादी संस्कृति धन को मनुष्य के ऊपर स्थापित करती जा रही थी, व्यक्ति समाज के द्वन्द्व में आ गया था, और मशीनों का महत्त्व तथा प्रभुत्व धीरे-धीरे प्रकृति के साहचर्य को दूर कर रहा था, और हृदय-पक्ष पर हृदयहीन शोषण सवार होता जा रहा था। सामंतीय जीवन में प्रजा और राजा का सीधा सम्बन्ध था और भाग्यवाद उस समाज की रीढ़ था। पूंजीवाद ने भाग्यवाद के दु:ख भोगनेवाले भाग को तो जीवित रखा, किन्तु अब शोषण के रूप बदल गए और शोषक और शोषित का व्यक्तिपक्ष में भी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। यह याद रखने की बात है कि काव्य का जन्म सामूहिक जीवन के उत्पादन-वितरण के सामूहिक रूप में हुआ था, और व्यक्ति के समाज में एकांतिक होते जाने के साथ, काव्य का भी ह्रास होता गया। अतएव काव्य की जीवत शक्ति, भावानुभूति का सामरस्य ही जब नष्ट होने लगा तब काव्य का दुरूह हो जाना नितान्त ही स्वाभाविक हो गया। इसके विरुद्ध दूसरी ओर सोवियत काव्य का जन्म हुआ, परन्तु वह अधिकांश नीतिपरक रहा और उसने अधिकांश जीवन की वीरता, करुणा आदि को ही छुआ, जिसके कारण जीवन का सांगोपांग रूप समाज को नहीं मिला। इन दो दूरियों ने एक खाई पैदा की। सोवियत रूस ने क्रांति की और वहां छलांग लगाई गई

छापेखाने के प्रयोग ने कवि को जनता से अलग किया। और लिखने, छपवाने की प्रवृत्ति ने काव्य को जनता के प्रति नये युग मे सीधा उत्तरदायित्व नही दिया। रीतिकाल की समस्त मुक्तक कविता वास्तव मे राधाकृष्ण की प्रचलित कथा पर आधारित है, इसलिए उसे भी समझने मे जनता को, जो भी उसके निकट आ सकी, उतना कष्ट नहीं हुआ, जितना नई कविता को समझने मे होता है, क्योंकि अबकी बार के मुक्तक काव्य ने जनता मे प्रचलित किसी आधार को नही लिया है। नये मुक्तक के उपमान, तथ्य आदि सब ही नये हैं, और उनकी पृष्ठभूमि अभी तक बन नहीं सकी है। प्रयोगवाद में तो यह शैली तथा भावगत दुरूहता है और प्रगतिवादी काव्य की अड़चन दूसरी है। वह अभी नये समाज की नई नीति की स्थापना कर रहा है। अभी उस नये समाज की कल्पना पूरी तरह से जनता मे उतर नहीं पाई है, क्योंकि व्यक्तिवादी ढग से प्रचलित आधुनिक प्रगतिवादी कविता ने मध्यवर्गीय शैली मे विकास किया है, उसने जनता मे प्रचलित काव्य-माध्यमो से अपना नाता नहीं जोड़ा है और जनता तभी काव्य को मानती है, जब उसका अपना जीवन उसमे प्रतिबिम्बित होता है।

प्रयोग के विषय मे जो हमने बताया था कि उसने अपनी ही परम्परा मे मौजूद स्थलो मे आश्रय बनाया था उसमे एक यह ही है जिसने काव्य को बढने से रोका है।

[१४] इनके अतिरिक्त प्रयोगवाद के आश्रयस्थल रहस्यवाद और पलायनवाद हैं, जो अभी तक हिन्दी काव्य मे बचे हुए हैं। इनका प्रभाव भारत मे दो कारणो से है, एक तो दर्शन की परम्परा और दूसरी योग-मार्गों की परम्परा। दर्शन का प्रश्न भारत मे बहुत पुराना है और शताब्दियो मे उसका प्रभाव जनता तक गहरा उतर गया है, जिसका कारण है यहा के जीवन की प्राय एकरसता। खेतिहर प्रणाली इसका मूलाधार है। वह भाग्यवाद को जन्म देती है क्योंकि परिस्थितिया आकाश के बादलो पर निर्भर होती हैं। जल नहीं बरसा, अकाल पड गया। बरस गया, खेती हो गई। सृष्टि की प्राकृतिक क्रियाओ के ऊपर निर्भरता, मनुष्य को लघुता की ओर प्रेरित करती है और फिर वह सृष्टि के रहस्यो को जान लेने की चेष्टा करता है और यही रहस्यवाद का मूल उद्गम है, क्योंकि जानने मे लगा हुआ व्यक्ति जब असली लक्ष्य की व्याख्या नही कर पाता, तब अज्ञात को अव्यक्त-रूप मे अनुभव करने का प्रयत्न करता है। यही रहस्यवादी भावना जब समाज मे पुरोहित-वर्ग के रूढिवाद के विरुद्ध उठ खडी हुई थी, तब उसने लघुता मे महानता की ओर प्रेरित किया था, किन्तु उसके बावजूद अपनी वस्तुस्थिति मे वह अभावात्मक ही रहा। योग-मार्ग की परम्परा जब रहस्यात्मक जीवन को साधनापरक पद्धति से खोजने का यत्न करती है तब वह व्यक्तिमूलक हो जाती है। मध्यकालीन साहित्य तक हम कह सकते हैं कि अततोगत्वा इन्हीं के रूप काव्य मे प्रतिबिम्बित हुए थे, किन्तु आधुनिक काल मे छायावाद ने जिस रहस्य की छाया देखी, वह यद्यपि पुरानी धारा का ही प्रतिफलन था, किंतु

ही केन्द्र से उदय होती हैं। अत यह वैविध्य हमारी जागरूकता का प्रमाण है।

शरद के वर्णन मे ऐसी विविधता के दर्शन हमे मिलते हैं। नदी सिमट गई, तो उसमे चमक आ गई, क्योंकि विस्तार की भावना निखार नही लाती

सिमट गई फिर नदी, सिमटने में चमक आयी
गगन में, वदन में फिर नयी एक दमक आयी
दीप कोजागरी बाले कि फिर आवें वियोगी सब
ढोलकों से उछाह और उमग की गमक आयी।
बादलों के चुम्बनों से खिल अघानी हरियाली
शरद की धूप में न्हा-निखरकर हो गई है मतवाली
भुण्ड कीरों के अनेकों फबतियाँ कसते मँडराते
झर रही है प्रान्तर में चुपचाप लजीली शेफाली।

×

साँझ, सूने नील में,
डोले है कोजागरी का दिया।
हार का प्रतीक—'दिया सो दिया,
भुला दिया जो किया।'
किन्तु—शारद चाँदनी का साक्ष्य—
यह सकेत जय का है—
प्यार जो किया सो जिया,
धधक रहा है हिया, पिया।

—अज्ञेय

कही पास ही है, शायद नगले मे ढोलकों की आवाज आ रही है। अघानी हरियाली बादलों के चुम्बन से खिल गई है। हरियाली का खिलना एक बडा सार्थक प्रयोग है, जिसमे उसकी चमक और ताजगी प्रतिबिम्बित होते हैं। 'दिया सो दिया, भुला दिया जो किया', लोकगीतों की-सी सहज कोमलता लिए हुए है। और कवि को शरद की चादनी एक जय का सकेत जैसी दिखाई देती है। किन्तु तृष्णा भी तो है, सो हृदय मे प्यार करके अभिमान भी है, और जलन भी। प्रकृति के मन से ऐसे हो तो तारतम्य हैं। जब वह व्यक्ति-पक्ष शान्त है तब फिर लोकरजन ही सामने रहता है

दूर-दूर कनक-धूलि,
खुरों से उड़ाती हुई,
आती है साँझ कजरी,
गाय-सी रँभाती हुई।

है। मार्क्सवाद ने इस दृष्टिकोण को तोड़ा और 'नया 'मानववाद' प्रस्तुत किया जिसमे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सच्ची व्याख्या थी। किन्तु दुर्भाग्य से वह प्रतिष्ठापना ऐसी नही हो सकी कि जनसघर्षो मे से अपना विकास करती, वह बौद्धिक रही, और उसने समस्त पुरानी परम्परा को आत्मसात् करके छोड़ने के स्थान पर, उसपर एकदम प्रहार किया और सबको चौंका दिया और वह अपना अलग रास्ता बनाने लगी। इसका कारण था सकीर्णतावाद जिसने सामाजिक विवेचन करते समय रूढिवाद का पल्ला पकडा। मार्क्स ने जिन परिणामो को यूरोप के इतिहास का अध्ययन करके निकाला था उन्हे भारतीय परिस्थिति पर लागू किया गया, जबकि मार्क्स के परिणामो को नही उसके सिद्धान्तो को भारतीय परिस्थिति पर लागू करने की आवश्यकता थी, उसके लिए इस देश के इतिहास, सस्कृति और परिस्थिति को अपने अध्ययन का विषय बनाने की आवश्यकता थी। इस प्रकार यथार्थ के नाम पर सकुचित राजनीतिक दृष्टि-भर रखी गई और जीवन के अन्य क्षेत्रो को छोड दिया गया, जबकि मार्क्सवाद केवल राजनीति नही है, वह जीवन के मूल्यो का नया निर्धारण है जो व्यक्ति, समाज और सस्कृति के मूल प्रश्नो को उठाता है और उनमे द्वन्द्व नही समन्वय स्थापित करना चाहता है, जो मानव-मानव के पारस्परिक द्वन्द्व को मिटाकर द्वन्द्व को मानव और प्रकृति के बीच मे पैदा करने की योजना बनाता है, और प्रकृति और मानव का द्वन्द्व वह ऐसे पैदा करता है कि मानव 'अप्राकृतिक' नही हो जाए, वरन् प्रकृति को अधिक से अधिक अपने लाभ के लिए प्रयुक्त कर सके, क्योकि मानव अततोगत्वा प्रकृति का एक भाग ही है, और वह प्रकृति का प्रयोग कर सकता है, उसको बदल नही सकता। 'रहस्य' और 'शाश्वत' का वह कोई परम्परागत समाधान नही करता।

[१६] द्विवेदीयुगीन काव्य की उपादेयतावादी चितना के विरुद्ध छायावाद ने अपना सफल स्थान बनाया, किन्तु शीघ्र ही लोग उससे ऊब उठे क्योकि युग की माग आगे बढने की चेष्टा कर रही थी। इस आगे बढने की चेष्टा को मध्यवर्गीय कला ने ईमानदारी से देखा और बौद्धिक दृष्टिकोण ने 'ग्राम्या', 'युगवाणी' का सिरजन किया, जिसमे 'होना चाहिए' की पद्धति अपनाई गई और इसीलिए कवि ने उस काव्य को 'गद्य-गीत' कहा। प्रगतिशील काव्य की यह बुनियाद बुद्धिवादी रही। बजाय जन-जीवन मे उतरने के, दूर से उसपर विवेचन किया गया और प्रगतिशील कवियो मे यही परम्परा चल पडी।

दूसरी ओर छायावादी परम्परा तरुण कवियो द्वारा तोडी गई। हालावाद व्यक्ति की मस्ती का प्रतीक बनकर आया, जिसने समाज की रूढियो पर प्रहार किया। अराजकतावाद, सघर्षवाद, अतिक्रातिवाद और विद्रोहवाद फूट निकला, जो पुराने को पसन्द नही करता था, जिसकी भुजाए फडकती थी, जो प्रचलित पलायनवाद और निराशावाद को उखाड फेंकना चाहता था, परन्तु व्यक्ति का आक्रोश उसकी शक्ति थी, उसका कोई सामाजिक आधार नही था। यह आवाज साम्राज्यवाद के भी विरुद्ध थी। इसने पुरानी

वहां व्यापकता की जगह हमें समाज की तीखी गन्ध हर श्वास में मिलती है

> है रँभा रही बछड़े से बिछुड़ी एक गाय,
> थन भारी हैं, दुखते भी हैं !
> आता गजनेरी सांड भटकता सड़कों पर, चलता मठार,
> क्या वही दर्द उसके भी है ?
> जा रही किसी घर के जूठे बरतन मलकर
> बदचलन कहारी थकी हुई,
> चौका-बासन, सैना-बैनों में बिता चुकी यौवन के दिन
> काटनी उसे पर उमर अभी तो पकी हुई !
> बज रहे कहीं ढप-ढोल-झांझ, पर बहुत दूर
> गा रही सब मदमस्त मजूरों की टोली
> कल काम-धाम करना सबको पर नींद कहाँ—
> है एक वर्ष में एक बार आती होली !
> इस भोग-स्वाद से दूर, बन्द कमरे में, चिन्ता में डूबा
> दार्शनिक एकरस एकाकी
> है सोच रहा यह जीवन क्या,
> मैं क्या, मेरी यह आत्मा क्या ?
> सब कुछ खोजा, उत्तर न मिला,
> कुछ भी न बचा मथकर बाकी !
> यह दूर और संसार दूर, सब विशृङ्खल, सब छाया-छल,
> हैं बिछुड़ परस्पर सुबक रहीं दोनों निर्धन आत्मा-काया !
> रोए शृगाल, बोला उल्लू, हिल गई डाल, चौंका कुत्ता
> जो भूँक उठा अब देख स्वयं अपनी छाया।
>
> —नरेन्द्र

नगर के एक मुहल्ले का है यह चित्र। ग्राम से अलग है इसकी घुटन। फिर भी दलित जीवन में अपना ही उल्लास है। होली आ गई है। बहुत ही बोझीला है यह वर्णन ! दार्शनिक एकाकी सोच रहा है। उसे कोई उत्तर नहीं मिला। सब कुछ कसकता है। उल्लू बोलता है, शृगाल रोते है। दृश्य कुछ वीभत्स हो उठता है, जब कुत्ता अपनी छाया देखकर स्वयं ही रो उठता है। चांदनी का उल्लेख भी नहीं है, जबकि कुत्ते का अपनी छाया होली के दिन देख पाना उसीकी ओर इंगित करता है।

एक ही कवि विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर कैसे दो चित्र देता है। नरेन्द्र कुशल कलाकार है। उसने अनेक नये प्रतीक दिए हैं। उसके गजनेरी सांड जैसे बिलकुल

प्रगतिशील चिंतन पर विवेचन करना अब आवश्यक है। 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' में हम इसपर विवेचन कर चुके हैं, परन्तु वहां जो बातें रह गई थी, उनको यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है। काव्य क्या है यह हम स्पष्ट कर चुके हैं। यहां हिन्दी की समस्याओं पर ही विचार करेंगे।

पहली बात यह है कि व्यक्ति की किसी भी अवस्था में ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें व्यक्ति के विवेक अथवा न्यायबुद्धि को समाज के सम्बन्धों में निरपेक्ष भाव में मुक्त करके देखा जा सके। दूसरी बात यह है कि व्यक्ति जब समाज के तादात्म्य में अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र समझने जानेवाली उन वृत्तियों का परिमार्जन करता है, जो उसके दैनिक-सामाजिक सम्बन्धों में बाह्य वस्तुओं का नियन्त्रण करती हैं, अथवा यों कहें कि एक-दूसरे को हानि-लाभ पहुंचानेवाली आदान-प्रदान, वितरण, क्रय-विक्रय करनेवाली वे स्थिति का माध्यम बनती हैं, तब वह अपने व्यक्तित्व का हनन नहीं कर देता वह समाज में मशीन का अंग बनकर नहीं रह जाता। जिस प्रकार समाज-रूपी शरीर में आंख-रूपी व्यक्ति अपने स्थान पर नियत है, पर अपनी शक्ति से दूर-दूर तक को देखने के लिए स्वतन्त्र है, उसी प्रकार व्यक्ति की मेधा भी समाज में कुण्ठित नहीं हो जाती। मार्क्स ने यूरोप की तत्कालीन परिस्थिति में इसी सत्य को देखा था। गड्ढा देखकर भी यदि आंख गड्ढे में शरीर को ले जाना चाहे, अथवा शरीर के मरने पर आंख जीवित रहना चाहे, तो जिस प्रकार आंख के माध्यम से मस्तिष्क परिचालित होकर भी अपना भला-बुरा नियन्त्रित करता है, तथा शरीर के मरनेपर आंख को भोजन मिलना बन्द होकर आंख का काम समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति सारे समाज में ऐसी अन्य भी शक्तियां प्राप्त करता है, जो उसपर नियन्त्रण करती हैं और समाज के न होने पर व्यक्ति भी जीवित नहीं रहता। व्यक्ति अपनी भाषा, अपना चिन्तन, सब सामूहिक रूप से ही सीखता-समझता है। ये दो बातें समस्त संघर्ष को स्पष्ट करती हैं। 'ऊर्ध्वचेतन' की ओर विकास-क्रम में आगे ले जाने की जो बात योगी श्री अरविन्द ने कही है वह व्यक्ति की चेतना को समाजगत करके नहीं देखती, जबकि अरविन्द ने एमीबा से अपने विकास को प्रारम्भ किया है।

यह सत्य है कि मनुष्य का विकास करोड़ों वर्षों में हो जाएगा, परन्तु उसका कोई विराम व्यक्तिवादी ढंग से समाजगत रूप को छोड़कर नहीं हो सकता। यहां कोइस्लर की बात आ जाती है, जिसने कहा है कि योगी और कमिसार दोनों का समन्वय ही विकास की अगली मंजिल है। अर्थात् व्यक्ति और समाज का यह आत्मोन्नति और समाजोन्नति की ओर उन्मुख रूप ही भौतिक और आध्यात्मिक रूप का चरम मिलन है। परन्तु यहां दोनों रूपों को द्वन्द्व के रूप में प्रस्तुत किया गया है। योग का अर्थ शरीर और मन की शक्तियों का नियोजन-मात्र है। 'योग' का विकास भारतीय इतिहास में समाज-

यह वसुन्धरा, कभी न लगती इतनी प्रियकर
लता-कुंज-द्रुम लगते केवल मूक, तुच्छतर।
यदि न विश्व की वंशी में सुर का सरगम भर
छन्द बजाते समुच्छ्वसित खग मधुर महत्तर।

पृथ्वी की सुन्दरता बिना पक्षियों के कभी इतनी सुघर नहीं बनती, जितनी कि उनके संपर्क में लगती है। हम, जो गांवों में रहते हैं, इसका सारतत्त्व समझते हैं और इसे छायावादियों ने भी केवल सौन्दर्यप्रियता के कारण समझा था।

वर्षा का वर्णन करते हुए कवि कहता है

बह रही वायु सर्-सर् सर्-सर्
बरसते मेघ झर्-झर् झर्-झर्
कांपते पत्र थर्-थर् थर्-थर्

लो आज सजा है आसमान
धरती पर जीवन भासमान
लघु-लघु धाराएं धावमान
ऊर्मिल, द्रुततर, मनहर, सुन्दर
बहुवर्ण धरा, बहुरूप धरा
हो गई नवल जन-मनोहरा

यह परम पुरातन वसुन्धरा
गतिशील पवन ज्यों जीवन-स्वर
हो गया चित्रपट पूर्ण गगन
छविरूप वर्णमय चंचल घन
पल में कुछ पल में कुछ बन-बन
क्षण-क्षण में प्रियतर सुंदरतर

लो उठे भूमि से हरितांकुर
शोभित है ग्राम-ग्राम पुर-पुर
हो आया शीतल मानव-उर
नव सृष्टि करेगा हो तत्पर
पाकर पावस का पावन क्षण
करती स्वरूप का परिवर्तन
तन से मन से बनती नूतन
यह प्रकृति सदा नव जीवन धर

—त्रिलोचन शास्त्री

प्रतिभा का स्पर्श दिया और अमर काव्यों की सृष्टि की। पुश्किन ने अवश्य 'यूजीन ओनिगिन' ऐसा पद्योपन्यास लिखा जिसकी कथा उसने अपने-आप बनाई थी। यह प्रकट करता है कि शास्त्रीय पद्धति से, अथवा किसी भी प्रकार के चित्रण-सौन्दर्य-मात्र से, कोई भी कथानक, युग पर प्रभाव नहीं डालता, जब तक कि उसके भीतर युगव्यापी कोई विषय नहीं हो। युगानुरूप होने का यह तथ्य यह भी प्रमाणित करता है कि कवि अपनी कथा भी गढ़ सकता है, उसमें यदि शक्ति होगी तो वह युग को प्रभावित कर सकेगा।

प्रबन्धकाव्य को यद्यपि निभाना अत्यन्त कठिन है, फिर भी उसमें वर्णन-चित्रण के लिए हाथ-पाव खुले रहते हैं। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' एक खण्डकाव्य है और ओज के दृष्टिकोण से यह सफल है। परन्तु इतना पुराना विषय भी युगानुरूप होने के कारण ही लोकप्रियता प्राप्त कर सका है, जबकि प० द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' उतना स्थान प्राप्त नहीं कर सका, हालांकि चित्रण की दृष्टि से मिश्रजी का काव्य कहीं अधिक उत्कृष्ट है। यद्यपि लोकप्रियता ही काव्य के उत्कृष्ट और श्रेष्ठ होने का परिचायक नहीं है, तथापि यह निस्सन्देह सत्य है कि कलाकृति अपने सृजन के युग में अपने युग की अपेक्षा करती है और कालान्तर में वह उन्हीं मानवीय मूल्यों और अनुभूतियों तथा चित्रण के बल पर जीवित रहती है, जिनसे वह अपने युग का सत्य प्रतिपादित करके भविष्य का मार्गप्रदर्शन करती है।

किन्तु गीतिकाव्य में यह सरलता नहीं होती। पुराने मानदण्डों के अनुसार इसको यों रखा जा सकता है। भाव, विभाव, अनुभाव, सचारी, व्यभिचारी आदि की वर्णन-स्वतत्रता तथा गुजायश से प्रबन्धकाव्य में तो रस की निष्पत्ति हो जाती है, परन्तु गीतिकाव्य में एक गीत में एक ही भाव का वर्णन होता है, अत यहा उतने फैल फूटने का अवसर ही नहीं मिलता। पुराने आचार्यों ने गीत में 'ध्वनि' को प्रमुख माना था। वह भी ऐकान्तिक है। गीत भाव पर ही आश्रित होता है, जिसका प्रवृत्ति से सबध है, जो मनुष्य-मात्र में सहज और साधारण है, सामान्य है। वही गीत का हृदय से तादात्म्य कराती है, वही सुलभ बनाती है। पुराने और नये गीतिकाव्य में बहुत बड़ा अन्तर है। पुराने मुक्तक राधाकृष्ण-सबधी, या प्रार्थनापरक रहे। जयदेव का गीतगोविंद, विद्यापति की पदावली, रीतिकाल के सवैये और कवित्त तथा सूर के पद, सब ही राधाकृष्ण के जीवन पर अवलबित थे। इसलिए एक भी पद या छन्द वास्तव में स्वतत्र नहीं था। उसकी भावभूमि आश्रय में राधाकृष्ण की कथा के रूप में पहले से विद्यमान थी। वह मुक्तक उस विद्यमान प्रबधवत् भूमि में एक विशेष फूल बनकर खिल जाता था। अत-वह आज के मुक्तक से भिन्न था। दूसरी ओर सिद्धों, नाथों और कबीर के गीत हैं, जिनकी रसात्मकता का पूरा प्रचलित दार्शनिक चितन ही आधार था। अब वे प्रचलित हो गए। आज के गीत व्यक्ति-विवेचन-भूमि पर बने हैं और यदि वे सहज ग्राह्य नहीं होते, तो उनमें लोगों को रस नहीं मिलता, विशेषतया तब जब उनके लिए नयी दृष्टि से काम नहीं लिया जाता। मैं प्रयोगवादियों की बात नहीं कर रहा

कहता हूँ :

सुहागिन उठो,
चलो, यह धूप,
हमारा रूप !
इसीसे खून हमारा गरम,
इसीसे बोल हमारे नरम,
इसीसे मन में प्राण
इसीसे गान कि जो वर्षा में गूंजेंगे,
इसीसे कजली, कदम, हिंडोल
इसीसे मुरज, पखावज, ढोल ;
इसीसे हास, इसीसे रास,
इसीसे धरती पर आकाश
सुहागिन उठो,
ओढ लो धूप,
निखारो अपना-अपना रूप !
धूप पर हँसो,
कछोटा कसो,
खेत पर चलो समुन्नत भाल
कांस खोदो, काटो जजाल ।
बेर के बड़े
जला दो आगे होकर खड़े ।
पसीने की धारा बलवती
धरा जिससे बनती फलवती,
नहाओ दूधो, पूतो फलो,
सुहागिन, चलो, खेत पर चलो !
'धरा का परम सुहाग'
गगन की आग
आग-बबूला सख्त सुर्ख सूरज
खेल रहा है फाग !!

—भवानीप्रसाद मिश्र

धूप का यह वर्णन बिलकुल नया है। सारा जीवन सूर्य के ही कारण चल रहा है। इस धूप को ओढ़ लो। इसपर हसो। बाधाओं को हटा दो। यह धूप तुम्हें समृद्धि देगी।

इकाई उसका व्यक्ति है, उसी प्रकार समाजवस्तु-काव्य की अनुभूति व्यक्ति में होती है। जिस प्रकार मनुष्य के लिए समाज और व्यक्ति अन्योन्याश्रित हैं, उसी प्रकार काव्य के लिए लोकपक्ष और व्यक्तिपक्ष अन्योन्याश्रित है। जिस प्रकार मनुष्य का मंगल व्यक्तिपरक नहीं है, उसी प्रकार काव्य का मंगल व्यक्तिपरक नहीं है। दोनों की अवस्था और आस्था सामूहिक जीवन के मूलाधार तथा आदान-प्रदानरूपी द्वन्द्व-व्यवस्था पर आधारित है। अतः काव्य के अंगों के रूप में ध्वनि, रीति, अलंकार और वक्रोक्ति मान्य हैं; परन्तु वे ही सब कुछ नहीं हैं। पुरानी परम्परा का सर्वश्रेष्ठ स्वीकार लेने पर प्रगति संकुचित नहीं रहती। वह जीवन की सर्वांगीण चेतना का विकास है। वह समाज-पक्ष में लोक-वैषम्य में प्रेम-भावना का पक्ष लेकर चलती है और अभिव्यक्ति में मनुष्य की कल्पना को समृद्ध बनाती है। सौन्दर्य सापेक्ष है अतः वह नयी अभिव्यंजनाओं को स्वीकार करता है। प्रेम, वासना आदि जीवन के प्रति अधिक सजीव अनुरक्ति पैदा करनेवाली अनुभूतियां काव्य का आवश्यक अंग हैं। वैराग्य की वह सीमा जो चेतना को व्यापक बनाकर, परानुभूति के प्रति उन्मुख बनाकर, केवल ऐंद्रियपरकता रोकती है, श्रेष्ठ है। यूरोप में आए हुए विभिन्न वाद निम्नमध्यवर्गीय गतिरोधों में पैदा हुए पलायन हैं। उनके प्रयोग शैली-अभिव्यक्ति तक मान्य हैं। प्रतीकों का सृजन काव्य के लिए आवश्यक है। केवल मजदूर-किसानों पर लिखी कविता, घिसी-पिटी नारेबाजी, राजनीतिक कार्यक्रमों की तुकबन्दी, और व्यक्ति-वैचित्र्य की अतिकुण्ठा कविता नहीं है। न उपादेयता के नाम पर उपदेशात्मकता श्रेय है, न आत्माभिव्यक्ति के लिए द्रविड़ प्राणायामी कल्पना। काव्य में तो 'कान्ता उपदेशवत् सरसता' होनी चाहिए।

भरतमुनि का रस-सिद्धान्त दास-प्रथावाले समाज के ह्रासकाल में जन्मा था। तब सामन्तवाद दासों को मुक्त करके भूमिबद्ध किसानों को पहले की तुलना में अधिक स्वतन्त्रता दे रहा था। तब यह स्वीकार किया गया कि काव्य केवल पुरोहितों के लिए नहीं, न देवताओं के लिए है। वह तो मनुष्य के लिए समान रूप में ग्राह्य है। तब साधारणीकरण के माध्यम से भाव, विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के योग से होनेवाली रस-निष्पत्ति का सिद्धांत बना जो समाज-पक्ष को स्वीकार करता था। ज्यों-ज्यों सामन्तीय समाज का प्रगति-तत्त्व घटा, वह शोषणकर्ता बना, उच्च वर्गों ने रस-सम्प्रदाय पर हमला किया और आज के प्रयोगवाद, तथा अन्य पलायनवादी वादों की भांति, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि, अलंकार आदि ने दरबारों में सिर उठाकर रसवाद को घटाना चाहा। परन्तु आगे बढ़ा हुआ इतिहास नहीं लौट सका। भरत के सिद्धांत-निर्माण के समय शोषण मिटा नहीं था, उसने रूप बदला था। अतः युगानुरूप बन्धन सिद्धांत पर आए। व्यक्ति-मात्र विवेचन का आधार बना और दरबारी नायक—धीरोदात्त की कल्पना हुई। समाज के ह्रास ने काव्य को दरबारों तक सीमित कर दिया। काव्य में वह जो कि मनुष्य-मात्र के लिए थी—'रति'

मानदण्ड युग-भेद से बदल जाने पर भी वस्तु-सादृश्य में भेद नहीं कर सकते, यो अपने अहकार की तृप्ति में हसो की जगह ऊटो की सृष्टि करनेवाले विश्वामित्रो को तो दूर ही से प्रणाम करना श्रेयस्कर होता है। हमे काव्य के स्थायी तत्त्व की प्रतिष्ठा करने के लिए अवश्य ही ऐसी भूमि चाहिए जो सार्वजनीन हो। सूर के बाल-वर्णन, तुलसी के रामराज्य-वर्णन, कबीर के जाति-पाति-विरोधी वर्णन, कालिदास के काम-कला विभूषित वर्णन और मायकोवस्की के क्राति-वर्णन के विभेदो के एकत्व को न देखकर जो उनके रसमूल एकत्व को विभेद करके देखते है, वे घोघे को ही सीप कहनेवाले लोग हैं। वे छायावाद को भाषा शैली के लिए एक देनमात्र समझते हैं, और कुछ अधिक नही। प्रकृति के विषय मे लिखी निम्न कविता का उनके सम्मुख कुछ भी मूल्य नही है

मेघमाला-सी मुदित मन के लिये,
रगशाला-सी रसिक जन के लिये
मूक हाला-सी प्रणय की चेतना
प्राण, ज्वाला-सी हृदय की वेदना
कह सकूंगा क्या, सखा मै कौन हूं?
सुम उदार बनो सुहृद मै मौन हूं।

—श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल'

किन्तु यदि इसे सचाई से देखा जाए तो इसमे हमे जीवन की एक गहरी अनुभूति मिलती है। इसमे लौकिक को अलौकिक रूप मे रखा गया है और मानस के अनेक सस्कार यहा वेदना की अनुभूति बनकर प्रश्न करते हैं और दीखने मे तो निराशा, परन्तु वस्तुत दार्शनिक तत्त्व से भरकर पूछते हैं कि मनुष्य की अपनी सत्ता क्या है, बल्कि है ही क्या?

परन्तु ऐसे चित्र नये युग मे बहुत कम मिलते हैं, क्योकि इनमे दृष्टि का प्रसार नही है, गहराई अवश्य है।

काव्य मे इतनी क्षमता है कि वह अपने एक ही स्वर से अनेक स्वर ध्वनित कर सकता है। ऐसी ही नरेन्द्र की एक कविता है जिसमे वह वर्णन तो वसत का करता है, किन्तु नवयुग के जागरण की पूरी तस्वीर उसमे उतर आती है। और एक-एक शब्द एक-एक कोष बनता हुआ हमारे सामने खुलता है। मैं बिहारी का दोहा नहीं बना रहा हू यहा, बल्कि इस अदेखे को देख रहा हू कि कितना लाघव मौजूद है, परन्तु आलोचक उसे देख नही रहे हैं। लाल पलाश क्राति का प्रतीक है। वह जागरण है। वह सस्कृति का राग-तत्त्व है। वह आलोक की पुजीभूत सफलता है, तभी तो वह अपना जैसा बनाने की क्षमता अपने भीतर रखती है। प्रकृति का 'लाल लाल है पलास' वाला चित्र इस रूप मे कैसा लगता है

और शीश पर बांधे फेंटा
स्वेद-बूंद टपटप कर गिरती
डोगी खाती लहर-चपेटा
काले स्याह हस्त-युग मेरे
यहां निरतर डाँड हिलाते
थक-थक, रुक-रुक कभी बीच में
'साथी' औ' 'मैं' दोनो गाते

—शलभ

'साथी' का प्राय प्रयोग युद्ध की ललकार के लिए किया जाता है। यहा वह सग मेहनत करनेवाले से स्नेह के लिए आया है। अपने यहा ऐसी रचनाए सचमुच कम है। किन्तु भविष्य मे वे और और आएगी इसमे कोई सन्देह नही है। काले हाथो का डाड हिलाना न केवल चित्रात्मक है, न केवल उसमे श्रम की ध्वनि है, वरन् उसमे है जीवन का वह अनथक विश्वास जो कि इसकी सारी शक्ति है। दरिद्रता रोकनेवाली चीज है, परन्तु यहा लहर-चपेटा खाकर भी जीवन की मौज लेने निकली हुई डोगी रुकती नही। थक भी जाए, रुक-रुककर भी चले, तब भी गीत नही रुकता, वह बीच के व्यवधानो को पार करने का सबल दिए चलता है। और छोटा सा साथी जीवन के कोमल स्वप्नो की याद करता है कि यहा से 'पिककूजन' दूर है। कमलो के वन का अभाव अन्त मे जाकर पूरा हो जाता है।

केसरी ने अपने 'चकोरी' मे एक बहुत ही स्थायी रचना साहित्य को दी है।

कवि-सत्य के रूप मे यह प्रवाद चला आ रहा है कि चकोरी एक ऐसी चिड़िया है जो चन्द्रमा को देखती रहती है और उसके अगार चुगती है। हिम से अगार! चकोरी कहती है कि मैं तुम्हारे हिम मे से अगारे चुगती हू, चुगती हू चिनगारी कि प्राणो मे कभी न बुझनेवाली प्यास जल उठे! कैसी विभोर सर्जना है। इसमे कितनी शक्ति और कितना प्राण है! नयन हास पीते हैं, मुख अग्नि!

चुगती चिनगारी कि जले प्राणो में ऐसी प्यास पिया
युग-युग बुझे न, दृग पीवे शाश्वत तेरा हिम-हास पिया
हिय पीवे अगार नयन में चुए अमिय-रसधार पिया
होड आग-पानी की रे कहता जग जिसको प्यार किया
जाना प्राप्य-अप्राप्य, न जाना तुमको केवल एक पिया
आह! न लूंगी मैं विवेक देकर अपनी यह टेक पिया
झूम-झूम सूली पर जीते-जी ईशा होना सीखा
एकव्रता में सती-सुहागिन चिता-सेज सोना सीखा

महादेवी वर्मा ने अपने छायावाद की व्याख्या करने की चेष्टा की है। परन्तु वह कोई महत्व की बात नहीं है। वस्तुत आधुनिक काव्य का नया ही काल-विभाजन आवश्यक है।

सामन्तीय ह्रासकाल में, १७४० ई० से १८५७ ई० तक हिन्दी म सब तरह काव्य का ह्रास हो रहा था। इस समय को अभी तक उत्तर रीतिकाल कहा जाता है, जबकि यह गलत है। इस समय जहा एक ओर दरबारी कविता लिखी जा रही थी, वहा पलटूदास, दयाबाई, सहजोबाई, दूलमदास, तुरसी साहेब इत्यादि अनेक कवि सतकाव्य की परम्परा को आगे बढ़ा रहे थे। आचार्य शुक्ल इसे नही देख सके थे। वे शेख निसार और नूरमुहम्मद जैसे सूफी कवियो के भीतर इस युग-विशेष में आए परिवर्तन को भी नही पकड सके, क्योंकि उन्होंने तो धाराए पकडी, यह नही देखा कि एक ही विचार का विभिन्न परिस्थितियों में कैसा विकास होता है। यही वह काल था जब हिन्दी का फ़ारसी-गर्भित (उर्दू) क़ाव्य दरबारो में फल-फूल रहा था। इस काल के बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग आया। वहीं से सब आधुनिक काल मानते हैं। किन्तु भारतेन्दु का युग केवल उन्मेष-काल था। उर्दू मे दाग पुरातन परम्परा को लिए हुए थे, और हाली में पुनरुत्थान की भावना थी। वही हमें प्रकारान्तर से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, नाथूराम शकर और श्रीधर पाठक में मिलती है। इसके बाद आया सुधार-युग। इस युग में हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त प्रमुख नेता थे। यों तो गुप्तजी अभी तक लिख रहे हैं और अच्छा भी लिखते हैं। परन्तु उनकी विषय-वस्तु अपना रूप नहीं बदल सकी है।

इस काल के बाद हिन्दी में नया मोड आया। चूकि इसे अब छायावाद कहा जाने लगा है, सुविधा के लिए मैंने भी वही नाम प्रस्तुत किया है, किन्तु वस्तुत छायावाद-काल की जगह नाम होना चाहिए अभ्युदय-काल। इसी युग के ज्योतिस्तम्भ प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी हैं। महादेवी और प्रसाद ने तो आगे नही लिखा है। परन्तु पन्त और निराला अभी तक लिख रहे हैं। अभ्युदय-काल जिस अभिव्यजना को लेकर चला था, उसकी चरमसीमा प्रसाद की 'कामायनी' मे जाकर हुई। उस सीमा तक निराला, पन्त और महादेवी नही पहुच सके। अवश्य ही पन्त और निराला ही हमारे आलोच्यकाल के युगप्रवर्तक कवि हैं। उन्होंने ग्राम्या और कुकुरमुत्ता आदि रचनाए देकर आगे के मोड की ओर इगित किया किन्तु उनका ही नाम गिनाना साहित्य के इतिहास के साथ अन्याय करना है। वे अपने को नये युग के लिए उपयुक्त नही बना सके। नयी बागडोर तो नये कवियो ने सभाली। आज की हिन्दी कविता निराला, पन्त में सीमित नहीं है। अवश्य ही यह सत्य है कि जिस क्षेत्र मे एक विशेष ऊचाई ये लोग पा चुके हैं, उतनी ऊचाई नये कवि अपने क्षेत्र मे नही पा सके हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि आज की कविता इन दोनो के अतिरिक्त भी अपना एक स्वरूप रखती है।

(४) व्यक्तिगत वासना अपने स्वरूप में ही प्राय प्रकट हुई है।

(५) भाषा की दृष्टि से सहज को ही अधिकतर अपनाया गया है। पदावली प्राय ही कोमलतम बनाने का प्रयास मिलता है।

(६) नये क्षेत्र मे नवीनता का ही लाघव नही है, उसका राग-तत्त्व स्थायी भावो को लेकर ही चलता है।

अत मे इस विषय को हम एक और उद्धरण देकर समाप्त करते हैं, जिसमे कमनीयता और गति का छद बहुत ही सम्यक् सतुलन देता है

वसन्त के चपल चरण !

पिकी पुकारती रही पुकारते धरा-गगन
मगर कहीं रुके नहीं वसन्त के चपल चरण !
असंख्य कांपते नयन लिए विपिन हुआ विकल
असख्य बाहु हैं विकल कि प्राण हैं रहे मचल
असख्य कठ खोलकर कुहू-कुहू पुकारती
वियोगिनी वसन्त को, दिगन्त को निहारती
वियोग का अनल स्वय विकल हुआ निदाघ बन,
मगर कहीं रुके नहीं वसन्त के चपल चरण !

—रामदयाल पाण्डेय

यह है वसत की महागति। मै तो कहूगा कि नये वसत की गति है। 'चचल पग दीपशिखा-से धर गृह मग वन मे सुलगा वसत,' की परपरा और भी सुदर चित्र लाई है। इस कविता मे केवल कोमलता ही नही, ओज भी है और इसीलिए इसमे जो स्फुरण-शक्ति है, वह बहुत ही आकर्षक है।

यह सत्य है कि छायावादी कवियों के बाद किसी एक कवि ने अभी उतना महत्त्व नही पाया है, जितने की आशा थी, किंतु मैं समझता हू इसका एक कारण यह भी है कि बाद के कवियो को ठीक से पढा भी नही गया है। साहित्य मे आलोचना का क्षेत्र इतना विनष्ट हो गया है कि उसमे अभी ऐसी आशा तभी होगी जब लोक मे और अधिक शिक्षा फैलेगी और कवि तथा पाठक का सीधा सपर्क स्थापित होगा।

उसे देखना बहुत आवश्यक है।

अभिव्यक्ति के माध्यम के कोष का बदल जाना यह प्रकट नहीं करता कि उससे 'ध्येय' बदल जाता है, परन्तु काव्य के इतिहास के बदलते रूपों में उसका अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। गुप्तजी और पंत, निराला आदि पर हिन्दी में तो भी कुछ लिखा जा चुका है। उनके बाद के युगों का अध्ययन तो बहुत ही अनर्थपूर्ण हुआ है, क्योंकि आलोचकों ने आचार्य शुक्ल की तरह अध्यापकीय प्रवृत्ति अपनाकर वाद-भूमि पर काव्य का खण्डित अध्ययन किया है और नये स्वरों को पूर्णतया नहीं देखा है।

यहां हम उसीका अध्ययन करेंगे।

[२६] आगे बढ़ने से पहले मैं यहां एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूं। किसी भी युग का कवि अपने सामने एक ध्येय रखता है। इसमें उसके भीतर एक अपना सत्य जन्म लेता है। यह युग और व्यक्ति का परम्पराश्रित सत्य होता है। इसमें व्यक्ति की लघुता और महत्ता, दोनों ही रहती हैं। इसीके साथ एक सत्य युग-युग का होता है। वह युग-युग का सत्य क्या है? वह 'कला कला के लिए' नहीं है। वह किसी समाज-निरपेक्षिता में नहीं है, वह है मानव के कल्याण का सत्य। एक समय था जब राजाओं के वैभव का यशोगान, उनकी वीरता की स्तुति कवि का युग-सत्य था। एक और समय आया जब देवता की स्तुति उसका ध्येय बनी। एक बार और उसने परमात्म की धुन छेड़ी। एक बार और ही रूप बदला और वह स्त्री के सौन्दर्य में डूब गया। युग और देश के विशेष बंधनों में मनुष्य ने विभिन्न सत्यों का साक्षात्कार किया। किन्तु हम अब प्रत्येक रचना का मूल्यांकन उस युग की सीमा और उस युग की परिधि के भीतर नहीं करते। हम काव्य की विरासत को सौन्दर्य के विकास के रूप में लेते हैं। आचार्य शुक्ल ने वीरकाव्य को तो इसी दृष्टि से देखा। किन्तु रीतिकाव्य की सुन्दरता को वे मानववाद की व्यापक भूमि पर कसने की बजाय, रीतिकाव्य की सीमाओं के भीतर ही खोजते रहे। यह उनकी अध्यापकीय मनोवृत्ति थी।

युग के परिवर्तन ने हिन्दी-काव्य को नये रूप दिए। भारतेन्दु में पुरातन और नवीन का मिलन हुआ और फिर हम नवीनता की ओर अधिक खिंच चले। हिन्दी के आलोचकों ने इन समस्त युगों को प्रायः ही मानववाद की भावभूमि पर देखने की चेष्टा की। परन्तु वे पूर्ण न्याय नहीं कर सके, क्योंकि उन्होंने 'छायावाद' शब्द को पकड़ा, उसके 'अभ्युदय' को नहीं लिया। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी भारतीय संस्कृति में एक नये अभ्युदय हैं। यह सत्य किसी आलोचक ने स्वीकार नहीं किया। जिसे अंग्रेजी में रिनेसां कहते हैं, वह इन्हींका लाया हुआ है। इन्हीं लोगों ने कवि के सत्य को युग के सत्य से एकाकार करने के भीम प्रयत्न में सफलता पाई और इसीलिए इन्होंने महाकवि होने का भी गौरव पाया। फिर भी इनमें एक कमी रह गई कि ये कवि बनना तक नहीं

स्तुत किया जा रहा है।

कवि का व्यक्तित्व समाज में अपने भी सुख-दुख लिए रहता है। जब वह उन्हें हत्व नहीं देता तब हम उसे किसी बड़े रूप की ओर बढ़ते हुए देखते हैं। वह कहता है

रक्त से खींचा गया यह
चित्र तुमको सौंपता हूँ।

×

कर न पाया दूर
इसको एक भी क्षण के लिए हूँ,
एक पल भी सह न पाया
मैं उदासी की झलक,
जो कभी इसपर आ गई है!
तब यही चाहा कि
अपने प्राण की सजीवनी को घोलकर
इस चित्र की प्रत्येक नस में फूंक दूं मैं।
जब कि आँधी का भयानक दैत्य
अपने वज्रपग धर जगमगाती भूमि पर उन्मत्त जैसा
ध्वंस का गायन सुनाता
प्रलय वीणा की मिला लय
सबल धारासार वर्षा में किलककर
तड़ित जैसे दाँत घिस निश्चित होकर घूमता था
तब समेटे बाँह में इस चित्र को मैंने सदा ही
शुचि हृदय के स्पदनों के बीच में रक्षित किया है।

—राजेन्द्र यादव

वह समाज की कथा को एक भी क्षण के लिए अपने से दूर नहीं कर पाता। वह एक मृत व्यवस्था में जीवित श्वास फूंककर उसे फिर से सबद्ध बना देना चाहता है। आंधी का दैत्य शोषण का प्रतीक है। तड़ित् जैसे दांतों का घिसना अच्छा चित्र है। जीवन के इस चित्र को कवि हर तरह से बचा लेना चाहता है। आंधी और पानी की उसे इतनी चिंता नहीं है, क्योंकि मन में कहीं न कहीं वह यह अनुभव करता है कि यह सकट स्थायी नहीं है। ये आते हैं। चले जाते हैं। किंतु यह जो चित्र है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। यही तो सभ्यता और संस्कृति है। यदि यही नष्ट हो गया तो उसके पास बाद में बच ही क्या जाएगा?

कवि का मन अब पुराने बंधनों को छोड़ रहा है। वह पुरानी स्वार्थपरक या आत्म-

का 'उर्मिला', प्रभात की 'ऋतवरा' इसी ऊंचाई की ओर को संकेत है। आज के युग में कवि अभी एक पूर्ण जीवन-स्वप्न नहीं खोज पाए हैं, तभी वे ऊंची चोटी तक पहुंच नहीं पाए हैं। कौन पहुंचेगा यह अभी नहीं कहा जा सकता। एक नीम-आलोचक ने इसे बौनों का युग कहा था। मैं इसे कुब्बा कहता हूं। कहनेवाला स्वयं बौना है। बौनों के हाथ निरंतर आगे और ऊपर उठते हुए नहीं दिखाई देते। हमारे यहां यदि व्यक्ति रूप से अभी पूर्ण उपलब्धि नहीं भी हुई तो भी क्या डर है। जहां तक युग का प्रश्न है, जितना सत्काव्य इस युग में जन्मा है, उतना पुराने युगों में नहीं मिलता। और फिर कवि निरंतर बढ रहे हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि तुलसी ने साठ वर्ष की उम्र में 'मानस' लिखा था और अस्सी वर्ष की आयु में गेटे 'फॉस्ट' की रचना कर सका था। नयी कविता व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का गहरा विश्लेषण ही नहीं है, वह व्यक्तित्व के विकास की भी ज्वलंत कहानी है। अभी उससे आशाएं हैं और वे अवश्य ही फलवती होंगी। प्रगति, प्रयोग इत्यादि को हम सहज ही ध्वनि, वक्रोक्ति इत्यादि के नये रूपांतर कह सकते हैं। हम किसी भी कवि की रचना देखते हैं तो वह अपने 'कथ्य' के अनुरूप नहीं उतरता।

लेकिन ग्राज उसका दर्प है विच्छिन्न, ग्रवनत शीश,
जल पर तैरते जलयान के ये ग्रनगिनत लघु खण्ड
जैसे कर रहे हों महत्तम ग्रस्तित्व पर
छिपकर भयकर व्यंग !

×

ग्राज पहली बार शायद जिंदगी में कर रहा महसूस मैं—
कुछ उँगलियाँ मुझपर निरतर उठ रही हैं।
मैं नहीं समझा कभी मेरी महत्ता का कहीं ग्रस्तित्व भी है।
किंतु दुनिया की नजर में ग्राज मेरा दर्प,
मेरे ग्रहम् का विस्फोट
मेरी रागिनी की शक्ति बनकर
एक जलती चुनौती दे रहा है !

—घनश्याम ग्रस्थाना

व्यक्ति का स्वाभिमान भी ग्राज स्वीकार नहीं किया जाता, क्योंकि उसे तो घोट देने की ग्रोर ही प्रयत्न हो रहा है। ग्रात्मा मे हीनत्व की भावना भी ग्रपनी कचोट के गर्व का ही परिणाम है। किन्तु कवि-हृदय की कामना इस प्रकार है

"कवि की वाणी ग्रमृतमय हो जाए। वह मृतकों मे नव जीवन भर दे। मन मे सुन्दर इच्छाए रखकर मानव सुख से निर्भय विचरण करे।

"चिर ग्रंधियारे पथ को पार करके उजियारा पथ मिले। तन, मन, जग ग्रौर जीवन मगलमय हो जाए। युग की प्रतिनिधि कल्याणी कवि की नववाणी धन्य हो। सब उसकी जय-जय गाए।" (तारा पाण्डे)

यह एक पल का चिन्तन है या यही कवि के व्यक्तित्व की समग्रता है? मैं समझता हू कि जीवन मे ग्रनेक पक्ष होने के कारण ग्रनुभूति समय-समय पर विभिन्न रूप से ग्रपने को व्यक्त करती है। कभी-कभी घटना-विशेष से प्रभावित हो जाने के कारण हमे दृष्टिकोण मे एक प्रकार की भ्रांति भी दिखाई दे जाती है। ऐसी रचनाग्रों मे हमे वैयक्तिकता के ग्रतिरिक्त लोक-प्रभाव की ऐतिहासिक घटना भी देखनी चाहिए। कवि ग्रपने को ग्रभावों से ग्रस्त पाता है तो वह ग्रपने को ग्रलगाव के नाम पर विद्रोह करता हुग्रा प्रकट करता है :

तुम्हें चाहिए प्रेम, प्रेम से मेरा क्या नाता !
तुम सुख के सर्वस्व, ग्रौर मैं दुःख का निर्माता !
कल प्रभात होते चल दूंगा, ग्रलख गीत गाता !
मैं ग्रपने पथ के कण-कण में ग्रपनापन पाता !

—श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल'

ज्योति-सी उर से निकल ओ' ज्योति-सी उर से प्रकृति के
मिल अचानक,क्षण चकित कर लीन होती किस गगन में ?
आज मेरे प्राण पर ओ प्राण! डालो स्निग्ध छाया
अभय उस सौन्दर्य-शशि की अथक अपार अगाध माया
आज मेरे प्राण उमडे मानते ना स्थूल बन्धन
ज्योति में निज को मिटाकर ही मिलेंगे क्या छिपे कन ?

—राजेन

संवेदना का जागरण होता है प्रकृति के आवाहन में। मनुष्य उसे प्राप्त कर लेना चाहता है, किन्तु उसे फिर भी यही लगता है कि वस्तु को वह पूरी तरह से ग्रहण नही कर सका है, उसमें एक आकुलता बची ही रह जाती है, उसके भीतर भी एक ज्योति है, जो समग्र की ज्योति से मिल जाती है, किन्तु वह अततोगत्वा कहा जाकर लीन हो जाती है, यह वह नही जान पाता। तभी वह चाहता है कि सौंदर्य का अवाक् कर देनेवाला, मन मे एक आशंका उत्पन्न कर देनेवाला, विस्मय से विमूढ कर देनेवाला मायावी स्वरूप किसी प्रकार उसके सामने प्रकट हो जाए। उसकी चेतना स्थूल के बन्धन मे ही सीमित नही रह जाना चाहती। वह तो ज्योति बनना चाहता है। किन्तु फिर भी वह संदेह से सोचता है कि जब ज्योति मे ज्योति मिल जाएगी तब फिर छिपा हुआ गोपन रूप रह ही क्या जाएगा ? क्या गोपन की खोज मे अपने को मिटा ही देना होगा ?

'सावन मेघ' के रूप मे कवि इसी प्रश्न को स्थूल दृष्टिकोण से देखता है और मानवी सौन्दर्य के प्रति उसकी दृष्टि अधिक दिखाई देती है। वह अपनी वासना मे ही प्रकृति को आकता है

घिर गया नभ, उमड आए मेघ काले
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर छा गया इन्द्र का नील वक्ष—
वज्र-सा, यदि तडित से झुलसा हुआ-सा।
आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड आई है लहू की धार

उन्माद की भाति, तन्मयता की वासना भी तीव्र होती है

मैं हरित वन की बासुरी हू। श्याम के मधुमय अधर को वारुणी पीकर बावरी हो चुकी हू। साधना मे स्वर्ण-सा गलकर, वेदना की अग्नि मे जलकर प्रेम की लोहित शलाका से कोमल मर्म मे छिद्र कर मैं मृत्यु मे जीवन छिपाकर नागरी बन गई हू। मेरे नाभिसर मे अमरता की माधुरी है।

अपनी सीमा में घुट-घुटकर
उसे प्राण खोते देखा है !

×

मैंने इन अपनी आंखों से
लौह चक्र चलता देखा है !

—श्यामबिहारीशुक्ल 'तरल'

दर्शन का जीवन से गहरा संबंध है। दर्शन का विकास मानव संस्कृति का विकास है। काव्य का इसीलिए दर्शन से संबंध है। प्राचीन साहित्य का सिंहावलोकन इसे और भी स्पष्ट कर देता है। काव्यशास्त्र में दर्शन की मान्यता भाव-पक्ष के माध्यम से हुई है। हिंदी काव्य में मध्यकालीन दर्शनों का प्रभाव संतवाणी में दिखाई देता है। संघर्ष और असंतोष तब भी था, किंतु उसका रूप तब दूसरा था। व्यक्ति की समस्या तब प्रधान थी। नये समाज के परिवर्तन ने व्यक्ति के साथ समाज को सामने रखा। विगत समाजों के मानसिक स्तरों का परिचय हमें काव्य द्वारा ही मिलता है। आधुनिक काल में दर्शन की व्याख्या भी बदली है। प्रभावशाली विचार मानव की मुक्ति मानने का प्रतिनिधित्व करते हैं। दर्शन और व्यक्ति का दृष्टिकोण इसीलिए बदला हुआ है। हमारी परंपरा ने ही इस विकास को जन्म दिया है। नवीन दर्शन और मानवतावाद की समस्या पुरानी परंपरा की भूमि का ही विस्तार है। अब दर्शन अपना रूप अधिक सार्वभौम कर रहा है। आत्म-परमात्म का तादात्म्य अब दूसरे रूप में होना है.

वेद की ऋचाएँ, सूत्र उपनिषदों के
फाड़कर आवेष्टन जीर्ण धर्मशास्त्रों के
मचल उठे धरती पर साकार होने को।
विरस जन की आंखों के मुँदे हुए कपाटों से
व्यक्ति के अन्तर की कैदी अनुभूति रहकर
सबल शोषकों की मुट्ठियों में अब बंदी रह न सकेगा,
निखिल चराचर की समता के गायक ऋषियों का मंत्र-दर्शन !
अब वह पिण्ड, रूप, रंग, आकार लेगा
विश्व के इस विराट वस्तु-व्यापार में।
भूमा का ऐश्वर्य न रहेगा मात्र भोग-दासी बनकर
कुछ मुट्ठी-भर सत्तावानों और धनवानों की :
न रहेगा वह मात्र बौद्धिक-आध्यात्मिक चर्चा का विषय
कुछ महलों की रसीली दावतों औ' सुगन्धी शय्याओं पर।
ऋषियों के ऋत, सत् और भूमा प्रकट होंगे अब

पलकों रोटो बुनें, उन्हें ऐसी फिरकनी बना जा री !
निंदिया री तू आजा री !

—राजनारायण बिसारिया

यहां कवि प्रकृति को मानवीय वातावरण में भी उतार लाता है। लोरी प्रायः ही पलायन के सौन्दर्य को अंकित करती है। लोक-गीतों में यद्यपि लोक जीवन प्रतिबिंबित होता है, जैसे दक्षिण भारत की कन्नड़ की एक लोरी है—अरे! देखो! नारियल का व्यापारी आ गया! वह नीले समुद्र के किनारे से अपना जहाज लाता है इत्यादि। किंतु इस प्रकार के गीतों में भी एक स्वप्निल छाया-सी व्याप्त रहती है। मजदूरिन की मानसिक भूमि इतनी व्यापक नहीं है। उसने अपने जीवन के संघर्ष को भी इस सौन्दर्य-वेला में एकरस कर दिया है। पलकों के रोटी बुनने की कल्पना वास्तव में अनूठी है। ऐसे चित्र मूलतः प्रकृति की परिकल्पना में लिखे जाते हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध अपने लौकिक जीवन से जोड़कर उन्हें भावपक्ष के अधिक समीप बनाया जाता है। इससे पहले अमूर्त में मूर्त को प्रस्तुत किया गया था, और इसमें उसकी उल्टी बात दिखाई देती है।

प्रकृति के वे चित्र जो उसे मानवीय रूप में प्रस्तुत करते हैं, वे अभिव्यंजना के क्षेत्र में अपनी रंगीनी को अधिक प्रसार देते हैं। इसीके साथ जब किसी मत-विशेष को भी कलात्मक रंग देकर रखा जाता है, तो मत से अधिक हम चित्र में ही उलझते हैं :

क्षितिज-तीर से आ रही है उतरती
बढ़ाती सुनहरे चरण
कलश शीश पर स्वर्ण का ले सकुचती
पहनकर सिंदूरी वसन
सितारे गगन के छिपे दूर जाकर कहीं
गये सो निशा के मधुर स्वप्न जाकर कहीं
नहीं शेष पथ पर रही अब तिमिर को घटा
बिखरने लगी पूर्व में एक स्वर्णिम छटा
अरे यह उषा का नवल आगमन है
*कि जो ला रहा जागरण*
अमर पर्व है आज नववधू का अरे
सभी के हृदय हर्ष की भावना से भरे
न जायें पुष्प देश को अर्चना के
कहीं ये सलोने सुमन
उठा राष्ट्र का ध्वज, बढ़ा पांव दो सब
खड़ा द्वार खोले विजन

"जिस तृषा पर पथ का गतिरोध पल रहा था, आज कवि उस कलुषित तृषा की जड हिलाना चाहता है।" (शैलेश) "पथ पर मिटनेवालों का बलिदान व्यर्थ नही जाता। जो राही पथ पर बलि होता है वह मंजिल को समीप लाता है।" (ब्रजमोहन गुप्त)

"इधर रूप की सुदर जुल्फें सुदरता की आग लगाती हुई, राज-अटारी मे पलगो पर भोग-विलासो को फैलाती हैं, दिन मे जो दुनिया मे धर्म और सत्ता का रास रचाते हैं, वह रात मे अविचारी-व्यभिचारी दानव बन जाते है। इसीसे सुदरता की जुल्फो की सौगध लेकर ही परिवर्तन का लाल सितारा आज नई आग लेकर जल उठा है।" (अचल)

"पथ भले ही थके, किन्तु यह चरण अविराम चलते रहे।" (शान्ति) "पखो से पत्थर बधे हैं। नित्य नभ के आमन्त्रण आते हैं। प्राण तडपकर रह जाते हैं। अब तो कवि पाषाणो को रगड-रगडकर ज्वाला उपजाकर जल मरना चाहता है।" (चिरजीत) "वह भले ही रीता-सा दीप है, किन्तु जलता तो है। उमे स्नेह नही मिला, इसीलिए प्रतिभा का रग नही खिल पाया, फिर भी यह क्या कम है कि वह ज्योति जगाता है। वह स्वय मिटता है, परन्तु औरो को राह दिखाता है। वह नत होने को पाप समझता है। माना कि वह तम से जीत नही सकता, किन्तु कम से कम उसकी आखो मे खलता तो है।" (रामकुमार चतुर्वेदी) "सपनो की अटारी के दरवाजे बन्द करके कान मत मूदो, बाहर तूफान गरज रहा है।" (भारतभूषण अग्रवाल)

जगती के विषण्ण आगन में, अमृतपुत्र, अभिनदन !
मॉग रही म्रियमाण मनुजता है तुमसे नवजीवन !
प्रगटे स्वर्णहास्य धरती पर, आगत मगलमय हो !
नूतन युग के नव-मानव की दिशि-दिशि में जय-जय हो !
नई चेतना के निर्माता, करो अमर वह सर्जन !
मॉग रही म्रियमाण मनुजता है तुमसे नवजीवन !

—आनन्दनारायण शर्मा

"कवि एक पगतल में पडा लघु तिनका है। अभी उसका दो दिन का नया अस्तित्व है। उसे झझा के झोके भुलाते रहते हैं। जीवन का पथ सदा बदलता रहता है। परन्तु तूफानो से उसकी पुरानी प्रीति है। वह गत इतिहासो का भग्नावशेष है। परन्तु वह लघु दीपक की जलती हुई जवानी है।" (श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल')

"कवि का जीवन, नव आशा-रस से विकसित होकर, प्रेम-प्रीति-परिमल से सुरभित होकर, मानव-मन का आलिगन कर रहा है।" (केदारनाथ अग्रवाल)

"अब तक काम ही काम रहा, विश्राम नही। पथ ही को श्रेय मत समझो, श्रेय तो धाम है। किसीकी मधुर याद, किसीका विछोह लेकर मोह से क्यो बधे हो!" (सुधीन्द्र) "मन का दिया ज्योति नही देता यदि उसमे आग नही जलती। दु ख के दाहो से ही हमारा

वह अरमान है। यदि मझधार मे नाव डूब जाए तो पतवार ही क्या है। जो अगारो पर हँसकर न चल सके वह प्यार नही है। जो मौत को सीने से लगाकर हँस सके, वही ज़िन्दगी है। जो श्मशान मे भी प्राण फूंक दे, वही वरदान है।" (दुष्यंतकुमार)

✓ "कवि मिटने की सीमा-रेखा पर शुरू हुआ, उसका आरम्भ हुआ रोने मे, परन्तु अन्त हुआ गीतो मे।" (गिरिजाकुमार माथुर)

वह नया रास्ता पकड़ना चाहता है, ताकि पुराना क्रम ही टूट जाए

नवीन पथ ग्रहण करो !
लिखो न गीत दुःख-भरे,
न वेदना विकल करे,
विषाद के अडिग पहाड़
पर सुदृढ चरण धरो !
न एक आह भी उठे
न एक वाह भी उठे
मिले समुद्र सामने
सहास संतरण करो !
मनुष्य तुम महान हो,
अजेय शक्ति प्राण हो
डरो न क्षुद्र विघ्न से
समोद अतिक्रमण करो !

—जितेन्द्र कुमार

साहस के प्रति एक अदम्य प्रीति नये कवि मे हमें प्राप्त होती है।

"हर दर्द स्वय नया राग बन जाता है। सदा ही गान आहो से फूटा करता है। यौवन मुस्काता रहता है, और जीवन की परिभाषा को नूतन बनाता है।" (राजेन्द्र सक्सेना)

एक नया दृष्टिकोण मनुष्य को नवीनता के प्रति कितना जागरूक बना सकता है, यह बात हमें स्पष्ट दिखाई देती है।

"सितार के तार अलग-अलग हैं, किन्तु तान में अनेकता नही है। चाहे आकाश में लाखो तारे हैं, परन्तु प्रकाश में महान एकता है। सूर्यताप और चन्द्र की शीतलता जगती के भेदो को नही जानते। किन्तु मनुष्य जो पृथ्वी के शासक हैं वे अपनी समानता को नही मानते। क्षुद्र भी महान का प्रतीक है जैसे बीज मे वृक्ष होता है। जैसे असीम वेदना के समुद्र को मैं अपने एक बूंद आसू मे सम्भाल लेता हू।" (गौरीशंकर ओझा)

सारी सृष्टि का कारण और मनुष्य के दुःख के कारण दोनों को ही कवि एक स्वर से सुनता है।

ही केन्द्र से उदय होती हैं। अन्त यह वैविध्य हमारी जागरूकता का प्रमाण है।

शरद के वर्णन में ऐसी विविधता के दर्शन हमें मिलते हैं। नदी सिमट गई, तो उसमें चमक आ गई, क्योंकि विस्तार की भावना निखार नहीं लाती

सिमट गई फिर नदी, सिमटने में चमक आयी
गगन में, वदन में फिर नयी एक दमक आयी
दीप कोजागरी बाले कि फिर आवें वियोगी सब
ढोलकों से उछाह और उमग की गमक आयी।
बादलों के चुम्बनों से खिल अयानी हरियाली
शरद की धूप में न्हा-निखरकर हो गई है मतवाली
झुण्ड कीरों के अनेकों फबतियाँ कसते मँडराते
झर रही है प्रान्तर में चुपचाप लजीली शेफाली।

×

साँझ, सूने नील में,
डोले है कोजागरी का दिया।
हार का प्रतीक— 'दिया सो दिया,
भुला दिया जो किया।'
किन्तु—शारद चाँदनी का साक्ष्य—
यह सकेत जय का है—
प्यार जो किया सो जिया,
धधक रहा है हिया, पिया।

—अज्ञेय

गाव कहीं पास ही है, शायद नगले में ढोलकों की आवाज आ रही है। अयानी हरियाली बादलों के चुम्बन से खिल गई है। हरियाली का खिलना एक बड़ा सार्थक प्रयोग है, जिसमें उसकी चमक और ताजगी प्रतिबिम्बित होते हैं। 'दिया सो दिया, भुला दिया जो किया', लोकगीतों की-सी सहज कोमलता लिए हुए है। और कवि को शरद की चादनी एक जय का सकेत जैसी दिखाई देती है। किन्तु तृष्णा भी तो है, सो हृदय में प्यार करके अभिमान भी है, और जलन भी। प्रकृति के मन से ऐसे ही तो तारतम्य हैं। जब वह व्यक्ति-पक्ष शान्त है तब फिर लोकरंजन ही सामने रहता है

दूर-दूर कनक-धूलि,
खुरों से उड़ाती हुई,
आती है साँझ कजरी,
गाय-सी रँभाती हुई।

स्वर्ग और सुख का वरण करेगा। नारी से ही यह मनु का वंश रक्षित है, वही आदि सृष्टि की धरित्री है।" (शिवमूर्ति मिश्र)

स्त्री और पुरुष दोनों की ओर ही कवि की दृष्टि समान रूप से जाती है। नवयुग के आदि कवि से कवि कहता है, "जन्म मरण की कथा में अमर बनता है। उसे शत-शत मरण भी नहीं मिटा सकते। चिरंतन पथ को छोटे-छोटे चरण नहीं छिपा सकते।" (सुधीन्द्र) "जिस जीवन में दुःख की ज्वाला है वह सोने से कुंदन बनता है। जिसका हृदय परदुःख से कातर होता है, वह अनश्वर गीत सजोता है।" (कुसुमकुमारी सिन्हा)

मिट रही है आज मानवता स्वयं
मानो कि की हाराकिरी भगवान ने
मन्द जीवन-ज्योति की रेखा सुनहली।

—महेन्द्र भटनागर

'लेखनी ही हमारा प्यार है, धरा पट है, सिन्धु मसिपात्र है, हम तुच्छ से तुच्छ जन की जीवनी पर भी कहानी, काव्य, रूपक, गीत आदि लिखा करते हैं।"

(नागार्जुन)

वह अपना 'नायक बदल' रहा है।
आज की मिटती चिता पर
उस नये युग के लिए निज रक्त निष्ठापूर्ण हो
अर्पण करो, अर्पण करो
और उसका इन्किलाबी शक्ति के नारे लिए
स्वागत करो, स्वागत करो!

—महेन्द्र भटनागर

"जो धरती की धड़कन नहीं सुन सकते, वह नभ का संगीत क्या सुनेंगे! शूलों की नोकों से डरकर फूलों से कोई क्या प्यार करेगा! जो थके चरण को अपनी करुणा का दुलार नहीं दे सकता, वह बढ़ते कदमों की आवी पर अधिकार नहीं कर सकता। जो प्यार असुन्दर को सुन्दर नहीं बना सकता, उस भरे प्यार की खातिर कोई क्या हँस-हँस कर मरेगा!" (गोपालकृष्ण कौल)

"बस अन्तिम साध यह है कि हम क्रान्ति के सिपाही हैं। तब तक प्यार औ सुख कहाँ है, जब तक धरती पर गुलामी है। शोषण का दनुज चूसना चिंघाड़ रहा है। जब तक उसका ध्वंस नहीं होगा, तब तक सुख और शान्ति कहाँ मिल सकती है?" (राजेन्)

कार्ल मार्क्स के प्रति आवेश में आकर कवि कहता है, "तुम जग-जीवन के नव-विहान हो। तुम महाक्रान्ति के अभियान हो। तुम करुणा की कातर पुकार हो। तुम दरिद्रता की प्रलय-तान हो। तुम साम्यवाद के विजय-गान हो।" (सोहनलाल द्विवेदी)

वहा व्यापकता की जगह हमे समाज की तीखी गन्ध हर श्वास मे मिलती है

है रँभा रही बछड़े से बिछुडी एक गाय,
थन भारी है, दुखते भी हैं !
आता गजनेरी सांड भटकता सडकों पर, चलता मठार,
क्या वही दर्द उसके भी है ?
जा रही किसी घर के जूठे बरतन मलकर
बदचलन कहारी थकी हुई,
चौका-बासन, सैना-बैनी में बिता चुकी यौवन के दिन
काटनी उसे पर उमर अभी तो पकी हुई !
बज रहे कहीं डफ-ढोल-भांझ, पर बहुत दूर
गा रही मस्त मदमस्त मजूरों की टोली
कल काम-धाम करना सबको पर नींद कहाँ—
है एक वर्ष में एक बार आती होली !
इस भोग-स्वाद से दूर, बन्द कमरे में, चिन्ता में डूबा
दार्शनिक एकरस एकाकी
है सोच रहा यह जीवन क्या,
मैं क्या, मेरी यह आत्मा क्या ?
सब कुछ खोजा, उत्तर न मिला,
कुछ भी न बचा मथकर बाकी !
यह दूर और ससार दूर, सब विशृङ्खल, सब छाया-छल,
हैं बिछुड परस्पर सुबक रहीं दोनो निर्धन आत्मा-काया !
रोए शृगाल, बोला उल्लू, हिल गई डाल, चौंका कुत्ता
जो भूंक उठा अब देख स्वयं अपनी छाया।

—नरेन्द्र

नगर के एक मुहल्ले का है यह चित्र। ग्राम से अलग है इसकी घुटन। फिर भी दलित जीवन मे अपना ही उल्लास है। होली आ गई है। बहुत ही बोझीला है यह वर्णन ! दार्शनिक एकाकी सोच रहा है। उसे कोई उत्तर नही मिला। सब कुछ कसकता है। उल्लू बोलता है, शृगाल रोते हैं। दृश्य कुछ बीभत्स हो उठता है, जब कुत्ता अपनी छाया देखकर स्वय ही रो उठता है। चादनी का उल्लेख भी नही है, जबकि कुत्ते का अपनी छाया होली के दिन देख पाना उसीकी ओर इंगित करता है।

एक ही कवि विभिन्न परिस्थितियों मे पडकर कैसे दो चित्र देता है। नरेन्द्र कुशल कलाकार है। उसने अनेक नये प्रतीक दिए हैं। उसके गजनेरी साड जैसे बिलकुल

जीवन को पूर्णतम बनाना प्रत्येक युग के मनुष्य की एक साध्य कामना बनी रही है।

"गति को गति के बदले कभी नही चुना। फिर लहरो के उत्थान-पतन कर भी क्या सकते हैं? जिसका जीवन संघर्षों का है, उसे कूल मे प्यार नही है। इसलिए मझधार उसे कभी भी डरा नही सकी। जीवन के राही को अवरोधो पर भक्ति नही हो सकती।" (राजकुमारसिंह 'कुमार')

यह ही है उसका नये रास्ते की ओर बढना। पूर्व चिंतन उसे ले जाकर एक नई समस्या के सामने खडा करता है।

ये खडी रूढियो की ऊँची दीवारें—
जीवन देनेवाले समीर को रोके!
उस पार कैदखाने के रह जाते हैं
अलमस्त हवा के ताजे-ताजे झोंके!
कुछ यत्न करो जिससे ऊँची दीवारें
बिखरें गिरकर मिल जाएँ मैदानो में!
फिर नई जिंदगी की फसलें लहराएँ
मस्ती की हस्ती भर कर इंसानो में!
लो, खुली हवा के खातिर हमको-तुमको
होगा समाज की परम्परा से लडना!
बल जोड सकेंगे हम इतना निश्चित है
तुम जरा गौर से मन की गीता पढ़ना।

—शिवकुमार

रूढियो से मुक्ति का संघर्ष निरन्तर बढता ही जाता है।

"प्राण का इतिहास यह है कि प्यास ही अस्तित्व है, जो कभी बुझना नही जानती वही प्यास होती है।" (श्रीहरि)

यह प्यास ही एक नये रूप मे 'प्रगति' बन कर आई है।

"मृत जर्जर खंडहर से नवयुग की सासें जग जाए। बीते युग के पतझड से नया मधुमास उग आए। आज शोषण की मीनार डगमगा कर गिर जाए। साम्राज्यो की दीवार लडखडा उठे। जालिम की कातिल खूनी तलवार टूट जाए। युगो के बाद कारा के द्वार टूट जाए। ध्वान्तमान अंबर मे युग का नया सवेरा जाग उठे। काले मृत्यु-प्रहर से जीवन की किरणें फूट पडें। अपना सूर्य युगो के बाद निविड तिमिर से निकल आए।" (घनश्याम अस्थाना)

एक ओर परपरा, एक ओर प्रगति। कवि दोनो मे एक तार बाधने की चेष्टा

यह वसुन्धरा, कभी न लगती इतनी प्रियकर
लता-कुंज-द्रुम लगते केवल मूक, तुच्छतर।
यदि न विश्व की वंशी में सुर का सरगम भर
छन्द बजाते समुच्छ्वसित खग मधुर महत्तर।

पृथ्वी की सुन्दरता बिना पक्षियों के कभी इतनी सुघर नहीं बनती, जितनी कि उनके संपर्क में लगती है। हम, जो गांवों में रहते हैं, इसका सारतत्त्व समझते हैं और इसे छायावादियों ने भी केवल सौन्दर्यप्रियता के कारण समझा था।

वर्षा का वर्णन करते हुए कवि कहता है

बह रही वायु सर्-सर् सर्-सर्
बरसते मेघ झर्-झर् झर्-झर्
कांपते पत्र थर्-थर् थर्-थर्

लो आज सजा है आसमान
धरती पर जीवन भासमान
लघु-लघु धाराएं धावमान
ऊर्मिल, द्रुततर, मनहर, सुन्दर
बहुवर्ण धरा, बहुरूप धरा
हो गई नवल जन-मनोहरा

यह परम पुरातन वसुन्धरा
गतिशील पवन ज्यों जीवन-स्वर
हो गया चित्रपट पूर्ण गगन
छविरूप वर्णमय चपल घन
पल में कुछ पल में कुछ बन-बन
क्षण-क्षण में प्रियतर सुंदरतर

लो उठे भूमि से हरितांकुर
शोभित है ग्राम-ग्राम पुर-पुर
हो आया शीतल मानव-उर
नव सृष्टि करेगा हो तत्पर
पाकर पावस का पावन क्षण
करती स्वरूप का परिवर्तन
तन से मन से बनती नूतन
यह प्रकृति सदा नव जीवन धर

—त्रिलोचन शास्त्री

मूक-सा कराह उठा। मज्ञागत इस विभीषिका पर भी 'कला-कला की माला' जप रहा है। तब तो मेरा मानव-तन धिक् है। यह हृदय की ज्वाला निष्फल ही दग्ध है।"

(शिवमंगलसिंह 'सुमन')

यह है समाज। इसमें कवि कब तक अन्याय देखता रह सकता है?

"जिसे तुम मेरी भूल कहते हो वही चिर संचित जीवन-गान है।"

(शिवबहादुरसिंह)

इसीलिए वह सब ओर देख-दाखकर अंत में अपने मन में कहता है—"आ री व्योमकुंजों की परी कल्पने! भूमि को स्वर्ग पर मत ललचा। हम तेरे स्वप्न तक नहीं उड़ सकते, शक्ति है तो आ, यहीं अलका बसा।" (रामधारीसिंह 'दिनकर')

और क्योंकि उस समय रूस का विकास मानव-विकास में एक अद्भुत वस्तु-सा दिखाई दे रहा था, कवि ने कहा

लाल सितारा हो ध्रुवतारा
शत्रु देख हहरे!
लाल ध्वजा यह मजदूरों की
लाल ध्वजा यह मजदूरों की
लाल ध्वजा यह है शूरों की
छू सकते साम्राज्य न इसको
भीरु देख भहरे!
हमारी लाल ध्वजा फहरे,
तुम्हारी लाल ध्वजा फहरे!
गड़े देश में लाल पताका
रोके [बढ़ बैरी का नाका
चले लाल सेना का साका
अन्यायों का सर्वनाश हो
आज न्याय ठहरे!

—सोहनलाल द्विवेदी

इसके मूल में यह भी था कि भारतीय कवि अंगरेजी शासकों के रूप में सारी अंगरेज जाति से घृणा नहीं करना चाहता था। वह शासकों और जनता को अलग-अलग करके देखना चाहता था। यह उसकी मानववादी परंपरा का ही परिणाम था।

"कई दिन से त्रस्त जीवन है और वेश अस्तव्यस्त। मन संतप्त है। प्राणों में निर्धूम चिंता की चिता जल रही है। भीत-सा प्रति रोम मेरा कांप रहा है और मेरी चेतना हिम-शीत जड़ता में जकड़कर चेष्टा से हीन निर्जीव मौन हो गई है। ऐसी विषम स्थिति में

कहता है :

सुहागिन उठो,
चलो, यह धूप,
हमारा रूप !
इसीसे खून हमारा गरम,
इसीसे बोल हमारे नरम,
इसीसे मन में प्राण
इसीसे गान कि जो वर्षा में गूंजेंगे,
इसीसे कजली, कदम, हिंडोल
इसीसे मुरज, पखावज, ढोल ;
इसीसे हास, इसीसे रास,
इसीसे धरती पर आकाश
सुहागिन उठो,
ओढ लो धूप,
निखारो अपना-अपना रूप !
धूप पर हँसो,
कछोटा कसो,
खेत पर चलो समुन्नत भाल
काँस खोदो, काटो जजाल।
बेर के वडे
जला दो आगे होकर खडे !
पसीने की धारा बलवती
धरा जिससे बनती फलवती,
महाओ दूघो, पूतो फलो,
सुहागिन, चलो, खेत पर चलो !
धरा का परम सुहाग !
गगन की आग
आग-बबूला सख्त सुर्ख सूरज
खेल रहा है फाग !!

—भवानीप्रसाद मिश्र

धूप का यह वर्णन बिलकुल नया है। सारा जीवन सूर्य के ही कारण चल रहा है। इस धूप को ओढ़ लो। इसपर हसो। बाधाओ को हटा दो। यह धूप तुम्हें समृद्धि देगी।

मानदण्ड युग-भेद से बदल जाने पर भी वस्तु-सादृश्य मे भेद नही कर सकते, यो अपने अह्-कार की तृप्ति मे हयो की जगह ऊटो की सृष्टि करनेवाले विश्वामित्रो को तो दूर ही से प्रणाम करना श्रेयस्कर होता है। हमे काव्य के स्थायी तत्त्व की प्रतिष्ठा करने के लिए अवश्य ही ऐसी भूमि चाहिए जो सार्वजनीन हो। सूर के बाल-वर्णन, तुलसी के रामराज्य-वर्णन, कबीर के जाति-पाति-विरोधी वर्णन, कालिदास के काम-कला विभूषित वर्णन और मायकोवस्की के क्रांति-वर्णन के विभेदो के एकत्व को न देखकर जो उनके रसमूल एकत्व को विभेद करके देखते हैं, वे घोघे को ही सीप कहनेवाले लोग हैं। वे छायावाद को भाषा शैली के लिए एक देनमात्र समझते हैं, और कुछ अधिक नही। प्रकृति के विषय मे लिखी निम्न कविता का उनके सम्मुख कुछ भी मूल्य नही है

मेघमाला-सी मुदित मन के लिये,
रगशाला-सी रसिक जन के लिये
मूक हाला-सी प्रणय की चेतना
प्राण, ज्वाला-सी हृदय की वेदना
कह सकूँगा क्या, सखा मैं कौन हूँ ?
तुम उदार बनो सुहृद मैं मौन हूँ।

—श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल'

किन्तु यदि इसे सचाई से देखा जाए तो इसमे हमे जीवन की एक गहरी अनुभूति मिलती है। इसमे लौकिक को अलौकिक रूप मे रखा गया है और मानस के अनेक सस्कार यहा वेदना की अनुभूति बनकर प्रश्न करते हैं और सोचने मे तो निराशा, परन्तु वस्तुत दार्शनिक तत्त्व से भरकर पूछते हैं कि मनुष्य की अपनी सत्ता क्या है, बल्कि है ही क्या ?

परन्तु ऐसे चित्र नये युग मे बहुत कम मिलते हैं, क्योकि इनमे दृष्टि का प्रसार नही है, गहराई अवश्य है।

काव्य मे इतनी क्षमता है कि वह अपने एक ही स्वर से अनेक स्वर ध्वनित कर सकता है। ऐसी ही नरेन्द्र की एक कविता है जिसमे वह वर्णन तो वसत का करता है, किन्तु नवयुग के जागरण की पूरी तस्वीर उसमे उतर आती है। और एक-एक शब्द एक-एक कोश बनता हुआ हमारे सामने खुलता है। मैं बिहारी का दोहा नही बना रहा हू यहा, बल्कि इस अदेसे को देख रहा हू कि कितना साधव मौजूद है, परन्तु आलोचक उसे देख नही रहे हैं। लाल पलाश क्राति का प्रतीक है। वह जागरण है। वह सस्कृति का राग-तत्त्व है। वह आलोक की पुजीभूत सफलता है, तभी तो वह अपना जैसा बनाने की क्षमता अपने भीतर रखती है। प्रकृति का 'लाल लाल है पलाश' वाला चित्र इस रूप मे कैसा लगता है

उसके अस्तित्व का विकिरण है। वह चिंतन-मात्र से भी शरीर-धर्म •
इस जगह धर्म की गाठ दिखाई देती है। इसीलिए वह क्षण-भर गंभीर व
सोचता है

"दिन के मीठे घूटो को जो बचपन पीता चलता है, वह क्या किसी यौवन के तीर पर नही पहुच जाता ? जो सरिता बहती ही रहती है,वह सागर मे हिल-मिलकर हसती है। जो चलना ही रहता है, मजिल उसमे बहुत दूर नही रहती। न तो आगत का प्रश्न है, न पतन की सीमा है। युग-पथ प्रत्येक चरण पर मृत्यु की धमकी दे रहा है। फिर भी एडी जमती जाती है और पजे आगे बढते जाते है। जो चढते-चढते रुक जाता है, उसे विश्राम नही समझना चाहिए। प्रत्येक चरण इस जीवन का आगे, आगे ही चलता है।"

(उदयशकर भट्ट)

यही चिंतन जब अपने वैयक्तिक सघर्ष के पक्ष को उभार लाता है तब उसमे एक खीझ-सी आ जाती है। व्यापक रूप से वह सुख को देखता है। सुख वैयक्तिक-सा ही दिखाई देता है। उसकी खीझ बढती है। नया चिंतन उसे चैन नही लेने देता। वह कहता है :

"मैं अपने जीवन मे कैसे कह दू कि अब इसका गति से कोई परिचय शेष नही है। इस मन को मैं कैसे भावुक कहू, इसे तो जडता मे भी कोई क्लेश नही है। कमजोरी के गीत बनाकर क्या गाना ! वह कविता ही क्या जिसमे नई उठान नहीं हो। हाय मेरे प्राण बुझ गए, कवि भी मर गया। अब मुझे अपने पर कोई अभिमान नही है।"

(भारतभूषण अग्रवाल)

परतु यह स्वर जब रूप बदलता है तो सात्वना मिलती है

"यह जगती बहुत भोली है, इसमे स्नेह का चषक छलक रहा है। जीवन प्रेम है, प्रेम जीवन है।" (कोमलसिंह सोलकी)

प्रेम ! प्रेम की उदात्तता सिद्ध करके, प्रेम को ही व्यापक बनाया जाता है। क्योकि उसे अधिक महत्त्व दिया जाता है

यह सुधा है, पी रहा हूँ
मै अमर बन जी रहा हूँ
जो मुझे दुख दे रही है
वह हृदय की अप्सरा है,
कौन कहता दुख बुरा है !
शांत हूँ मैं देख जीवन
शात हूँ मैं सुन मरण-क्षन
आदि जिसका, अन्त उसका
प्रकृतिसिद्ध परम्परा है।

—देवराज दिनेश

और शीश पर बाँधे फेंटा
स्वेद-बूंद टपटप कर गिरती
डोगी खाती लहर-चपेटा
काले स्याह हस्त-युग मेरे
यहाँ निरतर डाँड हिलाते
थक-थक, रुक-रुक कभी बीच में
'साथी' औ' 'मैं' दोनो गाते

—शलभ

'साथी' का प्राय प्रयोग युद्ध की ललकार के लिए किया जाता है। यहा वह सग मेहनत करनेवाले से स्नेह के लिए आया है। अपने यहा ऐसी रचनाए सचमुच कम है। किन्तु भविष्य मे वे और और आएगी इसमे कोई सन्देह नही है। काले हाथो का डाड हिलाना न केवल चित्रात्मक है, न केवल उसमे श्रम की ध्वनि है, वरन् उसमे है जीवन का वह अनथक विश्वास जो कि इसकी सारी शक्ति है। दरिद्रता रोकनेवाली चीज है, परन्तु यहा लहर-चपेटा खाकर भी जीवन की मौज लेने निकली हुई डोगी रुकती नही। थक भी जाए, रुक-रुककर भी चले, तब भी गीत नही रुकता, वह बीच के व्यवधानो को पार करने का सबल दिए चलता है। और छोटा सा साथी जीवन के कोमल स्वप्नो की याद करता है कि यहा से 'पिककूजन' दूर है। कमलो के वन का अभाव अन्त मे जाकर पूरा हो जाता है।

केसरी ने अपने 'चकोरी' मे एक बहुत ही स्थायी रचना साहित्य को दी है।

कवि-सत्य के रूप मे यह प्रवाद चला आ रहा है कि चकोरी एक ऐसी चिडिया है जो चन्द्रमा को देखती रहती है और उसके अगार चुगती है। हिम से अगार ! चकोरी कहती है कि मैं तुम्हारे हिम मे से अगारे चुगती हू, चुगती हू चिनगारी कि प्राणो मे कभी न बुझनेवाली प्यास जल उठे ! कैसी विभोर सर्जना है। इसमे कितनी शक्ति और कितना प्राण है ! नयन हास पीते हैं, मुख अग्नि !

चुगती चिनगारी कि जले प्राणो में ऐसी प्यास पिया
युग-युग बुझे न, दृग पीवे शाश्वत तेरा हिम-हास पिया
हिय पीवे अगार नयन में चुए अमिय-रसधार पिया
होड आग-पानी की रे कहता जग जिसको प्यार किया
जाना प्राप्य-अप्राप्य, न जाना तुमको केवल एक पिया
आह ! न लूंगी में विवेक देकर अपनी यह टेक पिया
झूल-झूल सूली पर जीते-जी ईसा होना सीखा
एकव्रता में सती-सुहागिन चिता-सेज सोना सीखा

पथ मुक्ति-साधन न श्रम-भार !
गति ही विजय है, अगति हार !

—शम्भूनाथ सिंह

मुक्ति उसका केन्द्र है। साधना से ही उसका लगाव है।

"मेरे मन ! कष्ट-गहन को सहन करो। यह मत समझो कि दुःख में दुःख की कथा का ही गौरव है। जब तक प्रतिकार न हो, तब तक सहते रहो। जब तक यह बोध न हो कि मुझमें भी क्रोध है, और मैं प्रतिशोध लूंगा, तब तक कष्ट सहन करो।"

(रघुवीरसहाय)

दुःख का निरावरण ही उसका मुख्य उद्देश्य है, चाहे उनकी अभिव्यक्ति किसी भी रूप में हो।

"अपने भाग्य को दयामय मसीहा बनाकर एक बार एक वन में हाथ उठाकर दुखी बोल उठा। वहीं एक चट्टान पर सिर पटककर पपीहा अपने हृदय के रक्त से लिख गया सफल यात्री को जगत् के सफर में प्रणय ही तरी है, प्रलय ही किनारा है।—एक दिन नदी के किनारे एक विकल प्रेमी अपनी ज्योतिबाला के बारे में सोचता खड़ा था कि घड़ी एक में एक ट्रेन उधर से निकली, जिसने तिमिर चीरकर लौ-उजाला फेंका। बड़े मुक्त स्वर से ट्रेन ने कहा 'मुझे संसार में आदमी ने सँवारा है।'"

(शिवबहादुरसिंह)

मनुष्य सब पर छा गया है। इसीलिए स्वतः ही कवि को अपनी सारी परिभाषाएं बदलने को विवश होना पड़ा है। वह पुरानी चीजों से बाहर निकल आना चाहता है।

"नशीली आंख, अधर कोमल, अलकें सौंदर्य की बासी निशानी बन चुके हैं। आज युग को नूतन इतिहास, शब्द, शैली, भावना, विश्वास, सब कुछ नूतन चाहिए।"

(खुशदिल)

इस तरह वह अतीत से प्रेरणा तो लेता है, किन्तु उसका अनुकरण नहीं करता। परन्तु यह एक आवेश है, या है बौद्धिक चिंतन। अब वह शरीर-धर्म को प्रकृत मानकर उसे अपना लक्ष्य नहीं बनाना चाहता। चाहता है ऊपर उठना और प्रकृत को प्रकृति के सामने रखकर केवल साध्य न मानकर उसे साधना-मात्र बनाना चाहता है -

हां देख शुकों को, काकों को, हंसों को
नभ की अनन्तता से नित स्पर्धा करते
क्या कभी सोचते हो तुम अपने मन में
हम भी क्यों नहीं उड़ान हृदय में भरते ?

(४) व्यक्तिगत वासना अपने स्वरूप में ही प्राय प्रकट हुई है।

(५) भाषा की दृष्टि से सहज को ही अधिकतर अपनाया गया है। पदावली प्राय ही कोमलतम बनाने का प्रयास मिलता है।

(६) नये क्षेत्र मे नवीनता का ही लाघव नही है, उसका राग-तत्त्व स्थायी भावो को लेकर ही चलता है।

अत मे इस विषय को हम एक और उद्धरण देकर समाप्त करते हैं, जिसमे कमनीयता और गति का छद बहुत ही सम्यक् सतुलन देता है

वसन्त के चपल चरण !

पिकी पुकारती रही पुकारते धरा-गगन
मगर कहीं रुके नहीं वसन्त के चपल चरण !
असंख्य कांपते नयन लिए विपिन हुआ विकल
असख्य बाहु हैं विकल कि प्राण हैं रहे मचल
असख्य कठ खोलकर कुहू-कुहू पुकारती
वियोगिनी वसन्त को, दिगन्त को निहारती
वियोग का अनल स्वय विकल हुआ निदाघ बन,
मगर कहीं रुके नहीं वसन्त के चपल चरण !

—रामदयाल पाण्डेय

यह है वसत की महागति। मै तो कहूगा कि नये वसत की गति है। 'चचल पग दीपशिखा-से धर गृह मग वन मे सुलगा वसत,' की परपरा और भी सुदर चित्र लाई है। इस कविता मे केवल कोमलता ही नही, ओज भी है और इसीलिए इसमे जो स्फुरण-शक्ति है, वह बहुत ही आकर्षक है।

यह सत्य है कि छायावादी कवियो के बाद किसी एक कवि ने अभी उतना महत्त्व नही पाया है, जितने की आशा थी, किंतु मैं समझता हू इसका एक कारण यह भी है कि बाद के कवियो को ठीक से पढा भी नही गया है। साहित्य मे आलोचना का क्षेत्र इतना विनष्ट हो गया है कि उसमे अभी ऐसी आशा तभी होगी जब लोक मे और अधिक शिक्षा फैलेगी और कवि तथा पाठक का सीधा सपर्क स्थापित होगा।

हँस-हँस हृदय-रुधिर से जग के कालेपन को धोता हूँ मैं
स्वर्ण-कुसुम फूटेंगे, बलि के बीज मधुर नित बोता हूँ मैं
तुम वसन्त लो चिर मंगल का मैं पतझार लिए जाता हूँ
जीवन के कण-कण को मैं ही यौवन ज्वार दिए जाता हूँ।
चिनगारी देने आया था—इनको मुट्ठी-भर चिनगारी
एक बार बस जल उठने की अब आई है इनकी बारी
तब तक अचल मानवता का मैं सुकुमार लिए जाता हूँ।
दुर्वह भार लिए कंधों पर पथ को पार किए जाता हूँ
पुतली में तस्वीर बसी जो उसको देख जिए जाता हूँ।

—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

सुन्दर के प्रति अनुरंजित आवेश के क्षण में कहीं अधिक हो जाती है। जो देता है वह मूल्य को बहुत बढ़ा भी देता है

"मरने से डरनेवाले को ही मृत्यु द्वार पर खड़ी होकर डराती है। मरनेवाले को अमरता जयमाला पहना जाती है। स्वार्थ-विहित भयभीत हृदय में अविनाशी का वास नहीं होता। जो भय की मकड़ी के जाले को तोड़ चुका हो, वही जीवित है। मरने से डरनेवाले को ही मौत निगल-उगलकर खा रही है।" (नरेन्द्र)

यों मृत्युञ्जय होने का यह स्वर विकास का ही स्वर है, व्यक्तित्व को बड़ा करने का ही माध्यम है, उपदेश-मात्र नहीं है। तभी कवि कहता है

प्रबल पवन से न डर बटोही
दिया जलाता हुआ चला चल।

तिमिर न होता अगर जगत में, प्रकाश का कुछ न मोल होता
अगर उदासी हुई न होती, सुहास का कुछ न मोल होता
बता रही हैं यही घटाएँ कि लोचनों को सजीर कर ले
सिखा रही हैं यही बिजलियाँ कि मुस्कराता हुआ चला चल।

अगर थकावट हुई न होती विराम की क्यों घड़ी सुहाती?
डगर कठिन यदि हुई न होती कभी न मंजिल हृदय लुभाती!
बता रहे हैं यही सितारे—'अगर न मंजिल मिले न घबरा!'
सिखा रही हैं यही हिलोरें कि पग बढ़ाता हुआ चला चल।

अगर गरल ही हुआ न होता, सुधा जगत में किसे सुहाती?
अगर विरह ही हुआ न होता, घड़ी मिलन की न याद आती।
बता रहा है यही पपीहा कि प्यास में भी बड़ा मज़ा है
सिखा रहा है यही मधुपरस—'तृषा बुझाता हुआ चला चल

. गाता
..ला बना है

प्रस्तुन किया जा रहा है।

कवि का व्यक्तित्व समाज मे ग्रपने भी सुख-दुःख लिए रहता है। जब वह उन्हे महत्व नहीं देता तब हम उसे किसी वडे रूप की ग्रोर बढ़ते हुए देखते हैं। वह कहता है

रक्त से खींचा गया यह
चित्र तुमको सौंपता हूँ।

×

कर न पाया दूर
इसको एक भी क्षण के लिए हूँ,
एक पल भी सह न पाया
मं उदासी की झलक,
जो कभी इसपर ग्रा गई है!
तब यही चाहा कि
ग्रपने प्राण की सञ्जीवनी को घोलकर
इस चित्र की प्रत्येक नस में फूंक दूं मं।
जब कि ग्रांधी का भयानक दैत्य
ग्रपने वज्रपग धर जगमगाती भूमि पर उन्मत्त जैसा
ध्वंस का गायन सुनाता
प्रलय वीणा की मिला लय
सबल धारासार वर्षा में किलककर
तड़ित जैसे दांत घिस निश्चिन्त होकर घूमता था
तब समेटे बांह में इस चित्र को मैंने सदा ही
शुचि हृदय के स्पदनो के बीच में रक्षित किया है।

—राजेन्द्र यादव

वह समाज की कथा को एक भी क्षण के लिए ग्रपने से दूर नही कर पाता। वह एक मृत व्यवस्था मे जीवित श्वास फूंककर उसे फिर से सन्नद्ध बना देना चाहता है। ग्राधी का दैत्य शोपण का प्रतीक है। तडित् जैसे दातो का घिसना ग्रच्छा चित्र है। जीवन के इस चित्र को कवि हर तरह से वचा लेना चाहता है। ग्राधी ग्रौर पानी की उसे इतनी चिंता नहीं है, क्योंकि मन मे कही न कही वह यह ग्रनुभव करता है कि यह सकट स्थायी नहीं है। ये ग्राते हैं। चले जाते हैं। किंतु यह जो चित्र है, यह वहुत महत्त्वपूर्ण है। यही तो सभ्यता ग्रौर सस्कृति है। यदि यही नष्ट हो गया तो उसके पास वाद मे वच ही क्या जाएगा?

कवि का मन ग्रव पुराने बधनों को छोड रहा है। वह पुरानी स्वार्थपरक या ग्रात्म-

लेकिन आज उसका दर्प है विच्छिन्न, अवनत शीश,
जल पर तैरते जलयान के ये अनगिनत लघु खण्ड
जैसे कर रहे हों महत्तम अस्तित्व पर
छिपकर भयंकर व्यंग !

×

आज पहली बार शायद जिंदगी में कर रहा महसूस मैं—
कुछ उँगलियाँ मुझपर निरंतर उठ रही हैं।
मैं नहीं समझा कभी मेरी महत्ता का कहीं अस्तित्व भी है।
किंतु दुनिया की नजर में आज मेरा दर्प,
मेरे अहम् का विस्फोट
मेरी रागिनी को शक्ति बनकर
एक जलती चुनौती दे रहा है !

—घनश्याम अस्थाना

व्यक्ति का स्वाभिमान भी आज स्वीकार नहीं किया जाता, क्योंकि उसे तो चोट देने की ओर ही प्रयत्न हो रहा है। आत्मा में हीनत्व की भावना भी अपनी कचोट के गर्व का ही परिणाम है। किन्तु कवि-हृदय की कामना इस प्रकार है

"कवि की वाणी अमृतमय हो जाए। वह मृतकों में नव जीवन भर दे। मन में सुन्दर इच्छाएं रखकर मानव सुख से निर्भय विचरण करे।

"चिर अँधियारे पथ को पार करके उजियारा पथ मिले। तन, मन, जग और जीवन मंगलमय हो जाए। युग की प्रतिनिधि कल्याणी कवि की नववाणी धन्य हो। सब उसकी जय-जय गाए।" (तारा पाण्डे)

यह एक पल का चिन्तन है या यही कवि के व्यक्तित्व की समग्रता है? मैं समझता हूं कि जीवन में अनेक पक्ष होने के कारण अनुभूति समय-समय पर विभिन्न रूप से अपने को व्यक्त करती है। कभी-कभी घटना-विशेष से प्रभावित हो जाने के कारण हमें दृष्टिकोण में एक प्रकार की भ्रांति भी दिखाई दे जाती है। ऐसी रचनाओं में हमें वैयक्तिकता के अतिरिक्त लोक-प्रभाव की ऐतिहासिक घटना भी देखनी चाहिए। कवि अपने को अभावों से ग्रस्त पाता है तो वह अपने को अलगाव के नाम पर विद्रोह करता हुआ प्रकट करता है :

तुम्हें चाहिए प्रेम, प्रेम से मेरा क्या नाता !
तुम सुख के सर्वस्व, और मैं दुःख का निर्माता !
कल प्रभात होते चल दूँगा, अलख गीत गाता !
मैं अपने पथ के कण-कण में अपनापन पाता !

—श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल'

पथ का यही अभिमान कर लें।" (कंचन)

पथ का अभिमान क्यों ? क्योंकि अकिंचन बनकर जीवित रहने में कवि को कुछ मर्यादा दिखाई नहीं देती। हम जीवत मानव को देखते हैं।

"हमीं अकेले नहीं, सारी सृष्टि यहां तपा करती है। एक-दो बूंद नहीं, सावन-भादों के जलधर उमडते हैं। जब तक बूंद-बूंद रवि की ज्वाला पर अपना जीवन तौल रही है तब तक तो सावन-घन ऊसर को उर्वर करने से चूक नहीं सकते।" (शिवमङ्गलसिंह 'सुमन')

पथ होना चाहिए। उसके बिना लक्ष्य भी क्या कर सकता है। कवि कहता है :

पथ की पहचान यदि पग को न हो
तो बिचारा लक्ष्य आखिर क्या करे।
भूल-शूलों का बिछा यदि जाल हो
तो चरण का वक्ष आखिर क्या करे ?
हाथ में यदि तोड़ने का बल न हो
भाग्य का लघु वृक्ष आखिर क्या करे !
हो हृदय में घोर तम लिपटा हुआ
तो उजेला पक्ष आखिर क्या करे ?

—शिवशंकर मिश्र

विश्वास ही मारे सत्य का आधार है। उसके बिना कुछ भी नहीं है, क्योंकि दृष्टिकोण उसपर ही तो आश्रित है। मनुष्य कौन है। वह तो बहुत व्यापक हो गया है। दर्द की वजह से उसकी सत्ता बहुत ही सार्वभौम और सार्वकालिक हो गई है।

"सोने में तीनों लोकों की पीर लिए हू। आंखों में सावन-भादों की तस्वीर लिए हुए हू। मैं कवि हू, मानव-संस्कृति का निर्माता हू। मैं अपनी वाणी से मुर्दों में प्राण जगाता हू। ब्रह्मा तो बस एक दिवस ही सृष्टि बनाता है। परन्तु मैं नित्य नया संसार बनाया करता हू। दुनिया से मौत जीत गई, लेकिन कवि से नहीं। कवि तो मर जाता है परन्तु कविता कभी नहीं मर पाती। दुनियावालो ! तुम कवि का सम्मान खरीदोगे ? आसू दे-देकर क्या मीठे गान खरीदोगे ? ओ कुर्सी के हैवान दीवानो ! क्या तुम चांदी के टुकड़ों पर ईमान खरीद लोगे ? मैं उन मतिमंद सत्ताधारियों पर हमला हू जिन्हें नादिरशाही प्रतिबंधों पर विश्वास है। शायद वे नहीं जानते कि छत्रसाल के कंधों पर ही भूषण की डोली उठती थी।" (रामकुमार चतुर्वेदी)

कवि का गौरव अपनी चेतना को ही नहीं, सामाजिक परिस्थित को भी उठाना चाहता है। इसके लिए वह बदला देने को भी तैयार है, "आज इतना तप कि पत्थर पिघल जाए। ज्योति तम को भेद दे, किरणें निकल आए। अब मरण का प्यार भी विफल क्यों जाए ? साधना ही सिद्धियों में बदल जाए।" (सुमित्रा कुमारी सिन्हा)

अपनी सीमा में घुट-घुटकर
उसे प्राण खोते देखा है !

×

मैंने इन अपनी आँखों से
लौह चक्र चलता देखा है !

—श्यामबिहारीशुक्ल 'तरल'

दर्शन का जीवन से गहरा संबंध है। दर्शन का विकास मानव संस्कृति का विकास है। काव्य का इसीलिए दर्शन से संबंध है। प्राचीन साहित्य का सिंहावलोकन इसे और भी स्पष्ट कर देता है। काव्यशास्त्र में दर्शन की मान्यता भाव-पक्ष के माध्यम से हुई है। हिंदी काव्य में मध्यकालीन दर्शनों का प्रभाव संतवाणी में दिखाई देता है। संघर्ष और असंतोष तब भी था, किंतु उसका रूप तब दूसरा था। व्यक्ति की समस्या तब प्रधान थी। नये समाज के परिवर्तन ने व्यक्ति के साथ समाज को सामने रखा। विगत समाजों के मानसिक स्तरों का परिचय हमें काव्य द्वारा ही मिलता है। आधुनिक काल में दर्शन की व्याख्या भी बदली है। प्रभावशाली विचार मानव की मुक्ति मानने का प्रतिनिधित्व करते हैं। दर्शन और व्यक्ति का दृष्टिकोण इसीलिए बदला हुआ है। हमारी परंपरा ने ही इस विकास को जन्म दिया है। नवीन दर्शन और मानवतावाद की समस्या पुरानी परंपरा की भूमि का ही विस्तार है। अब दर्शन अपना रूप अधिक सार्वभौम कर रहा है। आत्म-परमात्म का तादात्म्य अब दूसरे रूप में होना है .

वेद की ऋचाएँ, सूत्र उपनिषदों के
फाड़कर आवेष्टन जीर्ण धर्मशास्त्रों के
मचल उठे धरती पर साकार होने को।
विरस जन की आँखों के मुँदे हुए कपाटों में
व्यक्ति के अन्तर की कैदी अनुभूति रहकर
सबल शोषकों की मुट्ठियों में अब बंदी रह न सकेगा,
निखिल चराचर की समता के गायक ऋषियों का मंत्र-दर्शन।
अब यह पिण्ड, रूप, रंग, आकार लेगा
विश्व के इस विराट वस्तु-व्यापार में।
भूमा का ऐश्वर्य न रहेगा मात्र भोग-दासी बनकर
कुछ मुट्ठी-भर सत्तावानों और धनवानों की :
न रहेगा वह मात्र बौद्धिक-आध्यात्मिक चर्चा का विषय
कुछ महलों की रसीली दावतों औ' सुगन्धी शय्याओं पर।
ऋषियों के ऋत, सत् और भूमा प्रकट होंगे अब

लुंठित संस्कृति को अपना पथ-निर्माण चाहिए। जीवन बिखर भी रहा है और निखर भी रहा है। एक को प्राण और दूसरे को त्राण देना है। जीने को यह लोक बना है और मरने को परलोक। तुम्हें और कितना प्रमाण चाहिए कि तुम्हारा इतिहास कलुषित है।"

(उदयशंकर भट्ट)

वह तो नया दे रहा है सब कुछ। उसमें कोई प्रश्न कर बैठे तो कवि उसे कैसे स्वीकार कर सकता है! क्योंकि संशय ही पराजय का मूल स्रोत है।

इसीसे कवि मानता है

"सुनो! मृत्यु का अवगुण्ठन खुलने से पहले ही जीवन का अभिमान शांति करनेवाला है। शासितों का रक्त एक दिन रंग दिखाएगा। सब पापों के दुर्गम दुर्ग बिखर जाएंगे। सभी विरोधाभास एक दिन टल जाएंगे। यह जीवन का विश्वास टलनेवाला नहीं है।" (कुमार)

विश्वास भी कितनी बड़ी चीज़ है। यह किसके अंतर्गत आ सकता है! यह प्रेम के भीतर की बात है

> आज तो पतवार है, मझधार है, तट का तकाजा।
> फूल जीवन का चढ़ा कल अर्चना में भी करूंगा।
> आज भी तो मौत भिक्षा को खड़ी दामन पसारे
> सांस दे लूं, कल मदद की याचना मैं भी करूंगा।
> दर्द की हद भी हुई क्या, आह भरता हूं अभी तो
> कि शपथ इनकार की मैं चाह करता हूं अभी तो
> भांक जाती जब नयन से प्राण की दुनिया रुआंसी
> और जीने के लिए सौ बार मरता हूं अभी तो
> आज तो इस धूल से है हर कदम पर हार मेरी
> जीत लूं तो स्वर्ग की कल कामना मैं भी करूंगा।

—हंसकुमार तिवारी

प्रेम ही संवेदना का आधार है। वही स्वतंत्रता चाहता है, "मानव वही है जो सिर्फ मुक्ति में ही जीना जानता है। जो देश के लिए प्राण देना जानता है, जो मानव-धर्म-मात्र को ही मानता है, वही मानव है।" (तेजनारायण काक)

देश तो केवल एक अभिव्यक्ति है। उस क्षण की मर्यादा है। अन्यथा वहां तो और भी व्यापकता है

"सांसों में साधों की बरबाद कहानी कब तक पीड़ा का तोल करेगी? कब तक मिटी जवानी सांसों पर मजबूर अपनी ही लाश लिए चलती रहेगी? यदि तुमने प्राणों का विश्वास तोड़ दिया तो वह जिंदगी में ही उठ जाएगा। सच, तब मुझसे जो मुझको गानों

"जिस तृषा पर पथ का गतिरोध पल रहा था, ग्राज कवि उस कल्पित तृषा की जड हिलाना चाहता है।" (शैलेश) "पथ पर मिटनेवालो का बलिदान व्यर्थ नही जाता। जो राही पथ पर बलि होता है वह मंजिल को समीप लाता है।" (ब्रजमोहन गुप्त)

"इधर रूप की सुदर जुल्फें सुदरता की ग्राग लगाती हुई, राज-ग्रटारी मे पलगो पर भोग-विलासो को फैलाती हैं, दिन मे जो दुनिया मे धर्म ग्रौर सत्ता का रास रचाते हैं, वह रात मे ग्रविचारी-व्यभिचारी दानव बन जाते है। इसीमे सुदरता की जुल्फो की सौगध लेकर ही परिवर्तन का लाल सितारा ग्राज नई ग्राग लेकर जल उठा है।" (ग्रचल)

"पथ भले ही थके, किन्तु यह चरण ग्रविराम चलते रहे।" (शान्ति) "पखो से पत्थर बधे हैं। नित्य नभ के ग्रामन्त्रण ग्राते हैं। प्राण तडपकर रह जाते हैं। ग्रब तो कवि पाषाणो को रगड-रगडकर ज्वाला उपजाकर जल मरना चाहता है।" (चिरजीत) "वह भले ही रीता-सा दीप है, किन्तु जलता तो है। उमे स्नेह नही मिला, इसीलिए प्रतिभा का रग नही खिल पाया, फिर भी यह क्या कम है कि वह ज्योति जगाता है। वह स्वय मिटता है, परन्तु ग्रौरो को राह दिखाता है। वह नत होने को पाप समझता है। माना कि वह तम से जीत नही सकता, किन्तु कम से कम उसको ग्राखो मे सलता तो है।" (रामकुमार चतुर्वेदी) "सपनो की ग्रटारी के दरवाजे बन्द करके कान मत मूदो, बाहर तूफान गरज रहा है।" (भारतभूषण ग्रग्रवाल)

जगती के विपण्ण ग्रांगन में, ग्रमृतपुत्र, ग्रभिनदन !<br>मांग रहो म्रियमाण मनुजता है तुमसे नवजीवन !<br>प्रगटे स्वर्णशस्य धरती पर, ग्रागत मगलमय हो !<br>नूतन युग के नव-मानव की दिशि-दिशि में जय-जय हो !<br>नई चेतना के निर्माता, करो ग्रमर वह सर्जन !<br>मांग रही म्रियमाण मनुजता है तुमसे नवजीवन !

—ग्रानन्दनारायण शर्मा

"कवि एक पगतल में पडा लघु तिनका है। ग्रभी उसका दो दिन का नया ग्रस्तित्व है। उसे झझा के झोंके भुलाते रहते हैं। जीवन का पथ सदा बदलता रहता है। परन्तु तूफानो से उसकी पुरानी प्रीति है। वह गत इतिहासो का भग्नावशेष है। परन्तु वह लघु दीपक की जलती हुई जवानी है।" (श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल')

"कवि का जीवन, नव ग्राशा-रस से विकसित होकर, प्रेम-प्रीति-परिमल से सुरभित होकर, मानव-मन का ग्रालिंगन कर रहा है।" (केदारनाथ ग्रग्रवाल)

"ग्रब तक काम ही काम रहा, विश्राम नही। पथ ही को श्रेय मत समझो, श्रेय तो धाम है। किसीकी मधुर याद, किसीका विद्रोह लेकर मोह से क्यो बधे हो!" (सुधीन्द्र) "मन का दिया ज्योति नही देता यदि उसमे ग्राग नही जलती। दु ख के दाहो से ही हमारा

आदमी को गफलतों की नींद से जैसे जगा दें
प्राण मेरी
बुरा मत मानो
कि झूठा है तुम्हारा प्यार—

—गोपीकृष्ण गोपेश

यह है वास्तविक प्यार। वह केवल व्यक्तिपक्षी नहीं है। यों धर्म और रति के मिलन से 'मानवीयता' का जन्म होता है।

"जो पीड़ितों में एक्य का सचार कर रही है, ये तुम्हारे प्यार की कड़िया अमर होंगी।" (रामकुमार चतुर्वेदी)

इसीलिए कवि अब प्यार को परिभाषा बदल रहा है। मनुष्य का स्वभाव है एकरसता से अपने मन को सिद्ध करना, जैसे धातु या पारे को सिद्ध किया जाता है। उसके द्वारा मनुष्य व्यक्ति, समाज और चराचर का पहले मन में स्पष्टीकरण करके एक सामजस्य और तादात्म्य बैठाता है। उसके बिना उसे सब कुछ सूना-सूना-सा लगता है। वह जैसे दूसरों का न्याय्य नहीं बना सकता।

इतिहास का विशाल विगत रूप देखकर वह हार नहीं मानता, नया आह्वान देता है

"सदियों से मरघट की लपटें जग में उठती आई है, अब मरघट को मधुवन के गीत बुलाने हैं।" (बलबीर रत्न)

मधुवन के गीत मरघट को कभी नहीं बुला पाए थे। पहले मधुवन ही मरघट में जाकर सोया करते थे। यह है नये काव्य का स्वर। वह कहता है

निरावृत सत्य का तूफान आता है
तरंगों के चरण थामे
गगन की देह ढलती है
तड़ित् की पसलियों में
पिस धरित्री टूट गलती है,
दिशा के अलक सागर में
भुजगों-से तड़पते हैं
कि तम का दैत्य चढ़ बैठा
सृजन के अन्त के क्षण में
झुकी आलोक-माला पर।

—भारतभूषण अग्रवाल

इसीलिए वह नई उपमाएं ढालता है और उनमें वह चमत्कार पैदा कर देता है।

वह अरमान है। यदि मझधार में नाव डूब जाए तो पतवार ही क्या है। जो अंगारों पर हंसकर न चल सके वह प्यार नहीं है। जो मौत को सीने से लगाकर हंस सके, वही ज़िन्दगी है। जो श्मशान में भी प्राण फूंक दे, वही वरदान है।" (दुष्यंतकुमार)

✓ "कवि मिटने की सीमा-रेखा पर शुरू हुआ, उसका आरम्भ हुआ रोने में, परन्तु अन्त हुआ गीतों में।" (गिरिजाकुमार माथुर)

वह नया रास्ता पकड़ना चाहता है, ताकि पुराना क्रम ही टूट जाए

नवीन पथ ग्रहण करो !
लिखो न गीत दुःख-भरे,
न वेदना विकल करे,
विषाद के अडिग पहाड़
पर सुदृढ़ चरण धरो !
न एक आह भी उठे
न एक वाह भी उठे
मिले समुद्र सामने
सहास संतरण करो !
मनुष्य तुम महान हो,
अजेय शक्ति प्राण हो
डरो न क्षुद्र विघ्न से
समोद अतिक्रमण करो !

—विरेन्द्र कुमार

साहस के प्रति एक अदम्य प्रीति नये कवि में हमें प्राप्त होती है।

"हर दर्द स्वयं नया राग बन जाता है। सदा ही गान आहों से फूटा करता है। यौवन मुस्काता रहता है, और जीवन की परिभाषा को नूतन बनाता है।" (राजेन्द्र सक्सेना)

एक नया दृष्टिकोण मनुष्य को नवीनता के प्रति कितना जागरूक बना सकता है, यह बात हमें स्पष्ट दिखाई देती है।

"सितार के तार अलग-अलग हैं, किन्तु तान में अनेकता नहीं है। चाहे आकाश में लाखों तारे हैं, परन्तु प्रकाश में महान एकता है। सूर्यताप और चन्द्र की शीतलता जगती के भेदों को नहीं जानते। किन्तु मनुष्य जो पृथ्वी के शासक हैं वे अपनी समानता को नहीं मानते। क्षुद्र भी महान का प्रतीक है जैसे बीज में वृक्ष होता है। जैसे असीम वेदना के समुद्र को मैं अपने एक बूंद आंसू में सम्भाल लेता हूं।" (गौरीशंकर ओझा)

सारी सृष्टि का कारण और मनुष्य के दुःख के कारण दोनों को ही कवि एक स्वर से सुनता है।

जिसकी महलों की दीवारें
उसी खून से सनी पड़ी हैं।
जहाँ जमी महफिल के तालों
पर स्वप्निल मादकता तिरती
एक अंग की अंगड़ाई पर
बोझिल आँखें जहाँ थिरकतीं
इसी महल के तले खड़ा
दम तोड़ रहा इन्सान भूख से,
पत्थर भी देगा जवाब,
विप्लव का बिगुल बजेगा साथी।

—मृणाल

विप्लव ! इसका उत्तर है विप्लव ! एकदम की झकझोर जो सब कुछ उलट-पुलट दे। पुराने को उखाड़ दे। अपने पौरुष का भीम पराक्रम प्रतिध्वनित कर दे। नई शक्ति जगा दे। वह कहता है

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ कि जिससे उथल-पुथल मच जाए। एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए, सर्वनाश आ जाए ! आग बरसने लगे। नभ का वक्ष फट जाए, तारे टूक-टूक हो जाए।" (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन')

और अब हम देखेंगे कि इस आह्वान को सुनकर नई चेतना उस विध्वंस से नई सृष्टि की किस प्रकार कल्पना करती है।

स्वर्ग और सुख का वरण करेगा। नारी से ही यह मनु का वंश रक्षित है, वही आदि सृष्टि की धरित्री है।" (शिवमूर्ति मिश्र)

स्त्री और पुरुष दोनों की ओर ही कवि की दृष्टि समान रूप से जाती है। नवयुग के आदि कवि से कवि कहता है, "जन्म मरण की कथा में अमर बनता है। उसे शत-शत मरण भी नहीं मिटा सकते। चिरन्तन पथ को छोटे-छोटे चरण नहीं छिपा सकते।" (सुधीन्द्र) "जिस जीवन में दुःख की ज्वाला है वह सोने से कुन्दन बनता है। जिसका हृदय परदुःख से कातर होता है, वह मनस्वर गीत सजोता है।" (कुसुमकुमारी सिन्हा)

मिट रही है आज मानवता स्वयं
मानो कि की हाराकिरी भगवान ने
मन्द जीवन-ज्योति की रेखा सुनहली।

—महेन्द्र भटनागर

'लेखनी ही हमारा प्यार है, धरा पट है, सिन्धु मसिपात्र है, हम तुच्छ से तुच्छ जन की जीवनी पर भी कहानी, काव्य, रूपक, गीत आदि लिखा करते हैं।"

(नागार्जुन)

वह अपना 'नायक बदल' रहा है।
आज की मिटती चिता पर
उस नये युग के लिए निज रक्त निष्ठापूर्ण हो
अर्पण करो, अर्पण करो
और उसका इन्किलाबी शक्ति के नारे लिए
स्वागत करो, स्वागत करो !

—महेन्द्र भटनागर

"जो धरती की धड़कन नहीं सुन सकते, वह नभ का संगीत क्या सुनेंगे ! शूलों की नोकों से डरकर फूलों से कोई क्या प्यार करेगा ! जो थके चरण को अपनी करुणा का दुलार नहीं दे सकता, वह बढ़ते कदमों की आशी पर अधिकार नहीं कर सकता। जो प्यार असुन्दर को सुन्दर नहीं बना सकता, उस मरे प्यार की खातिर कोई क्या हँस-हँस-कर मरेगा !" (गोपालकृष्ण कौल)

"बस अन्तिम सांच यह है कि हम क्रान्ति के सिपाही हैं। तब तक प्यार और सुख कहां है, जब तक धरती पर गुलामी है। शोषण का दनुज चूसता चिंघाड़ रहा है। जब तक उसका ध्वंस नहीं होगा, तब तक सुख और शान्ति कहां मिल सकती है ?" (राजेन्)

कार्लमार्क्स के प्रति आवेश में आकर कवि कहता है, "तुम जग-जीवन के नव-विहान हो। तुम महाक्रान्ति के अग्निगान हो। तुम करुणा की कातर पुकार हो। तुम दरिद्रता की प्रलय-तान हो। तुम साम्यवाद के विजय-गान हो।" (सोहनलाल द्विवेदी

नगर, ग्राम, वन, सबकी ही ओर उसकी दृष्टि गई है। और आधुनिक जीवन के परिवेश में उसने अपनी विवशताओ को काफी गहराई में टटोला है। और उसने उस वेदना को बड़ी ही सुकुमारता से उडेल भी दिया है।

'शहर की रात' में चंदा उगा। नये कवि ने देखा। अपने जीवन की विवशताओं और घुटन को देखा। विज्ञान के चरणो को भी उसने निहारा और वह कह उठा :

रात हो गई।
जले राह पर खड़े लौह खम्भो पर लटके लट्टू।
चमक उठीं सहसा सड़कों पर
चलती हुई मोटरों की गोल उल्लुई आँखें।
फिसल पड़ीं किरणें प्रकाश की
कोलतार की सड़क हो गई गोरी।
लट्टू जलते रहे।
मरकरी घड़ी चमकती रही
म बिजली फेल कर सकी
और इसीसे दूर गगन का पूरा-पूरा चाँद
रह गया मुँह लटकाए।

—नगेन्द्रकुमार

पहले तो मोटरों की गोल उल्लुई (नया शब्द) आखो ने उसकी आखो को चौंधिया दिया। और मरकरी लैम्प की रोशनी के कारण आकाश का चंदा उसे ऐसा दिखाई दिया, जैसे मुह लटकाए रह गया। यह केवल उक्तिवैचित्र्य के अन्तर्गत आनेवाली रचना ही नहीं है। इसमें केवल आधुनिकता का गर्व ही नहीं है। वरन् इसमें मनुष्य के नये जीवन का प्रतिबिम्ब है, एक नये दृष्टिकोण का आभास है, जिसमें यान्त्रिक जीवन प्रकृति के सहज सौंदर्य से दूर होता चला जा रहा है। वह सब कुछ पर छा जाना चाहता है। किंतु उसकी अनुभूति की कोमलता विनष्ट होती चली जा रही है। मानो यह विकास गुलाब के फूल का महत्त्व केवल इतना मानेगा कि उसमें से इत्र निकाला जा सकेगा और बाकी सब व्यर्थ होगा।

किंतु मनुष्य का हृदय यह स्वीकार नहीं करता। प्रकृति से मनुष्य संघर्ष इसलिए करता है कि प्रकृति को अपने लिए ऐसा बना दे जो उसे सुख दे। जिन पत्थरों से वह घर बनाता है, वे भी तो प्रकृति के ही अंग होते हैं। जिस बिजली को उसने काच में घेर लिया है वह भी तो वस्तुत एक प्राकृतिक वस्तु है।

और काव्य जीवन की एक अनुभूति ही नहीं, वह तो उसके जीवन की विभिन्नता से उत्पन्न अनुभूतियों का प्रसार है। व्यक्ति सबको देखता है और उस सबका उसपर

जीवन को पूर्णतम बनाना प्रत्येक युग के मनुष्य की एक साध्य कामना बनी रही है।

"गति को गति के बदले कभी नहीं चुना। फिर लहरों के उत्थान-पतन कर भी क्या सकते हैं? जिसका जीवन संघर्षों का है, उसे कूल में प्यार नहीं है। इसलिए मझधार उसे कभी भी डरा नहीं सकी। जीवन के राही को अवरोधों पर भक्ति नहीं हो सकती।" (राजकुमारसिंह 'कुमार')

यह ही है उसका नये रास्ते की ओर बढ़ना। पूर्व चिंतन उसे ले जाकर एक नई समस्या के सामने खड़ा करता है।

ये खड़ी रूढ़ियों की ऊँची दीवारें—
जीवन देनेवाले समीर को रोके!
उस पार कैदखाने के रह जाते हैं
अलमस्त हवा के ताजे-ताजे झोंके!
कुछ यत्न करो जिससे ऊँची दीवारें
बिखरें गिरकर मिल जाएँ मैदानों में!
फिर नई जिंदगी की फसलें लहराएँ
मस्ती की हस्ती भर कर इंसानों में!
लो, खुली हवा के खातिर हमको-तुमको
होगा समाज की परम्परा से लड़ना!
बल जोड़ सकेंगे हम इतना निश्चित हैं
तुम जरा गौर से मन की गीता पढ़ना।

—शिवकुमार

रूढ़ियों से मुक्ति का संघर्ष निरन्तर बढ़ता ही जाता है।

"प्राण का इतिहास यह है कि प्यास ही अस्तित्व है, जो कभी बुझना नहीं जानती वही प्यास होती है।" (श्रीहरि)

यह प्यास ही एक नये रूप में 'प्रगति' बन कर आई है।

"मृत जर्जर खंडहर से नवयुग की सासें जग जाए। बीते युग के पतझड़ से नया मधुमास उग आए। आज शोषण की मीनार डगमगा कर गिर जाए। साम्राज्यों की दीवार लड़खड़ा उठे। जालिम की कातिल खूनी तलवार टूट जाए। युगों के बाद कारा के द्वार टूट जाए। ध्वान्तिमान अंबर में युग का नया सवेरा जाग उठे। काले मृत्यु-प्रहर से जीवन की किरणें फूट पड़ें। अपना सूर्य युगों के बाद निबिड तिमिर से निकल आए।"

(घनश्याम अस्थाना)

एक ओर परंपरा, एक ओर प्रगति। कवि दोनों में एक तार बांधने की चेष्टा

ओढ़कर चांदनी रात का आवरण
भूमि की सेज पर सो गए धूलिकण
सिंधु की गोद में सो रही है लहर
फूल के अंक में सो रहा है भ्रमर
चांद सो भी रहा दूर आकाश में
लाज भी सो रही है प्रणय-पाश में
नींद है स्वामिनी दास है जागरण
चेतना वंदिनी, मुक्त है जागरण

—भगवद्दत्त मिश्र

सिंधु की गोद में लहर सो गई है, और भूमि की सेज पर धूलिकण चांदनी रात का आवरण ओढ़कर सो गए हैं। लाज प्रणय के पाश में सो गई है। जागरण दास हो गया है, क्योंकि नींद स्वामिनी है। चेतना वंदिनी है, परंतु जागरण मुक्त है। यह कैसा विरोधाभास ? यहीं कवि का चमत्कार है। यह वह जागरण नहीं है, जो आंख खुलते में मिलता है, क्योंकि वह तो दास हो चुका है और उसके साथ ही चेतना भी वंदिनी हो चुकी है। यह जागरण है नींद के भीतर का जागरण, जिसे कहते हैं स्वप्न, वह अवस्था जब सोते हुए भी प्राणी यही अनुभव करता है कि वह जाग रहा है।

लेकिन अब चांद कैसा लगता है ? रेशमी, गीला, सुनहरा। अर्थात् उसकी स्निग्धता, उसकी कमनीयता आगे आती है।

रेशमी, गीला, सुनहरा चांद
धरती पर उतरना चाहता है।
सौगुनी रफ्तार से भयभीत पृथ्वी भागती है।
प्यार का घट रिक्त, मन के स्वप्न के घनश्याम सारे,
जेठ की जलती दुपहरी में, बिजन की डूंगरी के
देव मंदिर की फटी-मैली ध्वजा से उड़ रहे हैं सूखकर।

बिजन की डूंगरी का प्रयोग राजस्थानी है। उसकी कल्पना करने को किसी डूंगरी के देवमंदिर को देखना आवश्यक है। व्यास में अपनी कल्पना और वास्तविकता का संघर्ष चल रहा है। कल्पना बार-बार सुन्दरता की ओर ले जाती है, किंतु यथार्थ सिर पर हथौड़े से मारने लगता है। कितना करुण विद्रूप है ! तभी तो कवि भी नीचे उतरकर देखता है

मांस-मज्जाहीन, लकड़ी का बना
मनुपुत्र पीता बीड़ियां आधे जले अद्धे उठाकर
हो रहा निर्माण, नव निर्माण, सारे विश्व में

मूक-सा कराह उठा। मज्जागत इस विभीषिका पर भी 'कला-कला की माला' जप रहा है। तब तो मेरा मानव-तन धिक् है। यह हृदय की ज्वाला निष्फल ही दग्ध है।"

(शिवमंगलसिंह 'सुमन')

यह है समाज। इसमें कवि कब तक अन्याय देखता रह सकता है?

"जिसे तुम मेरी भूल कहते हो वही चिर संचित जीवन-गान है।"

(शिवबहादुरसिंह)

इसीलिए वह सब ओर देख-दाखकर अंत में अपने मन में कहता है—"आ री व्योमकुंजों की परी कल्पने! भूमि को स्वर्ग पर मत ललचा। हम तेरे स्वप्न तक नहीं उड़ सकते, शक्ति है तो आ, यहीं अलका बसा।" (रामधारीसिंह 'दिनकर')

और क्योंकि उस समय रूस का विकास मानव-विकास में एक अद्भुत वस्तु-सा दिखाई दे रहा था, कवि ने कहा

लाल सितारा हो ध्रुवतारा
शत्रु देख हहरे!
लाल ध्वजा यह मजदूरों की
लाल ध्वजा यह मजदूरों की
लाल ध्वजा यह है शूरों की
छू सकते साम्राज्य न इसको
भीरु देख भहरे!
हमारी लाल ध्वजा फहरे,
तुम्हारी लाल ध्वजा फहरे!
गड़े देश में लाल पताका
रोके [विद वैरी का नाका
चले लाल सेना का साका ·
अन्यायों का सर्वनाश हो
आज न्याय ठहरे!

—सोहनलाल द्विवेदी

इसके मूल में यह भी था कि भारतीय कवि अंगरेज़ी शासकों के रूप में सारी अंगरेज जाति से घृणा नहीं करना चाहता था। वह शासकों और जनता को अलग-अलग करके देखना चाहता था। यह उसकी मानववादी परंपरा का ही परिणाम था।

"कई दिन से त्रस्त जीवन है और वेश अस्तव्यस्त। मन संतप्त है। प्राणों में निर्धूम चिता सी चिना जल रही है। भीत-सा प्रति रोम मेरा कांप रहा है और मेरी चेतना हिम-शीत जड़ता में जकड़कर चेष्टा से हीन निर्जीव मौन हो गई है। ऐसी विषम स्थिति में

कहानी नयी जिंदगी कह रही है
पुरानी विगत स्वप्न में बह रही है।

×

मनुज से बड़ा सत्य कोई नहीं है
मनुज से बड़ा तथ्य कोई नहीं है
समुन्मत्त जीवन गरल पी रहा है
इसे मुक्ति दो, यातना से बचाओ,
कहां मुक्ति इसकी, मुझे यह बताओ!!

—उदयशंकर भट्ट

चारों ओर चांदनी छिटकी हुई है। पूर्णिमा सुखद गीत गा रही है। मनुष्य भी नये मोड पर आ गया है और पुरानी चेतना से उसका अब संघर्ष हो रहा है। वह किसे भुला दे और किसका स्वागत करे! क्या त्याज्य है? क्या प्राप्य है! नई जिंदगी बोल रही है और पुरानी जिंदगी स्वप्नवत् हो गई।

अब कवि हुंकार कर नई मान्यता को स्थापित करता है कि मनुष्य से बढ़कर कोई सत्य नहीं है। एक दिन चंडीदास ने भी कहा था, "शाबार उपरे मानुस सत्य, ताहार उपरे नाइ।" नया कवि भी यही कहता है—मनुष्य से बढ़कर सत्य ही नहीं, कोई तथ्य भी नहीं है। है तो वैसे सृष्टि में बहुत कुछ किंतु मनुष्य तो जो कुछ जानता है वह अपनी ही बुद्धि से न? अतः यह ज्ञान उसीकी देन है! हमारी सीमा ही ऐसी है कि हमें अभी तक उसे ही सर्वोपरि स्वीकार करना पड़ता है। आज की विषमता ऐसी है कि जीवन को विष ही पीना पड़ रहा है। इसे किसी प्रकार बचाना होगा, इस यातना से मुक्त करना होगा।

सरल मानव के प्रति संवेदना एक पक्ष है। दूसरे पक्ष में कवि यह सुलझाने का प्रयत्न करता है कि उसका अपना जीवन इतना दुखी क्यों है? उसे सुंदरता से प्यार है, फिर भी वह सुखी नहीं है। सच तो यह है कि वह सौंदर्य के रहस्य को नहीं समझता, और इसी कारण वह यह भी नहीं सोचता कि वह कुछ अलग है, बल्कि सबसे बंधा हुआ नहीं है

मुझे लुभाता गीत चांद की उजली-उजली प्रीत का
समझ न पाता भेद चांदनी के मधुमय संगीत का,

×

सुनते हैं सागर से उठते मीठे-मीठे गान भी
क्या जाने क्या बात कि मुझको मिलते हैं तूफान ही,

×

को उसने अपने में निरस्त्र नहीं किया बल्कि समग्र का अंग बनाकर स्वीकार किया है।

"क्या मुझे हार में विजय मिलेगी? उदधि के उर में ऊँची उमड़तीं, शून्य धरती को तपाती, शून्य अम्बर में घुमड़ती घनघटा उठी। वह शीतल परस पाकर सुखद-सजल फुहार में गिर पड़ी। जो घूर्णित बवण्डर दसों दिशाओं में आन-बान दिवस को धूलि से धूमिल करके, भीषण निशा में लीन करके बढ़ चला, वह एक पल में मृदुल मलय बयार में लय हो गया। गिरि-शिखर में गर्व से सम्बर जो निर्झर गरजता बढ़ चला वह धरा का प्यार पाते ही सदगति होकर मौन-सा निश्चल नदी की धार में जा बसा। जो प्राण कण्टक कुचलता, आग में गलता, विष में सनसनता हुआ निरन्तर प्रगति-पथ पर अपनी सफलता आँक रहा था, वह प्यार के एक पल में किस अंक में बसकर रुक गया?"

(सुधीन्द्र)

वह शोषण को अपना शत्रु मानता है। उसे उसने अनेक-अनेक नाम दिए हैं, ताकि उसके वैविध्य को पहचान सके।

"जिसने जिंदगी और मौत में कुछ फर्क नहीं माना, जो किसीको सिर झुकाना ही नहीं जानता, जिसकी जवानी मौत को चुनौती दे रही हो, जिसको सारा जमाना खड़ा हुआ एकस्वर से कोसता हो, जिसके तन-बदन में विद्रोह की लपटें निकल रही हों, नया कवि उस हृदय के अंगारों-सा उष्ण है। उसे क्षार नहीं समझना चाहिए, वह तो ज्वाला-भरा अंगारा है।" (गिरिजादेव 'मेवक')

वह कर्म और फल की विवेचना में नया तथ्य निकालता है। "केवल वर्तमान की ही चिंता में आनेवाले कल का ध्यान मत भुला दो। अगर फल के बारे में नहीं सोचेंगे तो हम यहाँ विष के बीज बो जाएँगे।" (शिवकुमार) अब उसके सामने भारतीय चिंतन के सत् और असत् का द्वन्द्व भी आता है और वह दार्शनिक-सा कहता है

हार-जीत दो शब्द नियम के
गति के, यति के, शान्ति और संयम के
जीवन
दो शब्दों में बँधा नहीं है।

×

प्यार और संघर्ष : शब्द दो
गति के, यति के, ज्ञान और विभ्रम के
यौवन
दो शब्दों में बँधा नहीं है।

गुनगुनाती भी हवा चुप हो गई
जागकर तकदीर जैसे सो गई
मुद्दतो के बाद पाया था जिसे
चीज आलीशान मेरी खो गई
गम की दुनिया का यही पैगाम है
हर सुबह के बाद होती शाम है
हर कदम पर मुश्किलो का सामना
जिंदगी में फिर कहां आराम है।

—नर्मदेश्वर उपाध्याय

अंग्रेजी की एक प्रसिद्ध कविता है जिसमे पाश्चात्य वेदना ने पुकारा था—यदि हमे ( पेड पर चढती गिलहरी इत्यादि को ) खडे होकर निहारने का समय ही नही है, तो यह चिन्ताग्रस्त जीवन है क्या ?—इसी प्रकार हिंदी का कवि भी प्रेम और सौंदर्य को देखता है परंतु उसे परिवर्तन और वैषम्यो ने व्याकुल कर रखा है। उसके जीवन मे कही भी आराम नही है। पुराना कवि कभी ऐसी परेशानी मे नही पडता था। वह समाज को आदर्श देता था, या फिर वर्गों और एक प्रकार से लोक को विलास के गीत सुनाता था। 'प्रसाद' ने उर्दू के दु खप्रतीत्य को प्रस्तुत किया था। उसीसे यह व्यक्ति-पक्ष हिंदी मे उभरता चला आया। आज भी यह समस्या है कि काव्य कवि के जीवन का प्रतिबिंब है, उसके व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियो का अकन है, या वह समाज के लिए एक प्रेरणा है ! यह द्वन्द्व ऐसा उलझा हुआ है कि परस्पर रूप मे दोनो ही पक्षो के अन्योन्याश्रित रहने से दोनो के बीच कही एक रेखा नही खीची जा सकती। यूरोप और विशेषतया अग्रेजी काव्य मे द्वितीय महायुद्धोपरान्त के काव्य मे व्यक्ति-पक्ष को अब प्राय किसी पात्र की वस्तुपरक (आबजेक्टिव) दृष्टि पकडकर उसके द्वारा आत्मपरक (सबजेक्टिव) बनाकर प्रस्तुत किया जाने लगा है। हिंदी मे अभी तक यह रूप मुखर नही हो सका है। यहा प्रयोगवाद अभी मानसिक उलझनो मे ही डूबने की चेष्टा मे रत है।

'शिशिर की राका निशा' इसी उलझन का एक अच्छा-सा उदाहरण है। उसने सब कुछ देखा, सारा अतीत। और उसे लगा कि जैसे उसके लिए अब कुछ भी शेष नही बचा था। उससे पहले ही कवि सब कुछ लिख चुके थे

वचना है चांदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार
शिशिर की राका निशा की शाति है निस्सार !
दूर वह सब शाति, वह सित भव्यता, वह शून्य के अवलेप का प्रस्तार
इधर केवल झिलमिलाते चेतहर, दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में

उसके अस्तित्व का विकिरण है। वह चिंतन-मात्र से भी शरीर-धर्म।
इस जगह धर्म की गांठ दिखाई देती है। इसीलिए वह क्षण-भर गंभीर व सोचता है

"दिन के मीठे घूटों को जो बचपन पीता चलता है, वह क्या किसी यौवन के तीर पर नहीं पहुंच जाता ? जो सरिता बहती ही रहती है, वह सागर में हिल-मिलकर हंसती है। जो चलता ही रहता है, मंजिल उससे बहुत दूर नहीं रहती। न तो आगत का प्रश्न है, न पतन की सीमा है। युग-पथ प्रत्येक चरण पर मृत्यु को धमकी दे रहा है। फिर भी एड़ी जमती जाती है और पंजे आगे बढ़ते जाते हैं। जो चढ़ते-चढ़ते रुक जाता है, उसे विश्राम नहीं समझना चाहिए। प्रत्येक चरण इस जीवन का आगे, आगे ही चलता है।"

(उदयशंकर भट्ट)

यही चिंतन जब अपने वैयक्तिक संघर्ष के पक्ष को उभार लाता है तब उसमें एक खीझ-सी आ जाती है। व्यापक रूप से वह सुख को देखता है। सुख वैयक्तिक-सा ही दिखाई देता है। उसकी खीझ बढ़ती है। क्या चिंतन उसे चैन नहीं लेने देता। वह कहता है :

"मैं अपने जीवन में कैसे कह दूं कि अब इसका गति से कोई परिचय शेष नहीं है। इस मन को मैं कैसे भावुक कहूं, इसे तो जड़ता में भी कोई क्लेश नहीं है। कमजोरी के गीत बनाकर क्या गाना ! वह कविता ही क्या जिसमें नई उठान नहीं हो। हाय मेरे प्राण बुझ गए, कवि भी मर गया। अब मुझे अपने पर कोई अभिमान नहीं है।"

(भारतभूषण अग्रवाल)

परंतु यह स्वर जब रूप बदलता है तो सांत्वना मिलती है

"यह जगती बहुत भोली है, इसमें स्नेह का चपक छलक रहा है। जीवन प्रेम है, प्रेम जीवन है।" (कोमलसिंह सोलंकी)

प्रेम ! प्रेम की उदात्तता सिद्ध करके, प्रेम को ही व्यापक बनाया जाता है। क्योंकि उसे अधिक महत्त्व दिया जाता है

यह सुधा है, पी रहा हूं
मैं अमर बन जी रहा हूं
जो मुझे दुख दे रही है
वह हृदय की अप्सरा है,
कौन कहता दुख बुरा है !
शांत हूं मैं देख जीवन
शांत हूं मैं सुन मरण-क्षन
आदि जिसका, अन्त उसका
प्रकृतिसिद्ध परम्परा है।

—देवराज दिनेश

शुचि शुभ्रवसना स्वर्ग को उतरी परी, नीरव नूपुर
यौवन मधुर, कर्षण प्रचुर
सहसा उठा बज विश्व-वीणा में अनोखा कौन सुर
नीलाभ नभ हरिताभ भू किस मदिर मधु में है सना !

×

यह वासना की लाश पर सहसा रखा किसने कफन
हँसता कभी जीवन हमारा, आज क्यों हँसती हिना !

—हनुमार तिवारी

ओह ! कैसा उल्लास है। अब क्षीरसागर उमड़ता चला आ रहा है, यह क्या चांदनी-भर है ? स्वर्ग से परी उतर रही है। इसीको आनंद की तृप्ति कहते हैं। विश्व-वीणा में जिसने कान लगाकर मधुर स्वर सुन लिए, वह तो आकाश और पृथ्वी को मदिर मधु में सना हुआ देख रहा है। यह लो ! अब शरद ऋतु आ गई। वह तो आगमन है चांदनी का।

आई आई शरद ऋतु आई।
धरती पग मन्द मधुर, सजती जल विमल मुकुर,
तिरती तालों में नव परछाईं।
खोले हैं नयन कमल, डोलें हैं अग चपल,
बाँटे पूनम को बदन लुनाई।
सोलह सिंगार किए, अमृत रसधार लिए,
फूल शेफाली में मुस्काई।

—सुमित्रा कुमारी सिन्हा

पूनम को सुंदरता मिली है, शरद के मुख के लावण्य से। 'लोना लोना मुख' है।

धरती का प्यार उस समय जगता है, जब व्यक्ति अपने को सकुंचित सीमा से बाहर निकाल लाता है। शेफाली में जब शरद अमृत रसधार लिए मिल जाता है, तब कवि-हृदय एक आस्था में विश्वास रखता है, उसकी वासना अंधकार में अपने-आप को समर्पित नहीं करती।

सराबोर मस्ती से कवि गाता है कि स्वर्ग की संपूर्ण सुषमा ही यह चांदनी है। चांद ऐसा कमल-सा खिला है—और जो सौ दलों वाला—जैसे दूध के समुद्र में उग आया हो। आज आकाश और पृथ्वी अपने हो गए हैं

नयन मन उन्मादिनी
आज निकली चांदनी !
आज केवल शूल ऊपर, शून्य ऊपर
स्वर्ग की सम्पूर्ण सुषमा आज भू पर !

पथ मुक्ति-साधन न श्रम-भार !
गति ही विजय है, अगति हार !

—शम्भूनाथ सिंह

मुक्ति उसका केन्द्र है। साधना से ही उसका लगाव है।

"मेरे मन ! कष्ट-सहन को सहन करो। यह मत समझो कि दुःख में दुःख की कथा का ही गौरव है। जब तक प्रतिकार न हो, तब तक सहते रहो। जब तक यह बोध न हो कि मुझमें भी क्रोध है, और मैं प्रतिशोध लूंगा, तब तक कष्ट सहन करो।"

(रघुवीरसहाय)

दुःख का निरावरण ही उसका मुख्य उद्देश्य है, चाहे उसकी अभिव्यक्ति किसी भी रूप में हो।

"अपने भाग्य को दयामय मसीहा बनाकर एक बार एक वन में हाथ उठाकर दुखी बोल उठा। वहीं एक चट्टान पर सिर पटककर पपीहा अपने हृदय के रक्त से लिख गया सफल यात्री को जगत् के सफर में प्रणय ही तरी है, प्रलय ही किनारा है।—एक दिन नदी के किनारे एक विकल प्रेमी अपनी ज्योतिबाला के बारे में सोचता खड़ा था कि घड़ी एक में एक ट्रेन उधर से निकली, जिसने तिमिर चीरकर लौ-उजाला फेंका। बड़े मुक्त स्वर से ट्रेन ने कहा 'मुझे संसार में आदमी ने सवारा है।'"

(शिवबहादुरसिंह)

मनुष्य सबपर छा गया है। इसीलिए स्वत ही कवि को अपनी सारी परिभाषाएं बदलने को विवश होना पड़ा है। वह पुरानी चीजों से बाहर निकल आना चाहता है।

"नशीली आंख, अधर कोमल, अलकें सौंदर्य की बासी निशानी बन चुके हैं। आज युग को नूतन इतिहास, शब्द, शैली, भावना, विश्वास, सब कुछ नूतन चाहिए।"

(खुशदिल)

इस तरह वह अतीत से प्रेरणा तो लेता है, किंतु उसका अनुकरण नहीं करता। परंतु यह एक आवेश है, या है बौद्धिक चिंतन। अब वह शरीर-धर्म को प्रकृत मानकर उसे अपना लक्ष्य नहीं बनाना चाहता। चाहता है ऊपर उठना और प्रकृत को प्रकृति के सामने रखकर केवल साध्य न मानकर उसे साधना-मात्र बनाना चाहता है.

हां देख शुकों को, काकों को, हंसों को
नभ की अनन्तता से नित स्पर्धा करते
क्या कभी सोचते हो तुम अपने मन में
हम भी क्यों नहीं उड़ान हृदय में भरते ?

नीलम के आंगन में शोभित
जैसे चांदी का थाल धवल !
पीपल-तरुओं से निकल रहा
यह चांद मधुर ऐसा लगता
शिशु, माँ के कंधे पीछे से,
प्रकटा हो ज्यों करता 'त्या-त्या' !
यह धुनी रुई-सा स्वच्छ विमल
यह दुग्ध धवल, हिम-सा शीतल,
चांदी का चमकीला उज्ज्वल
किरणों का स्पर्श सुखद लगता,
जैसे शिरीष के कुसुमों के
सुरभित पराग के तन्तु मृदुल,
या शिशु के गभुआरे कुन्तल !
यह गोल-गोल, गोरा, भलमल,
ज्यों मधुवन में तमाल-तरु-तल
श्रीकृष्ण अंक से सटी खड़ी
राधा का सस्मित मुखमण्डल।

—रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण'

कालिदास में जैसा रंगों का वैभव है, वैसा ही यहा भी है। उसने कहा है—ऐ मेघ ! वहा नीलम की चोटी का क्रीडाशैल है, बगल मे मरकत-सा कदली-कुज है, सोपान है मरकत-शिलाओं के, नीलम जल मे हरितमृणाल-कमल हैं—हेयवर्णी ! यहा नीलम के आगन मे चादी का चमकता धवल चद्रमा है, पीपल के पेडो के पीछे से ऐसा निकल रहा है जैसे मा के कंधे के पीछे से तुतलाता बच्चा बोल रहा हो ! गभुआरे कुन्तल कितनी मीठी अभिव्यक्ति है ! ऐसा है यह जैसे मधुवन मे राधा का, तमाल के नीचे खड़े कृष्ण के पास, मुस्कराता हुआ मुखडा। केवल सुषमा ही यहा चित्रित है।

इस मस्ती में बहुत-से व्याकुल हृदयवाले अपने सपने डुबोते हैं, और खो देते हैं। अतीत की मारिल व्यथाए एक सात्वना-सी पा जाती हैं

रात चांदनी मस्त हवा है, नींद भरी-सी हूं भरभर !
स्वप्नलोक के गीत सुनाता चांदी-सा झरना झरझर !
मस्त बदलियां जैसे नभ के हो सुन्दर सपने सुकुमार
चले जा रहे निर्मित करते सुख का एक नया संसार !

हँस-हँस हृदय-रुधिर से जग के कालेपन को धोता हूँ मैं
स्वर्ण-कुसुम फूटेंगे, बलि के बीज मधुर नित बोता हूँ मैं
तुम वसन्त लो चिर मंगल का मैं पतझार लिए जाता हूँ
जीवन के कण-कण को मैं हो यौवन ज्वार दिए जाता हूँ।
चिनगारी देने आया था—इनको मुट्ठी-भर चिनगारी
एक बार बस जल उठने की अब आई है इनकी बारी
तब तक अचल मानवता कर मैं सुकुमार लिए जाता हूँ।
दुर्वह भार लिए कंधों पर पथ को पार किए जाता हूँ
पुतली में तस्वीर बसी जो उसको देख जिए जाता हूँ।

—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

सुन्दर के प्रति अनुरंजित आवेश के क्षण में कहीं अधिक हो जाती है। जो देता है वह मूल्य को बहुत बढ़ा भी देता है

"मरने से डरनेवाले को ही मृत्यु द्वार पर खड़ी होकर डराती है। मरनेवाले को अमरता जयमाला पहनाती है। स्वार्थ-विहित भयभीत हृदय में अविनाशी का वास नहीं होता। जो भय की मकड़ी के जाले को तोड़ चुका हो, वही जीवित है। मरने से डरनेवाले को ही मौत निगल-उगलकर खा रही है।" (नरेन्द्र)

यों मृत्युञ्जय होने का यह स्वर विकास का ही स्वर है, व्यक्तित्व को बड़ा करने का ही माध्यम है, उपदेश-मात्र नहीं है। तभी कवि कहता है

प्रबल पवन से न डर बटोही
दिया जलाता हुआ चला चल।

तिमिर न होता अगर जगत में, प्रकाश का कुछ न मोल होता
अगर उदासी हुई न होती, सुहास का कुछ न मोल होता
बता रही हैं यही घटाएँ कि लोचनों को सनीर कर ले
सिखा रही हैं यही बिजलियाँ कि मुस्कराता हुआ चला चल।

अगर थकावट हुई न होती विराम की क्यों घड़ी सुहाती?
डगर कठिन यदि हुई न होती कभी न मंजिल हृदय लुभाती!
बता रहे हैं यही सितारे—'अगर न मंजिल मिले न घबरा!'
सिखा रही हैं यही हिलोरें कि पग बढ़ाता हुआ चला चल।

अगर गरल ही हुआ न होता, सुधा जगत में किसे सुहाती?
अगर विरह ही हुआ न होता, घड़ी मिलन की न याद आती।
बता रहा है यही पपीहा कि प्यास में भी बड़ा मज़ा है
सिखा रहा है यही मधुपदल—'तृषा बुझाता हुआ चला चल

एक नया इन्सान चला

—नर्मदेश्वर त्रिपाठी

अब मनुष्य नया हो गया है। वह कष्ट सहन करके भी आगे बढ़ रहा है। वह द्रोह केवल द्रोह की भावना से नहीं कर रहा है। उसके सामने कोई लक्ष्य है, जिसे वह महत् समझता है, जिसके लिए उसने नये दृष्टिकोण को अपनाया है।

आत्मा का ही विकास मानो अपने बाह्य रूप में लोक का कल्याण बना है। मनुष्य अब प्रमुख है।

"पुरुष के गर्व! तूने दो पगों से निस्सीम गगन का विस्तार नाप डाला। नखों की नोक से जलधि का अपार गहन मर्म चीर डाला। क्या तुझे भुजा के पाश बंदी बना लेंगे?" (नरेन्द्र)

पुरानी दुनिया को वह सीमित मानता है, तभी वह उसे पूर्ण नहीं मानता:

ओ सिपाही
यदि तुझे कुछ चाहिए तो
पोंछ अपने घाव पर छलका हुआ यह रक्त

×

इन पुराने गीदड़ों का कर न कुछ विश्वास ये सब
ढोंग के नीले समन्दर में लगाकर डुबकियाँ
बन गए हैं आज शाहंशाह बन के।

—हरिश्म

प्रतिक्रियावादियों से उसे घृणा है। वह उन्हें राह का रोड़ा समझता है। अपनी बगावत को वह फैला देना चाहता है:

"मेरे इस स्वर को जनगण के कोटि-कोटि उन योद्धाओं तक पहुँचाना जो मेरी ही तरह धरती के कोने-कोने में अन्धकार से जूझ रहे हैं।" (उपेन्द्रनाथ 'अश्क')

सब मिलकर जैसे एक मोर्चा बना रहे हैं। वह सब एक ही विराट संघर्ष के लिए उठ रहे हैं। युग की छाप व्यक्तियों को एक भूमि पर ऐसे ही लाया करती है।

"मैं रक्त की धारा बहाकर किरकिराती देह को ही उर्वरा कर रहा हूँ। मैं अन्न के कर्मण्य कर से धरती जोतकर मानवी स्वाधीनता के बीज बोता जा रहा हूँ। मैं श्रम-जीवी हितों के अंकुरों को उगाता जा रहा हूँ। जो किसीने पराजित और किसीने मिटाए नहीं जा सकने, जो मरेंगे तो, लेकिन फिर जीकर लड़ेंगे, उन्हें मैं ऊपर उठाता जा रहा हूँ। मैं मोर्चे पर लड़ाई लड़ रहा हूँ।" (केदारनाथ अग्रवाल)

सचमुच वह अपने को योद्धा ही समझता है। जो कभी चारण था, स्तुति गाता था, आदेश उठाता था, वह अब अगुआ बन गया है। वह राह दिखानेवाला बना है

रुद्ध, पथभ्रष्ट औ' विक्षिप्त वासना-सी अतृप्त
कहीं पै दूर कभी रुक-रुककर किसीके प्यार-भरे गीत के
टूटे-से स्वर भूल से जागकर मानो तभी सो जाते हैं।
चांदनी रात है चुपचाप समर्पित मोहित अचल दिगंत के
आश्लेष में सोयी, खोयी, अबूझ स्वप्न में,
जैसे तुम हो, कभी चुपचाप अनायास मेरी गोद में
सो जाती हो
चांदनी रात सो !

—नेमिचंद्र जैन

चित्र अवश्य खड़े होते हैं, परन्तु अन्ततोगत्वा वातावरण ही सामने आता है, क्योंकि एक के बाद एक छवि जल्दी-जल्दी आती है जैसे कवि सबका अंकन कर देना चाहता है। जिन कविताओं में चित्र की एकात्मकता होती है उनका प्रभाव अधिक अच्छा पड़ता है, यद्यपि बात उनमें भी प्रेम की ही होती है। और छंद की गीतात्मकता के कारण खटर-खटर उनमें नहीं होती।

ले किरण की सहज बल्लियाँ व्योम में
चांद खेता रहा चांदनी की तरी
और भुज-पाश में तरुवरों को कसे
भूमि पर गीत गाती रहीं बल्लरी—
भ्रू तुम्हारी उठीं, इन्द्रधनु खिंच गया
भर गई सब दिशाएँ मदिर हास से
प्राण मेरे रहें शून्य कैसे भला
जब कि मुस्का रहे हैं तुम्हारे नयन

—राजेश दीक्षित

चांद एक खिवैया बन गया है और किरनों की बल्लियों से चांदनी की नाव को खे रहा है। बहुत सुंदर कल्पना है। फिर चांदनी में विलासपक्ष जाग उठता है और कवि को तृप्ति की प्राप्ति होती है। ऐसा संतोष इतने मुखर रूप में कम मिलता है, क्योंकि प्रायः कवि दर्द की आहें तो लेते हैं, पर यह साफ-साफ नहीं कहते कि उन्हें किसी स्त्री से प्यार है। कम देने में एक स्वस्थता रहती है और स्पष्ट ही यह 'रानी' वाला गीत नहीं है। ऐसे गीत जो स्नेह की तृप्ति देते हैं, उनकी तुलना में वे गीत रखे जा सकते हैं जिनमें घरेलू जीवन की छाया मिलती है -

रैन हुई उजियारी !
चाउर चौक पुराए मैंने

पथ का यही अभिमान कर लें।" (कचन)

पथ का अभिमान क्यो? क्योकि अकिंचन बनकर जीवित रहने मे कवि को कुछ मर्यादा दिखाई नहीं देती। हम जीवन मानव को देखते है।

"हमी अकेले नहीं, सारी सृष्टि यहा तपा करती है। एक-दो बूद नही, सावन-भादो के जलधर उमडते हैं। जब तक बूद-बूद रवि की ज्वाला पर अपना जीवन तौल रही है तब तक तो सावन-घन ऊसर को उर्वर करने से चूक नहीं सकते।" (शिवमङ्गलसिंह 'सुमन')

पथ होना चाहिए। उसके बिना लक्ष्य भी क्या कर सकता है। कवि कहता है -

पथ की पहचान यदि पग को न हो
तो बिचारा लक्ष्य ग्राखिर क्या करे।
भूल-शूलो का बिछा यदि जाल हो
तो चरण का वक्ष ग्राखिर क्या करे?
हाथ में यदि तोडने का बल न हो
भाग्य का लघु वक्ष ग्राखिर क्या करे!
हो हृदय में घोर तम लिपटा हुआ
तो उजेला पक्ष ग्राखिर क्या करे?

—शिवशंकर मिश्र

विश्वास ही सारे सत्य का आधार है। उसके बिना कुछ भी नहीं है, क्योंकि दृष्टि-कोण उसपर ही तो ग्राश्रित है। मनुष्य कौन है। वह तो बहुत व्यापक हो गया है। दर्द की वजह से उसकी सत्ता बहुत ही सार्वभौम और सार्वकालिक हो गई है।

"सीने में तीनो लोको की पीर लिए हू। ग्राखो मे सावन-भादों की तस्वीर लिए हुए हू। मैं कवि हू, मानव-सस्कृति का निर्माता हू। मैं अपनी वाणी से मुर्दों में प्राण जगाता हू। ब्रह्मा तो बस एक दिवस ही सृष्टि बनाता है। परतु मैं नित्य नया ससार बनाया करता हू। दुनिया से मौत जीत गई, लेकिन कवि से नहीं। कवि तो मर जाता है परतु कविता कभी नहीं मर पाती। दुनियावालो! तुम कवि का सम्मान खरीदोगे? ग्रासू दे-देकर क्या मीठे गान खरीदोगे? ओ कुर्सी के हैवान दीवानो! क्या तुम चादी के टुकडों पर ईमान खरीद लोगे? मैं उन मतिमद सत्ताधारियों पर हसता हू जिन्हे नादिरशाही प्रति-बधों पर विश्वास है। शायद वे नहीं जानते कि छत्रसाल के कधो पर ही भूषण की डोली उठती थी।" (रामकुमार चतुर्वेदी)

कवि का गौरव अपनी चेतना को ही नहीं, सामाजिक परिस्थित को भी उठाना चाहता है। इसके लिए वह बदला देने को भी तैयार है, "ग्राज इतना तप कि पत्थर पिघल जाए। ज्योति तम को भेद दे, किरणें निकल ग्राए। ग्रब मरण का प्यार भी विफल क्यों जाए? साधना ही सिद्धियों में बदल जाए।" (सुमित्रा कुमारी सिन्हा)

मुग्ध चाँदनी सौरभ-भरी जवानी में माती थी।
चुपके-चुपके अपना कोई प्यार लिये आती थी।
नयनों ही नयनों में कैसी हुई अनोखी बात !
अनायास ही थिरकन करता रहा किसी का गात !
तारों की स्वप्निल छाया में यह दुनिया सोती थी
किन्तु किसोरी पायल फिर भी रुनुक-भुनुक होती थी
मेरे गीतों पर कोई शर्माया सारी रात।

—कुलदीप

तारों की स्वप्निल छाया में दुनिया सो गई, और किसीकी रुनुक-भुनुक पायल बजती रही। और सारी रात उन्हें देख-देखकर चाँद मुस्कराता रहा। युवक जब कोई काम करते हैं तो समझते हैं कि उनसे पहले किसीने ऐसा काम किया ही नहीं। जवानी है ही ऐसी, कि उसे हर पुराना भी नया ही लगता है। बिचारा चाँद और करता भी क्या ! दिल के तारों पर सारी रात जाने कितने लोगों को वह गाते पहले भी सुन चुका है। इधर कोई गीतों पर शर्माता रहा, उधर चाँद मुस्कराता रहा। यद्यपि कविता में माधुर्य है किंतु कवि का ध्यान इस बात पर नहीं गया कि क्या ध्वनित हो रहा है। क्या गीत इसी लायक थे कि उनपर किसीको शर्म आती और कोई दूर होने के कारण चुपचाप मुस्कराता रहता ! आत्मस्वीकृति की कैसी अनोखी बात है ! लेकिन यौवन में मनुष्य यह कहाँ सोचता है कि उसमें कितना ऐसा है जिसपर लोग मुस्करा सकते हैं। इस दृष्टि से यह कविता हास्य भी जगाती है, किन्तु जो युवक होगा और समान भोगी होगा, वह तो बड़ी लंबी आहें भरेगा ! किन्तु जब व्यक्ति और आगे बढ़ता है तब उसमें घुटन पैदा होती है और ऐसी घुटन जोकि उसे भीतर ही भीतर खाने लगती है। ऐसा ही चित्र अचल ने दिया है

डूबती, पिछले पहर की
चाँदनी-सी अनमनी हूँ
आज मेरे प्राण पर कैसी थकन अविराम गिरती
किस शिखर से आज तन-मन पर तृषा की धार गिरती
दूर बजती रागिनी-सी मैं उजड़ती लीन होती
किस विफल कैवल्य में डूबी, सिहरती सुधि पिरोती
साथ मेरे डूबने मेरे कलंकी चाँद-तारे
जो बने थे मार्ग-दर्शक इस असंगति के किनारे

लुंठित संस्कृति को अपना पथ-निर्माण चाहिए। जीवन बिखर भी रहा है और निखर भी रहा है। एक को प्राण और दूसरे को त्राण देना है। जीने को यह लोक बना है और मरने को परलोक। तुम्हें और कितना प्रमाण चाहिए कि तुम्हारा इतिहास कलुषित है।"
(उदयशंकर भट्ट)

वह तो नया दे रहा है सब कुछ। उसमे कोई प्रश्न कर बैठे तो कवि उसे कैसे स्वीकार कर सकता है! क्योंकि संशय ही पराजय का मूल स्रोत है।

इसीसे कवि मानता है

"सुनो! मृत्यु का अवगुण्ठन खुलने से पहले ही जीवन का अभिमान शांति करनेवाला है। वासितों का रुदन एक दिन रंग दिखाएगा। तब पापों के दुर्गम दुर्ग बिखर जाएंगे। सभी विरोधाभास एक दिन टल जाएंगे। यह जीवन का विश्वास टलनेवाला नहीं है।" (कुमार)

विश्वास भी कितनी बड़ी चीज है। यह किसके अंतर्गत आ सकता है! यह प्रेम के भीतर की बात है

> आज तो पतवार हैं, मझधार है, तट का तकाजा।
> फूल जीवन का चढ़ा कल अर्चना में भी करूंगा।
> आज भी तो मौत भिक्षा को खड़ी दामन पसारे
> सांस दे दूं, कल मदद की याचना में भी करूंगा।
> दर्द की हद भी हुई क्या, आह भरता हूं अभी तो
> शपथ इनकार की मैं चाह करता हूं अभी तो
> झांक जाती जब नयन से प्राण की दुनिया रुआंसी
> और जीने के लिए सौ बार मरता हूं अभी तो
> आज तो इस धूम से है हर कदम पर हार मेरी
> जीत लूं तो स्वर्ग की कल कामना मैं भी करूंगा।
>
> —रमकुमार तिवारी

प्रेम ही संवेदना का आधार है। वही स्वतन्त्रता चाहता है, "मानव वही है जो सिर्फ मुक्ति में ही जीना जानता है। जो देश के लिए प्राण देना जानता है, जो मानव-धर्म-मात्र को ही मानता है, वही मानव है।" (तेजनारायण काक)

देश तो केवल एक अभिव्यक्ति है। उस क्षण की मर्यादा है। अन्यथा वहां तो और भी व्यापकता है

"सांसों में सांपों की बरबाद कहानी कब तक पीड़ा का तोल करेगी? कब तक मिटी जवानी सांसों पर मजबूर अपनी ही लाश लिए चलती रहेगी? यदि तुमने प्राणों का विश्वास तोड़ दिया तो वह जिंदगी में ही उठ जाएगा। सच, सब मुझमें जो मुझको गानों

आदमी को गफलतों की नींद से जैसे जगा दें
प्राण मेरी
बुरा मत मानो
कि झूठा है तुम्हारा प्यार—

—गोपेकृष्ण गोपेश

यह है वास्तविक प्यार। वह केवल व्यक्तिपक्षी नहीं है। यों धर्म और रति के मिलन से 'मानवीयता' का जन्म होता है।

"जो पीढ़ियों में एक्य का सचार कर रही है, ये तुम्हारे प्यार की कड़िया अमर होंगी।" (रामकुमार चतुर्वेदी)

इसीलिए कवि अब प्यार की परिभाषा बदल रहा है। मनुष्य का स्वभाव है एकरसता से अपने मन को सिद्ध करना, जैसे धातु या पारे को सिद्ध किया जाता है। उसके द्वारा मनुष्य व्यक्ति, समाज और चराचर का पहले मन में स्पष्टीकरण करके एक सामजस्य और तादात्म्य बैठाता है। उसके बिना उसे सब कुछ सूना-सूना-सा लगता है। वह जैसे दूसरों का न्याय्य नहीं बना सकता।

इतिहास का विशाल विगत रूप देखकर वह हार नहीं मानता, नया आह्वान देता है

"सदियो ने मरघट की लपटें अग में उठली आई है, अब मरघट को मधुवन के गीत सुनाने हैं।" (बलबीर रत्न)

मधुवन के गीत मरघट को कभी नहीं सुना पाए थे। पहले मधुवन ही मरघट मे जाकर सोया करते थे। यह है नये काव्य का स्वर। वह कहता है

निरादृत सत्य का तूफान आता है
तरगों के चरण थामे
गगन की देह ढलती है
तड़ित् की पसलियों में
पिस धरित्री टूट गलती है,
दिशा के अलक सागर में
भुजगों-से तड़पते हैं
कि तम का दैत्य चढ़ बैठा
सृजन के अन्त के क्षण में
झुकी आलोक-माला पर।

—भारतभूषण अग्रवाल

इसीलिए वह नई उपमाएं ढालता है और इसमें वह चमत्कार पैदा कर देता है।

मे ही मन सीमित रहो, जीवन का आनद भी लो। पर वह यह भी जानता है कि वासना से तृष्णा का अत नही होता। सारी रात चुम्बनो से भीगा चांद सबेरे भी मधु की प्यास ही खोजता रह गया। कवि नहीं समझ पाता कि अब क्या बाकी रह गया, क्योंकि वह तो तृप्त हो चुका है। पर वह समझता है जो अभी प्यासा ही है

ढलता नीरव चांद गगन में
आधी रात गई, आधी रात रही।
सांझ सो गई दीप जलाकर जागो नहीं प्रभाती
जल-जल आधी रही गगन पर तारो की हर बाती
अभी जगत के बेसुध नयनो में है स्वप्न अधूरा
मूक संदेसो में प्रिय तुम तक
आधी बात गई, आधी बात रही।

×

निशि के सपनो में अम्बर पर चली चांद की डोली
पर उस पथ तक पहुँच न पाई किसी प्रात की रोली
गीतों के सब दूत सजीले तुम तक पहुँच न पाते,
दूर पिया के देश हृदय की
कुछ सौगात गई, कुछ सौगात रही।

—ज्ञानप्रकाश चतुर्वेदी

जिसकी महलों की दीवारें
उसी खून से सनी पड़ी हैं।
जहाँ जमी महफिल के तालों
पर स्वप्निल मादकता तिरती
एक अंग की अँगड़ाई पर
बोझिल आँखें जहाँ थिरकतीं
इसी महल के तले खड़ा
दम तोड़ रहा इन्सान भूख से,
पत्थर भी देगा जवाब,
विप्लव का बिगुल बजेगा साथी।

—मृणाल

विप्लव ! इसका उत्तर है विप्लव ! एकदम की झकझोर जो सब कुछ उलट-पुलट दे। पुराने को उखाड़ दे। अपने पौरुष का भीम पराक्रम प्रतिध्वनित कर दे। नई शक्ति जगा दे। वह कहता है

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ कि जिसमे उथल-पुथल मच जाए। एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए, सर्वनाश छा जाए ! आग बरसने लगे। नभ का वक्ष फट जाए, तारे टूक-टूक हो जाए।" (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन')

और अब हम देखेंगे कि इस आह्वान को सुनकर नई चेतना उस विध्वस से नई सृष्टि की किस प्रकार कल्पना करती है।

विषयवस्तु नहीं है। सजाव-सँवार से इनकी प्रतिभा में सर्जन भी कम ही है, परन्तु फिर भी कुछ रचनाएं इनसे अच्छी भी निकल गई हैं, जिनमें वस्तु भी है। प्रयत्न करते रहने से आ ही जाती है। ऊपर की एक कविता इसीका आकर्षक उदाहरण है। प्राय अज्ञेय की कविता उसके उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' के ढंग की ही होती है, आत्मपरक ही, क्योंकि लोकपरक दृष्टि सहज होती है जो उत्स की तरह फूटती है, जबकि आत्मपरक में बहुत चेष्टा करके लिखा जाता है और शब्दों के चमत्कार को अधिक प्रश्रय दिया जाता है। टी० एस० इलियट का प्रश्रय लेनेवाले ये लोग इलियट से कोई समानता नहीं रखते, क्योंकि उसमें जो 'कैथोलिक मानववाद' है वह इन लोगों में केवल 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' मात्र है। परन्तु उपर्युक्त कविता इसके अतर्गत नहीं आती। चांदनी की शुभ्रता जैसी यहां है, वैसी ही एक और स्थल पर हमें मिलती है पर दूसरे ही ढंग से

शशि-शरद - शुभ्र ये शरद - अभ्र !

हिमधवल कपोतों-से मंजुल, अति मृदुल तूल के फाहों-से
या नभ-उर रह-रह मंडराते वर्षा की शेष मधुर सुधि से;
उजले - उजले बिखरे - निखरे
शशि-शरद-शुभ्र ये शरद-अभ्र !
मस्तिष्क हृदय पर छा जाए वह प्रखर प्रखरता कब इनमें ?
नयनों में सहज समा जाए वह सहज सुघरता बस इनमें,
सुधि से उभरे, निज सुधि बिसरे
शशि-शरद - शुभ्र ये शरद -अभ्र !

—शौरि

शरत् के मेघों का वर्णन कर रहा है कवि, परन्तु उसकी उपमा वह शशि-शरद शुभ्र से देता है। यहां शशि एक तुलनीय है जैसे शिव का अट्टहास। सारा चित्र अपने-आप में अपूर्ण है, व्यर्थ है, यदि 'शशि-शरद-शुभ्र' निकाल दिया जाए। कविता में खिलकती धूप आ जाएगी, जोकि शरत् की विशेषता है। शरत् शशि को ही मूल तुलनीय ब[illegible]ने दृश्य को एक शीतल स्निग्धता प्रदान की है, और वही इसका प्राण है। अब चांदनी मूर्त स्त्री बनती है

नव वसन्त की राका रजनी
पहन चांदनी की चोली, ओढ़े अम्बर पट
गोरे लाजारुण गालों पर
कुंतल केशों को बिखराए
जैसे स्वर्णिम स्वप्न-लोक की कोई दुल्हन
झाँका करती अपने ऊँचे राजमहल के वातायन से -

नगर, ग्राम, वन, सबकी ही ओर उसकी दृष्टि गई है। और आधुनिक जीवन के परिवेश मे उसने अपनी विवशताओ को काफी गहराई मे टटोला है। और उसने उस वेदना को बडी ही सुकुमारता से उडेल भी दिया है।

'शहर की रात' मे चदा उगा। नये कवि ने देखा। अपने जीवन की विवशताओ और घुटन को देखा। विज्ञान के चरणो को भी उसने निहारा और वह कह उठा :

रात हो गई।
जले राह पर खडे लौह खम्भो पर लटके लट्टू।
चमक उठीं सहसा सडकों पर
चलती हुई मोटरो की गोल उल्लुई आँखें।
फिसल पडीं किरणें प्रकाश की
कोलतार की सडक हो गई गोरी।
लट्टू जलते रहे।
मरकरी घडी चमकती रही
न बिजली फेल कर सकी
और इसीसे दूर गगन का पूरा-पूरा चाँद
रह गया मुँह लटकाए।

—नगेन्द्रकुमार

पहले तो मोटरो की गोल उल्लुई ( नया शब्द ) आखो ने उसकी आखो को चौंधिया दिया। और मरकरी लैम्प की रोशनी के कारण आकाश का चदा उसे ऐसा दिखाई दिया, जैसे मुह लटकाए रह गया। यह केवल उक्तिवैचित्र्य के अन्तर्गत आने-वाली रचना ही नही है। इसमे केवल आधुनिकता का गर्व ही नही है। वरन् इसमे मनुष्य के नये जीवन का प्रतिबिम्ब है, एक नये दृष्टिकोण का आभास है, जिसमे यात्रिक जीवन प्रकृति के सहज सौंदर्य से दूर होता चला जा रहा है। वह सब कुछ पर छा जाना चाहता है। किंतु उसकी अनुभूति की कोमलता विनष्ट होती चली जा रही है। मानो यह विकास गुलाब के फूल का महत्त्व केवल इतना मानेगा कि उसमे से इत्र निकाला जा सकेगा और बाकी सब व्यर्थ होगा।

किंतु मनुष्य का हृदय यह स्वीकार नही करता। प्रकृति से मनुष्य सघर्ष इसलिए करता है कि प्रकृति को अपने लिए ऐसा बना दे जो उसे सुख दे। जिन पत्थरो से वह घर बनाता है, वे भी तो प्रकृति के ही अग होते हैं। जिस बिजली को उसने काच मे घेर लिया है वह भी तो वस्तुत एक प्राकृतिक वस्तु है।

और काव्य जीवन की एक अनुभूति ही नही, वह तो उसके जीवन की विभिन्नता से उत्पन्न अनुभूतियो का प्रसार है। व्यक्ति सबको देखता है और उस सबका उसपर

आ गई आँधी घिरे
बादल घने आकाश में
धूल के लघु पृष्ठ बोले
फूल के इतिहास में
आग की चिनगारियाँ
उड़ने लगीं मधुमास में
शक्ति की विद्युत जली तब
भक्ति बन विश्वास में
साधना-सी जा रही।

—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

ऐसे समय में चाँदनी का अपना महत्त्व नहीं रहता। वह प्रकृति की एक क्रिया-मात्र रह जाती है और कवि-मानस उससे प्रभावित नहीं रहता। उसकी दृष्टि केवल दार्शनिक बनकर रह जाती है। यह चित्र सहज भी नहीं होते, यद्यपि होते हैं गंभीर। यदि धैर्य से उनपर चिंतन किया जाए तो ही वे भाव जगाते हैं और ऐसे जोकि काफी गहराई तक प्रभाव डालते हैं। किंतु इतनी क्रिया हो जाने पर वह कविता नहीं रहती, दर्शन आ जाता है, बहुत मनोहर ढंग से प्रस्तुत किया हुआ दर्शन। वैसे यह सहज का मार्ग काफी हद तक स्थूल है, जो गहराई को एकदम से अलग करके रख देता है। रूप का आकाश लेकर नयनों में चाँदनी मोतियों की हँसी-सी बिखेर देती है। तब शून्य शब्द बन जाता है, किंतु कवि ने यहां भ्रम छोड़ दिया है। हम कह सकते हैं कि शब्द शून्य बन जाता है और व्यापक रूप में शब्द एक अभिव्यक्ति है, तो शून्य उसका स्वरूप। इस प्रकार दोनों एक ही ठहरते हैं। सौंदर्य की व्याप्ति दोनों में है। चाँदनी के उपरांत दूसरे प्रकृतिरूप को कवि देखने लगता है। और चाँद जब जीवन का साथी बनता है तब वह बहुत ही तीखा चित्र सामने उपस्थित करता है जिसमें संघर्ष भी है।

मेरे बचपन का साथी यह चंदा मामा
मेरे आँसू देख जिसे माँ निकट बुलाती
तुम कहते हो किसी सुंदरी-सा सुंदर है
जिसका यौवन सुरा निशा नभ में मुस्काती;

×

मुझे याद है जब मेरी तुतली-सी बोली
रोज चाँद से धरती पर आने को कहती
तब मेरे नन्हें हाथों में देकर रोटी
मुझे धरा का चाँद दिखा माँ यों बहलाती

ओढ़कर चांदनी रात का आवरण
भूमि की सेज पर सो गए धूलिकण
सिंधु की गोद में सो रही है लहर
फूल के अंक में सो रहा है भ्रमर
चांद सो भी रहा दूर आकाश में
लाज भी सो रही है प्रणय-पाश में
नींद है स्वामिनी दास है जागरण
चेतना बंदिनी, मुक्त है जागरण

—भगवद्दत्त मिश्र

सिंधु की गोद में लहर सो गई है, और भूमि की सेज पर धूलिकण चांदनी रात का आवरण ओढ़कर सो गए हैं। लाज प्रणय के पाश में सो गई है। जागरण दास हो गया है, क्योंकि नींद स्वामिनी है। चेतना बंदिनी है, परंतु जागरण मुक्त है। यह कैसा विरोधाभास ? यही कवि का चमत्कार है। यह वह जागरण नहीं है, जो आंख खुलते में मिलता है, क्योंकि वह तो दास हो चुका है और उसके साथ ही चेतना भी बंदिनी हो चुकी है। यह जागरण है नींद के भीतर का जागरण, जिसे कहते हैं स्वप्न, वह अवस्था जब सोते हुए भी प्राणी यही अनुभव करता है कि वह जाग रहा है।

लेकिन अब चांद कैसा लगता है ? रेशमी, गीला, सुनहरा। अर्थात् उसकी स्निग्धता, उसकी कमनीयता आगे आती है।

रेशमी, गीला, सुनहरा चांद
धरती पर उतरना चाहता है।
सौगुनी रफ्तार से भयभीत पृथ्वी भागती है।
प्यार का घट रिक्त, मन के स्वप्न के घनश्याम सारे,
जेठ की जलती दुपहरी में, विजन की डूंगरी के
देव मंदिर की फटी-मैली ध्वजा से उड़ रहे हैं सूखकर।

विजन की डूंगरी का प्रयोग राजस्थानी है। उसकी कल्पना करने को किसी डूंगरी के देवमंदिर को देखना आवश्यक है। व्यास में अपनी कल्पना और वास्तविकता का संघर्ष चल रहा है। कल्पना बार-बार सुन्दरता की ओर ले जाती है, किंतु यथार्थ सिर पर हथौड़े से मारने लगता है। कितना करुण विद्रूप है ! तभी तो कवि भी नीचे उतरकर देखता है

मांस-मज्जाहीन, लकड़ी का बना
मनुपुत्र पीता बीड़ियां आधे जले अद्धे उठाकर
हो रहा निर्माण, नव निर्माण, सारे विश्व में

भव-दव-तरु का दीपक
फैला प्रकाश अपलक।
आलोकित धरा-गगन
विस्मित है विपिन सघन
मूक खड़े हैं तरु-गन
किरनों की पहने स्रक्!
फीके पड़ गये नखत
इन्दु-ज्योति क्षत-विक्षत
सकल ज्योतियाँ आनत
कम्पित तम-उर धक-धक।
विप्लव दीपक जगमग
आलोकित नवयुग-मग
शीतल जन-जन-मन-दृग,—
दीप जले जुग-जुग तक।

—अनन्तकुमार 'पाषाण'

विप्लव के दीपक के जल उठने पर ही नवयुग का मार्ग आलोकित होगा, जन-जन-मन-दृग में शीतलता छाएगी और यह कवि की कामना है कि यह दीपक युग-युग तक जले। किंतु इस गीत की अभिव्यक्ति केवल समाज के राजनीतिक रूप तक ही सीमित नहीं है। वह सांस्कृतिक पक्ष भी लेता है और प्रकृति उसका प्रतीक बन जाती है। वस्तुतः भव-दव-तरु का दीपक चंद्रमा नहीं है। वह तो इस नई ज्योति के आगे क्षत-विक्षत हो गया है और सकल ज्योतियाँ सिर झुका गई हैं। अंधकार का हृदय धक-धक कर रहा है। अभिव्यक्ति छायावादी शब्दावली में ग्रस्त है, परंतु वस्तु उसके बाहर की है। मैं जब छायावादी कहता हूँ तब मेरा अर्थ यहाँ उस शैली-विशेष से है जिसमें ऐसे शब्द रखे जाते हैं जो केवल व्यंग्यार्थ में अपना अर्थ प्रकट कर सकें। अन्यथा वे ठीक तथ्य पर नहीं ले जा सकते। यहाँ मैं अलकारों की खोज करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाँति घिसी-पिटी लकीर पर नहीं चलूँगा।

निराशा में चंदा का दर्जा गिरता है। "क्यों चाँद वज्र बन गया, चाँदनी क्षार बन गई। मौन मरण की बाँहों में लहरें क्यों सो गईं? जिंदगी की जीत क्षण-भर में हार क्यों बन गई? ओ जिंदगी! जागो मन। छाती में अब भी तुम्हारा प्यार जीवित है।"

(राजेन्द्रकिशोर)

पराजय में उल्टा ही लगता है सब। परंतु सुधा अब चाँद से गीत में अधिक मानी जाती है: "प्रणय की मधुर रागिनी मिल गई है, जिस तरह स्वातिकण सीप में

कहानी नयी जिंदगी कह रही है
पुरानी विगत स्वप्न में बह रही है।

×

मनुज से बड़ा सत्य कोई नहीं है
मनुज से बड़ा तथ्य कोई नहीं है
समुन्मत्त जीवन गरल पी रहा है
इसे मुक्ति दो, यातना से बचाओ,
कहाँ मुक्ति इसकी, मुझे यह बताओ!!

—उदयशंकर भट्ट

चारों ओर चाँदनी छिटकी हुई है। पूर्णिमा सुखद गीत गा रही है। मनुष्य भी नये मोड़ पर आ गया है और पुरानी चेतना से उसका अब संघर्ष हो रहा है। वह किसे भुला दे और किसका स्वागत करे! क्या त्याज्य है? क्या प्राप्य है! नई जिंदगी बोल रही है और पुरानी जिंदगी स्वप्नवत् हो गई।

अब कवि हुंकार कर नई मान्यता को स्थापित करता है कि मनुष्य से बढ़कर कोई सत्य नहीं है। एक दिन चंडीदास ने भी कहा था, "शबार उपरे मानुस सत्य, ताहार उपरे नाइ।" नया कवि भी यही कहता है—मनुष्य से बढ़कर सत्य ही नहीं, कोई तथ्य भी नहीं है। है तो वैसे सृष्टि में बहुत कुछ किंतु मनुष्य तो जो कुछ जानता है वह अपनी ही बुद्धि से न? अतः यह ज्ञान उसीकी देन है! हमारी सीमा ही ऐसी है कि हमें अभी तक उसे ही सर्वोपरि स्वीकार करना पड़ता है। आज की विषमता ऐसी है कि जीवन को विष ही पीना पड़ रहा है। इसे किसी प्रकार बचाना होगा, इस यातना से मुक्त करना होगा।

सरल मानव के प्रति संवेदना एक पक्ष है। दूसरे पक्ष में कवि यह सुलझाने का प्रयत्न करता है कि उसका अपना जीवन इतना दुखी क्यों है? उसे सुंदरता से प्यार है फिर भी वह सुखी नहीं है। सच तो यह है कि वह सौंदर्य के रहस्य को नहीं समझता, और इसी कारण वह यह भी नहीं सोचता कि वह कुछ अलग है, बल्कि सबसे बंधा हुआ नहीं है

मुझे लुभाता गीत चाँद की उजली-उजली प्रीत का
समझ न पाता भेद चाँदनी के मधुमय संगीत का,

×

सुनते हैं सागर से उठते मीठे-मीठे गान भी
क्या जाने क्या बात कि मुझको मिलते हैं तूफान ही,

×

अहंकार बोलता है—सुधा तो है, पर मेरे गीत में है। आओ समर के लिए तत्पर हो जाओ! किंतु जिसे ईश्वर में विश्वास है, वह कहता है

यह मधुर यामिनी, चंत चांदनी
टेर रही है द्वार - द्वार
खोलो किवार, खोलो किवार।

×

दो घडी तुम्हारे लिए आज
प्रभु ने खोले हैं स्वर्गद्वार।

—केसरी

इस जीवन में परमात्मा ने सब तरह के दृश्य तुम्हें दिए हैं। सौंदर्य तुम्हारी उदात्त भावनाएं जगाने के लिए है। उसकी उपेक्षा मत करो, तुम कुछ भी करना चाहते हो, उसे अवश्य करो, किंतु कभी भी यह मत भूलो कि तुम नियामक नहीं हो, सौंदर्य का सिरजन करनेवाला एक और है, जो तुमसे भी ऊंचा है। तुम निमित्त हो, भले ही अपने अहंकार में 'उसे' देखने से इकार कर दो। उसकी छवि सचमुच कहीं अधिक अपरूप है :

लगी है सुधि की रेशम डोर
झूल रहा आंखों के पलने में मेरा चितचोर
सिंधु-सी उसकी स्वप्न - हिलोर—

—केसरी

प्रभु की बात इस युग के कवियों में नहीं के बराबर पाई जाती है। यह नहीं कि सब ही नास्तिक हो गए हैं, किन्तु अब नये-नये उपमान रखे जाते है। नये-नये प्रतीकों से प्रभु को याद किया जाता है।

इनमें देश, जाति और प्रकृति सबका भी समन्वय हमें कहीं-कहीं मिल जाता है।

राजशिवपुरी की एक कविता में ऐसा चित्रण बहुत आकर्षक हुआ है। नारी-हृदय प्रायः ही समर्पण में सौंदर्य देखता है और भारत में तो यह विशेषता है। अर्चना के जलजात इसी दृष्टि से खुले जाते हैं।

चांदनी सा गात लिए धरती हंसती है। भारत मुग्ध हुआ है। उसके आनंद से हृदय सराबोर है। पृथ्वी और आकाश दोनों में ही दीपक जल रहे है। आकाश के दीपक नक्षत्र हैं, जो अर्चना के जलजात में दिखाई देते हैं। धरती एक सीप की तरह अपने में मोती छिपाए हुए है। कौमुदी से पथ लिप गया है। यह कितनी मनोहर अभिव्यक्ति है।

देशभक्ति-सम्बंधी कविता में चांदनी का ऐसा वर्णन हमें अन्यत्र नहीं मिला है इसलिए भी इस कविता का अपना महत्त्व है। भारत, 'दीप वाला देश' है

गुनगुनाती भी हवा चुप हो गई
जागकर तकदीर जैसे सो गई
मुद्दतों के बाद पाया था जिसे
चीज आलीशान मेरी खो गई

गम की दुनिया का यही पैगाम है
हर सुबह के बाद होती शाम है
हर कदम पर मुश्किलों का सामना
जिंदगी में फिर कहां आराम है।

—नर्मदेश्वर उपाध्याय

अंग्रेजी की एक प्रसिद्ध कविता है जिसमें पाश्चात्य वेदना ने पुकारा था—यदि हमें (पेड़ पर चढ़ती गिलहरी इत्यादि को) खड़े होकर निहारने का समय ही नहीं है, तो यह चिन्ताग्रस्त जीवन है क्या ?—इसी प्रकार हिंदी का कवि भी प्रेम और सौंदर्य को देखता है परंतु उसे परिवर्तन और वैषम्यों ने व्याकुल कर रखा है। उसके जीवन में कहीं भी आराम नहीं है। पुराना कवि कभी ऐसी परेशानी में नहीं पड़ता था। वह समाज को आदर्श देता था, या फिर वर्गों और एक प्रकार से लोक को विलास के गीत सुनाता था। 'प्रसाद' ने उर्दू के दु:खप्रतीत्य को प्रस्तुत किया था। उसीसे यह व्यक्ति-पक्ष हिंदी में उभरता चला आया। आज भी यह समस्या है कि काव्य कवि के जीवन का प्रतिबिंब है, उसके व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों का अंकन है, या वह समाज के लिए एक प्रेरणा है। यह द्वन्द्व ऐसा उलझा हुआ है कि परस्पर रूप से दोनों ही पक्षों के अन्योन्याश्रित रहने से दोनों के बीच कहीं एक रेखा नहीं खींची जा सकती। यूरोप और विशेषतया अंग्रेजी काव्य में द्वितीय महायुद्धोपरान्त के काव्य में व्यक्ति-पक्ष को अब प्रायः किसी पात्र की वस्तुपरक (आबजेक्टिव) दृष्टि पकड़कर उसके द्वारा आत्मपरक (सबजेक्टिव) बनाकर प्रस्तुत किया जाने लगा है। हिंदी में अभी तक यह रूप मुखर नहीं हो सका है। यहां प्रयोगवाद अभी मानसिक उलझनों में ही डूबने की चेष्टा में रत है।

'शिशिर की राका निशा' इसी उलझन का एक अच्छा-सा उदाहरण है। उसने सब कुछ देखा, सारा अतीत। और उसे लगा कि जैसे उसके लिए अब कुछ भी शेष नहीं बचा था। उससे पहले ही कवि सब कुछ लिख चुके थे

वंचना है चांदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार
शिशिर की राका निशा की शांति है निस्सार !
दूर वह सब शांति, वह सित भव्यता, वह शून्य के अवलेप का प्रस्तार
इधर केवल झिलमिलाते चेतहर, दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में

शलभ - सा उन्माद लेकर चूमने नव-ज्योति तेरी
मिट चला यह प्यार तन्मय।
चरण में उत्सर्ग जीवन-दान तो है।

—शकुन्तला रेणु

व्यक्ति को इतना महत्त्व काव्य में पहले नहीं मिला। पहले कवि को बाह्य आधार मिलता था। अब उसे स्वयं ही अपना आधार बनाने की मजबूरी है। यह जिम्मेदारी बहुत बड़ी आ पड़ी है। "मैंने तो तेरी एकाकी भक्ति मांगी थी। पर उस एकाकीपन ने जग की सारी सीमा नाप डाली। वह तो अपार सिन्धु बन गया और मैं उतराती फिरने लगी।" (विद्यावती कोकिल)

इसीलिए यह संकट आया है कि क्षण में कुछ और दूसरे ही क्षण कुछ और दिखाई देता है। इसीसे चमत्कार भी अपना सबल खोज पाया है।

काव्य की मिठास केवल चमत्कार में नहीं रहती। अरूप को विचित्र प्ररूप के माध्यम से चित्रित करने पर काव्य उज्ज्वल हो जाता है।

जहां चमत्कारमात्र ही प्रमुख रहते हैं, वहां भाव झकझोर नहीं करते। केवल प्रकृति के क्षेत्र में जब उनका मन सहज रूप से मिल जाता है, तब वे ऐसे नहीं रहते। *आधुनिकता की बनावटी लगाम ढीली कर देने पर उनकी भाषा का अश्व हिरन की तरह* नहीं चलता। ऐसे कवियों को चुनौती दी है गिरिजाकुमार ने और कहा है

उजला पाख क्वांर का फूला कास - सा
खिली चांदनी रात कि कली सुहावनी,
नरम नखूनी रंग घुले आकाश में
रची हुई है पूरनमा की चांदनी,
उड़ती भीनी गंध हवा में दूब की
बिखरा सोई कोरे कुंतल कामिनी,
खुली ओस में बिछी दूधिया सेज-सी
पानी-सी ठंडी है रितु मनभावनी।
आसमान में भरा श्वेत रस सोम का
नयनों में मद-भरी ललौंई झूलती,
हिम के मृग भर रहे चौकड़ी चांद में
नवल नारि-सी अलस केतकी फूलती,
उभरे रोएं छुवा गई है चांदनी,
सींग नुकीले चुभा गई है चांदनी,
चंचल नयनों गोरी हिरनी चांदनी।

—गिरिजाकुमार माथुर

शुचि शुभ्रवसना स्वर्ग की उतरी परी, नीरव नूपुर
यौवन मधुर, कर्षण प्रचुर
सहसा उठा बज विश्व-वीणा में अनोखा कौन सुर
नीलाभ नभ हरिताभ भू किस मदिर मधु में है सना !

×

यह वासना की लाश पर सहसा रखा किसने कफन
हँसता कभी जीवन हमारा, आज क्यों हँसती हिना !

—हरकुमार तिवारी

ओह ! कैसा उल्लास है। अब क्षीरसागर उमड़ता चला आ रहा है, यह क्या चादनी-भर है ? स्वर्ग से परी उतर रही है। इसीको आनंद की तृप्ति कहते हैं। विश्व-वीणा में जिसने कान लगाकर मधुर स्वर सुन लिए, वह तो आकाश और पृथ्वी को मदिर मधु में सना हुआ देख रहा है। यह लो ! अब शरद ऋतु आ गई। वह तो आगन है चादनी का।

आई आई शरद ऋतु आई।
धरती पग मन्द मधुर, लसती जल विमल मुकुर,
तिरती तालों में नव परछाईं।
खोले हैं नयन कमल, डोले हैं अग चपल,
बाँटे पूनम को बदन लुनाई।
सोलह सिंगार किए, अमृत रसधार लिए,
फूल शेफाली में मुस्काई।

—सुमित्रा कुमारी सिन्हा

पूनम को सुंदरता मिली है, शरद के मुख के लावण्य से। 'लोना लोना मुख' है।

धरती का प्यार उस समय जगता है, जब व्यक्ति अपने को सकुचित सीमा से बाहर निकाल लाता है। शेफाली में जब शरद अमृत रसधार लिए मिल जाता है, तब कवि-हृदय एक आस्था में विश्वास रखता है, उसकी वासना अधकार में अपने-आप को समर्पित नहीं करती।

*सराजोर मस्ती से कवि गाता है कि स्वर्ग की सपूर्ण सुषमा हो यह चादनी है।* चाद ऐसा कमल-सा खिला है—और भी सौ दलों वाला—जैसे दूध के समुद्र में उग आया हो। आज आकाश और पृथ्वी अपने हो गए हैं

नयन मन उन्मादिनी
आज निकली चांदनी !
आज केवल शून्य ऊपर, शून्य ऊपर
स्वर्ग की सम्पूर्ण सुषमा आज भू पर !

फिर उसे क्यों हो न विभ्रम !
गुञ्जरित वातावरण है !
दूध से मानो, धुला
आकाश का अंतःकरण है,
स्वप्न में भी चौंक उठते
प्राण शशि को देख अनुपम !

—आरसीप्रसाद सिंह

इस गीत में न कोई विशेषता है, न कोई चमत्कार है, किंतु यह है बहुत सुन्दर ! ऐसे मौके पर बड़ी मुसीबत हो जाती है। कहा उंगली रखी जाए ! किंतु यह सौंदर्य इसकी अनुभूति में है और कहीं नहीं। 'आज' में ही एक आवेश है, और वहीं से इसमें पकड़ आ जाती है। ऐसा कल नहीं था, 'आज' ही यह बात है।

एक युवक कवि को यह चंद्रमा भी काला दिखाई देने लगता है

नीम के पीछे उगा है
चांद पूनम का सलोना।
हैं बगीचों में जुड़ी रंगीन कलियों की सभाएँ,
हैं विटप के एक इंगित पर लिपट जातीं लताएँ,
रही अंगड़ाइयाँ किरणें सिहरते पल्लवों पर,
चल रहा भू पर गगन का
एक जादू, एक टोना।
एक है वह रात, जो है हँस रही घूँघट उठाए,
एक तुम हो, रह गईं जो भूमि पर आँखें गड़ाए
क्या लजाती हो भला इस चाँदनी, इस चंद्रमा से !
चंद्रमा तो है तुम्हारे
रूप का केवल दिठौना !

—रामकुमार चतुर्वेदी

अपनी-अपनी भाव टटरी। प्रिया का मुख इतना उज्ज्वल है कि उसे नजर न लग जाए इसलिए माथे पर लगाए काले दाग-सा लग रहा है चंद्रमा। प्रेमियों ने काले तिल को गोरे गाल पर देखकर बड़ी हाय-हाय की थी। बिहारीलाल चांदनी में राधा का तन ही नहीं देख पाया, क्योंकि वह भी गोरी और राधा भी गोरी। मगर आजकल होते तो लोहा मान गए होते ! कि चंद्रमा केवल दिठौना है ! यौवन भी कैसी रस-भरी अवस्था है, जब अपने सामने कुछ दीखता ही नहीं। इस कविता को पढ़कर मुझे भवभूति की वह बात याद हो आई जहां उसने कहा है कि सरस्वती मेरे पीछे ऐसे चलती है जैसे

नीलम के आंगन में शोभित
जैसे चांदी का थाल धवल!
पीपल-तरुओं से निकल रहा
यह चांद मधुर ऐसा लगता
शिशु, मां के कंधे पीछे से,
प्रकटा हो ज्यों करता 'त्या-त्या'!
यह धुनी रुई-सा स्वच्छ विमल
यह दुग्ध धवल, हिम-सा शीतल,
चांदी का चमकीला उज्ज्वल
किरणों का स्पर्श सुखद लगता,
जैसे शिरीष के कुसुमों के
सुरभित पराग के तंतु मृदुल,
या शिशु के गभुआरे कुन्तल!
यह गोल-गोल, गोरा, झलमल,
ज्यों मधुवन में तमाल-तरु-तल
श्रीकृष्ण अंक से सटी खड़ी
राधा का सस्मित मुखमण्डल।

—रामेश्वरलाल खण्डेलवाल 'तरुण'

कालिदास में जैसा रंगों का वैभव है, वैसा ही यहां भी है। उसने कहा है—ऐ मेघ! वहां नीलम की चोटी का क्रीडाशैल है, बगल में मरकत-सा कदली-कुंज है, सोपान हैं मरकत-शिलाओं के, नीलम जल में हरितमृणाल-कमल हैं—हेमवर्णी! यहां नीलम के आंगन में चांदी का चमकता धवल चंद्रमा है, पीपल के पेड़ों के पीछे से ऐसा निकल रहा है जैसे मां के कंधे के पीछे से तुतलाता बच्चा बोल रहा हो! गभुआरे कुन्तल कितनी मीठी अभिव्यक्ति है! ऐसा है यह जैसे मधुवन में राधा का, तमाल के नीचे खड़े कृष्ण के पास, मुस्कराता हुआ मुखड़ा। केवल सुषमा ही यहां चित्रित है।

इस मस्ती में बहुत-से व्याकुल हृदयवाले अपने सपने डुबोते हैं, और खो देते हैं। अतीत की मलिन व्यथाएं एक सात्वना-सी पा जाती हैं

रात चांदनी मस्त हवा है, नींद भरी-सी है मरमर!
स्वप्नलोक के गीत सुनाता चांदी-सा झरना झरझर!
मस्त बदलियां जैसे नभ के हों सुन्दर सपने सुकुमार
चले जा रहे निर्मित करने सुख का एक नया संसार!

बड़ी मनोहर शब्दावली है, जो चादनी के विभिन्न प्रभावो को प्रकट करती है। किंतु इतनी ही सीमा नहीं है। इस युग मे आकर बिचारा चाद लगडा भी हो गया है। वह चादी की किरनो की बैसाखी लेकर चला आ रहा है

देख रहा हूँ—
रजत रश्मियो की बैसाखी कर में लेकर
बढ़ता आतर चाँद ज्योति के
जगमग पथ में—

—कन्हैयालाल चञ्चरीक

लगडा तो है, मगर है रईस। चलता है चादी की बैसाखिया लेकर। यह है चलते-चलते ठिठका देना। 'मजाज़' ने 'बनिए की किताब, मुल्ला का अमामा, बेवा का शबाब, मुफ़लिस की जवानी' इत्यादि कहकर चद्रमा की प्रशंसा की है। ध्यान रहे बनिए की किताब से तात्पर्य बही से है, लिपटी हुई बही से, जिसके कोने नही दिखाई देते। वैसे शेक्सपियर ने 'ए मिड समर नाइटस ड्रीम' मे चद्रमा के कोनो को पहले ही लालटेन मे घुसवाकर यह समस्या हल कर दी थी। और कहा है कवि ने,

प्रश्न मौन अधर
मुखरित हो जाएँ तो रस बरसे,
लाज-भरे चारु नयन
स्यात् उठें, गिर जाए गाज कहीं
अचल के छोर अगर उड जाएँ हौले से
शर्माए रूपसि भी मन ही मन
कोऽसित्वम् ?
उत्तर एक चितेरे की कृति
वर्तुल रेखाओं में सिमटी-सी।

—कन्हैयालाल चञ्चरीक

यह उसकी दूसरी प्रश्नोत्तरी है। रस बरसता है चाद से। पर अधरो से भी बरस सकता है, अगर वे बोल पडे।

तो यों हम अपनी यात्रा मे एक दूसरे छोर पर आ निकलते हैं। नये कवि को ओस नीली दिखाई देती है। प्राय ओस नहीं दीखती, पर जब उसपर किसी रग की छाया पड़ती है तो दीखती ही है। हीरे-सी वह क्यो लगती है ? किरन पडने से। पर नीली लगती है नीले आसमान की छाया पडने से।

चाद आईना-सा भी लगता है।

चाद दही-सा भी दीखता है। यह मुझे ग्राम्यत्व दोष जैसी खटकनेवाली चीज

'पूरा चाद' मे जगदीश गुप्त ने इतना ही नहीं रखा है, अनबींधी किरन से उसके हाथ सदेसा भी पहुचाया जा सकता है। मनमुच बडा मनोहारी चित्र है। प्रत्येक युग के कवि नये रूप सिरजते है। आज का कवि भी पीछे नहीं है। जो उपमाए लोक मे व्याप्त हैं, वे भी एक दिन ऐसी ही नई थी। एक ग्रामचित्र है

जुन्हाई खिली
पूनम विपची में चांदी के स्वर भर
गाता है निर्झर अकेला विहाग
नभ की अटारी से चदन लुटाकर
धोता है राकेश सब दिन के दाग
सरसिज की पांखो में डूबी किरण को
रजनी की मीठी पहुनाई मिली
जुन्हाई खिली
झुरमुट की छाया में सारस की जोड़ी
सोयी है दुबकी-सी चोचें मिला
बगुलों की पांतें पोखर के तट से
उड़ती है धुले-धुले डैने हिला
उजली लहर पर फिसलती लताएँ
पेड़ों की चुप परछाई हिली
जुन्हाई खिली
केंचुल के पथ पर सूने पहर में
सरहा सहमकर भरता छलाग
हॅफती हुई है ये जो नो नील गायें
ज्वारो के खेतो से आई है भाग,
ठण्डी बयारो से तिहरी हुई-सी
डोलो है भीगी मकाई-तिली,
जुन्हाई खिली

—शैलेन्द्रमोहन श्रीवास्तव

जुन्हाई खिल गई। चादी के स्वर भरकर निर्झर गा रहा है। राकेश ने चदन बरसाकर दिन के दाग धो दिए हैं। डूबी किरण को सरसिज की पाखो मे रजनी ने पहुनाई दी है। बहुत ही अच्छा कहा है। मैं उपादेयतावादियो मे नही हू जो इस कोमल कल्पना की मार्मिकता को नही देखू। कुत्सित समाजशास्त्री अवश्य इसे केवल शब्दो का खेल कहेंगे, किंतु वह इसलिए कि वे प्रकृति और मानव-मन के गहन और गभीर सबधो

रुद्ध, पथभ्रष्ट औ' विक्षिप्त वासना-सी अतृप्त
कहीं पे दूर कभी रुक-रुककर किसीके प्यार-भरे गीत के
टूटे-से स्वर भूल से जागकर मानो तभी सो जाते हैं।
चांदनी रात है चुपचाप समर्पित मोहित अचल दिगंत के
आश्लेष में सोयी, खोयी, अबूझ स्वप्न में,
जैसे तुम हो, कभी चुपचाप अनायास मेरी गोद में
सो जाती हो
चांदनी रात औ !

—नेमिचन्द्र जैन

चित्र अवश्य खड़े होते हैं, परन्तु अंततोगत्वा वातावरण ही सामने आता है, क्योंकि एक के बाद एक छवि जल्दी-जल्दी आती है जैसे कवि सबका अंकन कर देना चाहता है। जिन कविताओं में चित्र की एकात्मकता होती है उनका प्रभाव अधिक अच्छा पड़ता है, यद्यपि बात उनमें भी प्रेम की ही होती है। और छंद की गीतात्मकता के कारण खटर-खटर उनमें नहीं होती।

ले किरण की सहज वल्लियाँ व्योम में
चाँद खेता रहा चाँदनी की तरी
और भुज - पाश में तरुवरों को कसे
भूमि पर गीत गाती रही वल्लरी—
भ्रू तुम्हारी उठीं, इंद्रधनु खिंच गया
भर गईं सब दिशाएँ मदिर हास से
प्राण मेरे रहें शून्य कैसे भला
जब कि मुस्का रहे हैं तुम्हारे नयन

—राजेश दीक्षित

चांद एक खिवैया बन गया है और किरनों की वल्लियों से चाँदनी की नाव को खे रहा है। बहुत सुंदर कल्पना है। फिर चाँदनी में विलासपक्ष जाग उठता है और कवि को तृप्ति की प्राप्ति होती है। ऐसा संतोष इतने मुखर रूप में कम मिलता है, क्योंकि प्रायः कवि दर्द की आहें तो लेते हैं, पर यह साफ-साफ नहीं कहते कि उन्हें किसी स्त्री से प्यार है। कम देने में एक स्वस्थता रहती है और स्पष्ट ही यह 'रानी' वाला गीत नहीं है। ऐसे गीत जो स्नेह की तृप्ति देते हैं, उनकी तुलना में वे गीत रखे जा सकते हैं जिनमें घरेलू जीवन की छाया मिलती है -

रैन हुई उजियारी !
चाउर चौक पुराए मैंने

थे, लेकिन सत्य हो नहीं पाते। तब वे अपने को सबसे कुछ अलग बना लेने की चेष्टा करते हुए भी दिखाई देते हैं कि मुझे साधारण मत समझो। कहते हैं

चाँदनी मेरा करेगी क्या!

×

मैं निपट सीमेंट का हूँ पन्थ,
मेरे लिए भी है यही राही परम हित
सम्पूर्ण जीवन का
उसीको माध्यम बना मैं जान सकता हूँ
कि छाया दे रहे हैं पेड़
खुशबू दे रहे हैं फूल,
थपकी दे रही है चाँदनी

×

मेरे हृदय हो तब तो!
चाँदनी मेरा करेगी क्या!

—भारतभूषण अग्रवाल

सीमेंट के पथ की यह हृदय के अभाव में लिखी गई कविता कितनी मज़ेदार है। छाया, खुशबू, थपकी, सब ऐसे जाने जा रहे हैं, जैसे अनुभव किसीका नहीं किया जा रहा है।

अब तो विचारा चाँद कुछ जली-कटी सुनने लगा। यह तो मान लिया गया कि उसमें कुछ आकर्षक अवश्य है। एक कवि ने उस ज्योति के फूल को देखा। कुम्हलाया पड़ा था। जगत् ने उसकी सुरभि ले ली और काम निकल गया तो उसे भूल गया। ऐसा सदैव होता है। लेकिन विचारा चाँद निर्वाण पा गया तो कोई बात नहीं, उसकी साधना तो सफल हो ही गई।

आज कुम्हलाया पड़ा है ज्योति का यह फूल
ले सुरभि आया जगत इसको गया है भूल।
सफल इसकी साधना यह पा गया निर्वाण
बुझ गया पर खींच लाया जगत में सुविहान
हो गया निश्चिन्त रवि को सौंप बुझती ज्योति के कणमात्र।

—वेमनारायण काक

क्योंकि वह जगत् में बुझने पर सवेरा ले आया। और अपनी बुझती ज्योति के कणमात्र उसने रवि को सौंप दिए, वह निश्चित हो गया। मर गया।

इतनी-सी रही आखिर चन्द्रमा की महत्ता!

मुग्ध चाँदनी सौरभ-भरी जवानी में माती थी।
चुपके-चुपके अपना कोई प्यार लिये आती थी।
नयनों ही नयनों में कैसी हुई अनोखी बात !
अनायास ही थिरक्न करता रहा किसी का गात !
तारों की स्वप्निल छाया में यह दुनिया सोती थी
किन्तु किसीकी पायल फिर भी रुनुक-झुनुक होती थी
मेरे गीतों पर कोई शर्माया सारी रात।

—कुमरदीप

तारों की स्वप्निल छाया में दुनिया सो गई, और किसीकी रुनुक-झुनुक पायल बजती रही। और सारी रात उन्हें देख-देखकर चांद मुस्कराता रहा। युवक जब कोई काम करते हैं तो समझते हैं कि उनने पहले किसीने ऐसा काम किया ही नहीं। जवानी है ही ऐसी, कि उसे हर पुराना भी नया ही लगता है। बिचारा चाँद और करता भी क्या ! दिल के तारों पर सारी रात जाने कितने लोगों को वह गाते पहले भी सुन चुका है। इधर कोई गीतों पर शर्माता रहा, उधर चाँद मुस्कराता रहा। यद्यपि कविता में माधुर्य है किंतु कवि का ध्यान इस बात पर नहीं गया कि क्या ध्वनित हो रहा है। क्या गीत इसी लायक थे कि उनपर किसीको शर्म आती और कोई दूर होने के कारण चुपचाप मुस्कराता रहता ! आत्मस्वीकृति की कैसी अनोखी बात है ! लेकिन यौवन में मनुष्य यह कहाँ सोचता है कि उसमें कितना ऐसा है जिसपर लोग मुस्करा सकते हैं। इस दृष्टि से यह कविता हास्य भी जगाती है, किन्तु जो युवक होगा और समान भोगी होगा, वह तो बड़ी लंबी आहें भरेगा ! किन्तु जब व्यक्ति और आगे बढ़ता है तब उसमें घुटन पैदा होती है और ऐसी घुटन जोकि उसे भीतर ही भीतर खाने लगती है। ऐसा ही चित्र अचल ने दिया है

डूबती, पिछले पहर की
चाँदनी-सी अनमनी हूँ

*आज मेरे प्राण पर कैसे वजन अविराम गिरते*
किस शिखर से आज तन-मन पर तृषा की धार गिरती
दूर बजती रागिनी-सी मैं उजड़ती लीन होती
किस विफल कैवल्य में डूबी, सिहरती सुधि पिरोती
साथ मेरे डूबते मेरे कलंकी चाँद-तारे
जो बने थे मार्ग-दर्शक इस असंगति के किनारे

# संवेदना और स्वानुभूति

मनुष्य प्रकृति का अंग है, और अंग होकर भी उसे जीत लेना चाहता है। किंतु दूसरी ओर उसका समाज स्वयं बहुत दुःखी है। यह एक द्वन्द्व है। वह प्रकृति का आनन्द लेता है, तो मनुष्य का दुःख वह कहाँ मिटा पाता है? यदि वह समाज की विषमता में ही जकड़ा हुआ रहता है तो प्रकृति के बारे में वह लिखता ही क्यों है? आखिर उसका प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण क्या हो? यदि प्रकृति एक रहस्य है, तो कवि उसे रहस्य के रूप में ही देख सकेगा। यदि प्रकृति एक निरन्तर चलता रहनेवाला क्रिया-व्यापार है, तो उसका चित्रण मनुष्य के हृदय में क्या संबंध रखेगा? आनन्द वह यदि उससे प्राप्त करता है तो उस आनन्द में लोक को क्या लाभ? यदि दलितवर्गों को भी प्रकृति के चित्रण में आनन्द मिलता है तो क्या वह मनुष्य को उसकी विषमताओं के यथार्थ से अलग कर देना नहीं है? ऐसा काम क्या अततोगत्वा यही प्रमाणित नहीं करता कि कवि वास्तव में उच्चवर्ग के हाथ में खेल रहा है? यदि समाज के ही चित्रण में कवि डूब जाता है, प्रकृति के खेलों का सौंदर्य इसलिए नहीं देखता कि उसके पास तत्काल अन्य और अधिक महत्वपूर्ण समस्या है, तो क्या वह मायकोवस्की की भाँति ही केवल नागरिकता में ही फँसा नहीं रह जायेगा? ऐसे लोग जो तत्काल को ही सार्वकालिक मानते हैं, यह भी मानते हैं कि मनुष्य का मनुष्य से पहला संबंध है। प्रकृति को रहस्य के रूप में क्यों रखा जाए, जब विज्ञान निरंतर उसके रहस्यों को खोलता जा रहा है। ऐसे समय में प्रकृति की उपासना करना मनुष्य की प्रगति की अवहेलना करने के समान है। किंतु अन्य कवियों को यह जीवन की एक यांत्रिक-सी व्याख्या मालूम देती है। वे मनुष्य की चेतना को अधिक व्यापक बनाना चाहते हैं और मनुष्य-समाज के भीतर ही उसे बंद नहीं कर देना चाहते। वे प्रकृति के विराट कार्य-व्यापार को देखना भी चाहते हैं। इन्हीं अनेक समस्याओं ने नये कवियों को प्रकृति के संबंध में एक वेदना दी है, जो कवि-जीवन के विभिन्न कार्य-व्यापारों के माध्यम से प्रस्फुटित हुई है। इस नई चेतना का एक रूप यों है

लचक-लचक कर चलने वाली हवा अनोखी
लहर बन गई नई चेतना के सागर की।

भारतीय परंपरा में वैसे तो पत्नी-मिलन की परंपरा है, परंतु प्रेम-मिलन भी कम नहीं है। इसीलिए स्वकीया का महत्त्व ही कार्य रूप में प्रयोग करनेवालों ने राधा-कृष्ण के परकीया प्रेम का रस खूब लिया है और एतराज करनेवालों को आत्मा-परमात्मा का नाम लेकर चुप कर दिया है। हमारा नया कवि किसी दूसरे की पत्नी को नहीं चाहता, कुमारी-प्रेम में रत है। समाज उसे घुसने नहीं देता। मजाज के शब्दों में

हदें वह बाँध रखी हैं हरम के पासबानों ने
कि बिन मुजरिम हुए पैगाम भी पहुँचा नहीं सकता।

जहां तक हिंदू समाज का साधारण मानसिक स्तर है वह तुलसीदास के काव्य के लिए उपयुक्त है, जिसमें समाज के अनेक पक्षों का धार्मिक विवेचन है। इश्के-मिजाजी पहले भी थे, लेकिन उन्हें केवल मनोरंजन के लिए लिया जाता था। अब अंग्रेजी पढ़े युवकों ने व्यक्तिपक्ष को पकड़ा। साधारण जीवन में अब तुलसीदास का सस्ता संस्करण मैथिलीशरण गुप्त हैं। तो नया कवि अपने पाठकों में मध्यवर्ग से नीचे नहीं उतर पाता। निम्न मध्यवर्ग में भी नहीं, क्योंकि दैनिक जीवन ऐसा घिरा हुआ है, अभी तक अपने धार्मिक कार्य-कलाप के अधकचरे विश्वासों में कि उसका नये कवि और उसकी आधुनिक मान्यताओं से पूरा मेल नहीं बैठता।

दास-जीवन में कवि ने स्वतंत्रता को प्रमुखता दी।

धूल उड़ती है नगर में
सांझ मटमैली उतरती,
और दिन की हड्डियों की
राख है नभ में बिखरती।
कांपती है सभ्यता,
दीवार पर दीवार गिरती
और टूटी मजारों पर
आंसुओं की धार गिरती।
बज रहे घड़ियाल मंदिर
गूंजते हैं आरती से,
आज मेरा गीत प्रेरित
है स्वयं मां भारती से।

—जगदीश

दिन की हड्डियों की राख नभ में उड़-उड़कर बिखर गई। सभ्यता कांपने लगी और पुरानी दीवारें ढहने लगीं। लेकिन दीवार पर दीवार का गिरना जिस गति को बताता है, वह काव्य-सत्य है, लोक-सत्य नहीं। आज भी स्वतंत्रता, आधुनिकता पढ़े-

में ही मन सीमित रहो, जीवन का आनंद भी लो। पर वह यह भी जानता है कि वासना से तृष्णा का अंत नहीं होता। सारी रात चुम्बनों से भीगा चाँद सबेरे भी मधु की प्यास ही खोजता रह गया। कवि नहीं समझ पाता कि अब क्या बाकी रह गया, क्योंकि वह तो तृप्त हो चुका है। पर वह समझता है जो अभी प्यासा ही है

ढलता नीरव चाँद गगन में
आधी रात गई, आधी रात रही।
साँझ सो गई दीप जलाकर जागी नहीं प्रभाती
जल-जल आधी रही गगन पर तारों की हर बाती
अभी जगत के बेसुध नयनों में है स्वप्न अधूरा
मूक सँदेसों में प्रिय तुम तक
आधी बात गई, आधी बात रही।

×

निशि के सपनों में अम्बर पर चली चाँद की डोली
पर उस पथ तक पहुँच न पाई किसी प्रात की रोली
गीतों के सब दूत लजीले तुम तक पहुँच न पाते,
दूर पिया के देश हृदय की
कुछ सौगात गई, कुछ सौगात रही।

—ज्ञानप्रकाश चतुर्वेदी

चाँद की डोली जा रही है। वहा तक कोई प्रभात भी अपनी लालिमा को नही पहुचा पाता। क्यो ? पहुचाएगा कैसे ? प्रभात को सपना कहा मिलता है जिसके अंबर तक वह चढ सके ! गीतो के दूत तो लजा जाते हैं, पहुच ही नही पाते ! चदा वास्तव मे यहाँ पुरुष के रूप मे नही, स्त्री के रूप मे है। एक ओर पिया का देश है, दूसरी ओर डोली। डोली स्त्री के साथ ही प्रयुक्त होता है। अत यह विरोध अखर सकता है।

और यहा चाद और तारो के संघर्ष का एक चित्र है

"चद्रमा की राह पर निर्मम काँच के टुकडे कौन बिछाता है ? कौन-सा नाटककार छिपकर रात-दिन के काले-सफेद पर्दे गिराता है। गगन मे सुख-दुःख खोजते आज भी सूरज कहाँ से आ रहे हैं ? सारे सितारे रात की अर्थी उठाये लिये जा रहे हैं। किंतु फिर से अरुण उषा जैसी क्षितिज की रूह बिसरी आ रही है।" (शिवबहादुर सिंह)

चादनी दर्शन का आधार बन गई है। कौन करता है यह सब ? किसके कारण यह सब होता है ? समस्त सृष्टि मे क्या सुख और दुःख व्याप्त है ? सितारे रात की अर्थी उठाए ले जा रहे हैं। मानो रात मर गई है क्योकि वह अधकार का रूप है। ज्योति के प्रतीक हैं सितारे। अत वे जीवन के प्रतीक हैं। वे उठाकर इस शव को किनारे लगा देंगे,

जा रहे हैं, यह पता नहीं चलने पाता। सितारे भी दया करने पर उतारू हैं। चांद सोने नहीं देता, क्योंकि जवानी तो हर हालत में जवानी है। और देह और मन का हाल यह है कि असमय में ही पतझर छा गया है। जिसको जड़ों में पानी न पहुंचे, उसका और होगा भी क्या! जो कुछ है एक गरीब की हंसी उड़ाई जा रही है। किसीमें भी सहानुभूति नहीं।

तब एक विश्वास और बोलता है

> चांदी के सांपों-सी बल खाई नदियों की
> कल-कल, छल-छल के उस पार—
> कि, देखो!
> पर्वत की उस स्याह ऊंचाई पर से कोई झांक रहा है,
> उठ सकती किस हद तक ऊंची
> इस धरती की कुचली मिट्टी,
> लाल रंग से आसमान पर आंक रहा है।

—नवरत्न स्वर्णकार

आशा बहुत बड़ी है। दूर पर जहां परिश्रम का फल दिखाई दे रहा है, जहां अपने अरमान पहुंच रहे हैं, जिसे हम एक ऐसी ऊंचाई समझते हैं, जहां तक पहुंचना श्लाघ्य है, वहां तक कवि का विश्वास उठता है। इस धरती की कुचली मिट्टी कितनी ऊंचाई तक उठ सकती है। देख रहा है प्रकाश का प्रतीक कि मनुष्य की गति कहां तक हो सकती है। वह मनुष्य जो कि कुचला पड़ा है, उसका उत्थान कहां तक संभव है! प्रायः ही माटी आज मानव और जीवन का प्रतीक है। कल तक इस माटी को भौतिक-भौतिक कहकर इसे तिरस्कृत किया जाता था, क्योंकि मनुष्य को आत्मा के रूप में देखा जाता था। आज कवि के दृष्टिकोण में यह बहुत बड़ा परिवर्तन आया है कि माटी को वह अत्यधिक महत्त्व दे रहा है। आत्मा क्या है? माटी की ही चेतना है। उसे माटी से अलग करके कोई देखना नहीं चाहता। यदि शंकराचार्य होते तो न जाने कितना शोक करते। तुलसीदास होते तो इस बात पर सिर धुनते कि जो सरस्वती राम का जप करने को मिली वह माटीस्तोत्र गाते हुए नहीं थक रही है। आज के कवि को यह बहुत करके लग रहा है कि उसके अस्तित्व में महत्त्व हो या नहीं हो, परंतु उसका अपमान अवश्य हो रहा है। सारांश में मैं कहूं कि आज उसका अहंकार पुराने कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक है क्योंकि वह सब-कुछ अपने लिए चाहता है, जबकि पुराना कवि मानता था कि यह सब अपना नहीं है, हम तो एक सराय में आकर बसे हुए मुसाफिर हैं। दूसरा कवि कहता है

> लहर सागर का नहीं शृंगार
> उसकी विकलता है,

विषयवस्तु नहीं है। सजाव-सँवार से इनकी प्रतिभा में सर्जन भी कम ही है, परन्तु फिर भी कुछ रचनाएं इनसे अच्छी भी निकल गई हैं, जिनमें वस्तु भी है। प्रयत्न करते रहने से आ ही जाती है। ऊपर की एक कविता इसीका आकर्षक उदाहरण है। प्राय अज्ञेय की कविता उसके उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' के ढंग की ही होती है, आत्मपरक ही, क्योंकि लोकपरक दृष्टि सहज होती है जो उत्स की तरह फूटती है, जबकि आत्मपरक में बहुत चेष्टा करके लिखा जाता है और शब्दों के चमत्कार को अधिक प्रश्रय दिया जाता है। टी० एस० इलियट का प्रश्रय लेनेवाले ये लोग इलियट से कोई समानता नहीं रखते, क्योंकि उसमें जो 'कैथोलिक मानववाद' है वह इन लोगों में केवल 'व्यक्ति वैचित्र्यवाद' मात्र है। परन्तु उपर्युक्त कविता इसके अतर्गत नहीं आती। चांदनी की शुभ्रता जैसी यहां है, वैसी ही एक और स्थल पर हमें मिलती है पर दूसरे ही ढंग से

शशि-शरद - शुभ्र ये शरद - अभ्र !
हिमधवल कपोतों-से मंजुल, अति मृदुल तूल के फाहों-से
आ नभ-उर रह-रह मँडराते वर्षा की शेष मधुर सुधि से;
उजले - उजले बिखरे - निखरे
शशि-शरद-शुभ्र ये शरद-अभ्र !
मस्तिष्क हृदय पर छा जाए वह प्रखर प्रखरता कब इनमें ?
नयनों में सहज समा जाए वह सहज सुघरता बस इनमें,
सुधि से उभरे, निज सुधि बिसरे
शशि-शरद - शुभ्र ये शरद - अभ्र !

—दीपि

शरत् के मेघों का वर्णन कर रहा है कवि, परन्तु उसकी उपमा वह शशि-शरद-शुभ्र से देता है। यहां शशि एक तुलनीय है जैसे शिव का अट्टहास। सारा चित्र अपने-आप में अपूर्ण है, व्यर्थ है, यदि 'शशि-शरद-शुभ्र' निकाल दिया जाए। कविता में खिलकती धूप आ जाएगी, जोकि शरत् की विशेषता है। शरत् शशि को ही मूल तुलनीय [illegible] ने दृश्य को एक शीतल स्निग्धता प्रदान की है, और वही इसका प्राण है। अब चांदनी मूर्त स्त्री बनती है

नव वसन्त की राका रजनी
पहन चांदनी की चोली, ओढे अम्बर पट
गोरे लाजारुण गालों पर
कुंतल केशों को बिखराए
जैसे स्वर्णिम स्वप्न-लोक की कोई दुल्हन
झांका करती अपने ऊंचे राजमहल के वातायन से -

घिसे हुए पीतल-सी पाडुर
पूस मास की धूप सुहावन
स्तनपायी नीरोग गौर-छवि
शिशु के गालों-जैसी मनहर
पूस मास की धूप सुहावन
फटी दरी पर बैठा है चिर रोगी बेटा
राशन के चावल से ककड
बीन रही पत्नी बेचारी
गर्भ-भार से अलस-शिथिल
हैं अग-अग,
मुँह पर उसके मटमैली आभा,
छप्पर पर बैठी है बिल्ली
किसके घर से जाने क्या कुछ खा आई है
चला-चलाकर जीभ स्वाद लेती होठों का
सब कुछ है, कोयला नहीं है
कैसे काम चलेगा बोलो ?
चावल नहीं सिझा सकती है
रोटी नहीं सेंक सकती है
भाजी नहीं पका सकती है
गरम-गरम ऊनी लिबास-सी
पूस मास की धूप सुहावन।

—नागार्जुन

घिसे पीतल के रग की-सी धूप। बहुत सुन्दर चित्र है। एक स्वस्थ बालक के गालो जैसी पूस की धूप। और फिर वह आता है घर की ओर। वहा कोयला नही है। बिना कोयले के रेल या इजन नही चलता। नागार्जुन की कविता कैसे चले ? अग्नि ही नही है। पूस की धूप का कवि क्या करे ? प्रकृति की पहली माग है पेट की भूख मिटाना। दूसरी मागें बाद मे आती हैं।

जीवन के दैनिक सघर्ष इतने कठोर हो गए हैं कि कवि घुटा जा रहा है। भूखे कवि को पडोस मे कुछ चाट आई बिल्ली कितनी सुखी लग रही है कि वह बडे ध्यान से उसको निहारकर उसका पूरा वर्णन करता है। जब यह समस्या नही रहेगी, तब अवश्य इस कविता का महत्त्व कम हो जाएगा, किंतु आज तो इसके तीखेपन मे शक्ति है, यह बिलकुल उचित बात है। कवि की दृष्टि एक ओर नही, सब ही ओर होनी चाहिए। यहा

आ गई आँधी घिरे
बादल घने आकाश में
धूल के लघु पृष्ठ बोले
फूल के इतिहास में
आग की चिनगारियाँ
उडने लगीं मधुमास में
शक्ति की विद्युत जली तब
भक्ति बन विश्वास में
साधना-सी जा रही।

—केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

ऐसे समय मे चाँदनी का अपना महत्त्व नही रहता। वह प्रकृति की एक क्रिया-मात्र रह जाती है और कवि-मानस उससे प्रभावित नही रहता। उसकी दृष्टि केवल दार्शनिक बनकर रह जाती है। यह चित्र सहज भी नही होते, यद्यपि होते हैं गंभीर। यदि धैर्य से उनपर चिंतन किया जाए तो ये भाव जगाते हैं और ऐसे जोकि काफी गहराई तक प्रभाव डालते हैं। किंतु इतनी क्रिया हो जाने पर वह कविता नही रहती, दर्शन आ जाता है, बहुत मनोहर ढग से प्रस्तुत किया हुआ दर्शन। वैसे यह सहज का मार्ग काफी हद तक स्थूल है, जो गहराई को एकदम से अलग करके रख देता है। रूप का आकार लेकर नयनो मे चाँदनी मोतियो की हँसी-सी बिखेर देती है। तब शून्य शब्द बन जाता है, किंतु कवि ने यहा भ्रम छोड दिया है। हम कह सकते हैं कि शब्द शून्य बन जाता है और व्यापक रूप मे शब्द एक अभिव्यक्ति है, तो शून्य उसका स्वरूप। इस प्रकार दोनो एक ही ठहरते हैं। सौंदर्य की प्यास दोनो मे है। चादनी के उपरात दूसरे प्रकृतिरूप को कवि देखने लगता है। और चांद जब जीवन का साथी बनता है तब वह बहुत ही तीखा चित्र सामने उपस्थित करता है जिसमे संघर्ष भी है।

मेरे बचपन का साथी यह चंदा मामा
मेरे आँसू देख जिसे माँ निकट बुलाती
तुम कहते हो किसी सुंदरी-सा सुंदर है
जिसका यौवन चुरा निशा नभ में मुस्काती;

×

मुझे याद है जब मेरी तुतली-सी बोली
रोज चाँद से धरती पर आने को कहती
तब मेरे नन्हें हाथों मे देकर रोटी
मुझे धरा का चाँद दिखा माँ यों बहलाती

आस्था दोनों के साथ-साथ चलने के कारण दो प्रतिष्ठापनाएं संग-संग चलती हैं, जिसका फल होता है विचार और भाव का साथ-साथ दिखाई पड़ना। कभी-कभी हम व्यापकता में भी संकोच को देखते हैं .

प्रतीक्षा की बहुत जोहा बाट
जेठ बीता, हुई वर्षा नहीं,
नभ यों ही रहा खल्वाट!

×

आज होगी, सजनि, वर्षा, हो रहा विश्वास
हो रही है अवनि पुलकित ले रही नि:श्वास
किन्तु अपने देश में तो
सुमुखि, वर्षा हुई होगी एक बया के बार
गा रहे होंगे मुदित हो लोग खूब मलार
भर गई होगी अरे वह बाग्मती की धार
उगे होंगे पोखरों में कुमुद, पद्म, मखान '

—नागार्जुन

आकाश का खल्वाट रूप अच्छी अभिव्यक्ति है। खल्वाट में दो भाव हैं। एक तो यह कि यहां से एक समृद्धि उजड़ चुकी है, और दूसरी यह है कि अब यहां कुछ जमेगा भी नहीं। खल्वाट में कुरूपता तो है, परंतु नीरसता भी है। कवि अब अपने देश को याद करता है। यहां वह संकुचित हो जाता है, क्योंकि देश और जन्मभूमि को मिलाना ठीक नहीं है, और फिर एक भूखण्ड की प्रशंसा निश्चय ही यह भी भाव जगाती है कि दूसरा भूखण्ड बुरा है। और कवि आकर यहां फंस गया है। इस कविता का रस वही ले सकता है, जिसके यहां वर्षा जल्दी हो जाती हो। सौभाग्य से अभी कवियों में यह होड़ नहीं चली है यद्यपि इसका सूत्रपात कुछ नवीन कर चुके हैं। इस आत्मप्रशंसा से हमारे व्यापक दृष्टिकोण को धक्का पहुंचता है, अत यह श्लाघ्य नहीं है। वस्तुत जो यहां सुंदर है, वह है कवि का वर्षा का वर्णन और वर्षा की अनुभूति से जन्म लेनेवाला उसका आनंद।

'एक बया कै बार' में ताल-पोखर लबालब दीखते हैं और वर्षा ऋतु का सारा शृंगार सामने आ जाता है।

पुराना कवि सुंदर को ही अपनाता था। यद्यपि अब भी अधिक विविधता हमारे यहां नहीं आई है, फिर भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं।

'बबूल' एक ऐसी ही कविता है। बबूल पर वसंत आया और वह हरा हो उठता

भव-दव-तरु का दीपक
फैला प्रकाश अपलक।
आलोकित धरा-गगन
विस्मित है विपिन सघन
मूक खड़े हैं तरु-गन
किरनों की पहने स्रक् !
फीके पड़ गये सतत
इन्दु-ज्योति क्षत-विक्षत
सकल ज्योतियाँ आनत
कम्पित तम-उर धक-धक।
विप्लव दीपक जगमग
आलोकित नवयुग-मग
शीतल जन-जन-मन-दृग,—
दीप जले जुग-जुग तक।

—अनन्तकुमार 'पाषाण'

विप्लव के दीपक के जल उठने पर ही नवयुग का मार्ग आलोकित होगा, जन-जन-मन-दृग में शीतलता छाएगी और यह कवि की कामना है कि यह दीपक युग-युग तक जले। किंतु इस गीत की अभिव्यक्ति केवल समाज के राजनीतिक रूप तक ही सीमित नहीं है। वह सांस्कृतिक पक्ष भी लेता है और प्रकृति उसका प्रतीक बन जाती है। वस्तुत भव-दव-तरु का दीपक चद्रमा नहीं है। वह तो इस नई ज्योति के आगे क्षत-विक्षत हो गया है और सकल ज्योतियां सिर झुका गई हैं। अंधकार का हृदय धक-धक कर रहा है। अभिव्यक्ति छायावादी शब्दावली में ग्रस्त है, परंतु वस्तु उसके बाहर की है। मैं जब छायावादी कहता हूं तब मेरा अर्थ यहां उस शैली-विशेष से है जिसमें ऐसे शब्द रखे जाते हैं जो केवल व्यंग्यार्थ में अपना अर्थ प्रकट कर सकें। अन्यथा वे ठीक तथ्य पर नहीं ले जा सकते। यहां मैं अलकारों की खोज करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भांति घिसी-पिटी लकीर पर नहीं चलूंगा।

निराशा में चंदा का दर्जा गिरता है। "क्यों चांद चंद्र बन गया, चांदनी क्षार बन गई। मौन मरण की बांहों में लहरें क्यों सो गईं? ज़िंदगी की जीत क्षण-भर में हार क्यों बन गई? ओ ज़िंदगी! भागो मत। छाती में अब भी तुम्हारा प्यार जीवित है।"

(राजेन्द्रकिशोर)

पराजय में उल्टा ही लगता है सब। परंतु सुधा अब चांद से गीत में अधिक मानी जाती है: "प्रणय की मधुर रागिनी मिल गई है, जिस तरह स्वातिकण सीप में

सघ-सघ बहु-रंग मधुर फल-दल-आस्वादन
वन-विहार पांखें पसार लघु भार पवन-तन
अव्याहत, निश्चिंत, शान्त अपनी दिनचर्या
त्रिया आगामिनी यामिनी की प्रिय चर्चा
या कि बधिक के फंदे से बचने का कौशल
अथवा सोच-विचार रहीं—आने वाला कल
कौन कहे, मुंह खोल रही, क्या बोल रही है
मानव-मन-सा होगा उनका भी चञ्चल चित ?

—जानकीवल्लभ शास्त्री

सहज जीवन का कितना कोमल वर्णन है। ये दो पक्षी भारतीय दर्शन में पहली बार उपनिषदों में आते हैं। एक मत से वे आत्मा के ही दो रूप हैं, दूसरे मत से वे आत्मा और परमात्मा हैं। किंतु जानकीवल्लभ के पक्षी कीट्स की एक जाड़े की ऋतु में पत्ते गिरे वृक्षों की याद दिलाते हैं। कीट्स ने कहा है—क्या इन वृक्षों को भी याद आती हैं अपनी पीड़ाएं ? वही भाव बोलता है कि क्या इनका मन भी मनुष्य जैसा चंचल होगा ? कवि अपने जीवन की चिंताएं देखकर पक्षियों के जीवन से तुलना करता है। उसे वे निश्चिंत लगते हैं। बहुत ही सूक्ष्म रूप में कवि जीवन के उद्देश्य के बारे में पूछ रहा है कि भविष्य क्या है ? क्या स्वाभाविक रूप से जीवित रहना ही काफी है, या मनुष्य के रूप में जो यह प्राणी अपने को इतना अधिक महत्त्व देता है, वही प्रमुख है ? क्या प्राणी-मात्र अपने को सुरक्षित रखने की चेष्टा में लगा हुआ नहीं है ? व्यापक है यह दृष्टि जो आगामी कल में भी यही समस्या रखेगी क्योंकि इन प्रश्नों को मनुष्य बहुत दिन से सोचता चला आ रहा है।

आनन्द और चिंता जीवन के दो रूप हैं। एक है अपने अस्तित्व का पूर्ण आनन्द अनुभव करना, दूसरा है उसे बनाए रखने का प्रयत्न। वस्तुतः यह प्रयत्न भी आनन्द की ही प्राप्ति का एक साधन है, एक प्रतिरूप है। प्रयत्न बिना जीवन नहीं है। सब बहे जा रहे हैं, किंतु अपनी इकाइयों में भी वे उतने ही तल्लीन हैं, जितने अपनी सामूहिकता में। एक कवि पूछता है

बोल-चाल नभ मौन,
गुनहगार है कौन ?
जीनेवाला या जीने की चाह !
दीवाने मन ठीक नहीं है
कभी किसीको छलना
मृत्यु बहुत भली है मेरे

अहङ्कार बोलता है—सुधा तो है, पर मेरे गीत मे हैं। आओ समर के लिए तत्पर हो जाओ! किंतु जिसे ईश्वर में विश्वास है, वह कहता है

यह मधुर यामिनी, चैत चांदनी
टेर रही है द्वार - द्वार
खोलो किवार, खोलो किवार।

×

दो घड़ी तुम्हारे लिए आज
प्रभु ने खोले हैं स्वर्गद्वार।

—केसरी

इस जीवन मे परमात्मा ने सब तरह के दृश्य तुम्हे दिए हैं। सौंदर्य तुम्हारी उदात्त भावनाएं जगाने के लिए है। उसकी उपेक्षा मत करो, तुम कुछ भी करना चाहते हो, उसे अवश्य करो, किंतु कभी भी यह मत भूलो कि तुम नियामक नही हो, सौंदर्य का सिरजन करनेवाला एक और है, जो तुमसे भी ऊंचा है। तुम निमित्त हो, भले ही अपने अहंकार में 'उसे' देखने से इंकार कर दो। उसकी छवि सचमुच कहीं अधिक अपरूप है .

लगी है सुधि की रेशम डोर
झूल रहा आंखों के पलने में मेरा चितचोर
सिंधु-सी उसकी स्वप्न - हिलोर—

—केसरी

प्रभु की बात इस युग के कवियो मे नही के बराबर पाई जाती है। यह नही कि सब ही नास्तिक हो गए हैं, किन्तु अब नये-नये उपमान रखे जाते है। नये-नये प्रतीकों से प्रभु को याद किया जाता है।

इसमें देश, जाति और प्रकृति सबका भी समन्वय हमें कहीं-कहीं मिल जाता है।

राजशिवपुरी की एक कविता मे ऐसा चित्रण बहुत आकर्षक हुआ है। नारी-हृदय प्राय ही समर्पण मे सौंदर्य देखता है और भारत मे तो यह विशेषता है। अर्चना के जलजान इसी दृष्टि मे खुले जाते हैं।

चांदनी सा गात लिए धरती हसती है। भारत मुक्त हुआ है। उसके आनंद से हृदय सराबोर है। पृथ्वी और आकाश दोनों मे ही दीपक जल रहे है। आकाश के दीपक नक्षत्र हैं, जो अर्चना के जलजान मे दिखाई देते हैं। धरती एक सीप की तरह अपने मे मोती छिपाए हुए है। कौमुदी से पथ लिप गया है। यह कितनी मनोहर अभिव्यक्ति है।

देशभक्ति-सम्बंधी कविता मे चांदनी का ऐसा वर्णन हमें अन्यत्र नही मिला है इसलिए भी इस कविता का अपना महत्त्व है। भारत, 'दीप वाला देश' है

इतिहास के उन स्वर्णहर्म्यों पर विपुल !
उच्च वह प्रासाद यौवन का गुलाबी लिए स्वप्नोन्माद,
जिनकी जड़ें सिंचतीं मनुज-शिशु की विपुल शोणित राशि से !
बजता पियानो, प्रेम का फिर स्वांग होता,
और मेरी लेखनी की सूखती मसि
डुबोकर अपने कलेजे के लहू में मैं मनोहर गीत लिखता !

—अनंतकुमार पाषाण

अब सत्ता का प्रश्न इतना नहीं रहता, जितना यह भाव जागता है कि जीनेवाले जी क्यों नहीं पाते ? गीत के आकाश में भाव-चंदा हंसता है। वस्तुतः यहां प्रकृति नहीं है, किंतु यह प्रकृति का ही रम्य रूप सामने लाता है। सागर, नक्षत्र, स्वर्गंगा, सब ही हमें मिल जाते हैं। इसे शैली के रूप में नया ही समझना चाहिए क्योंकि यहां उपमान ही प्रमुखता प्राप्त करता है, अन्यथा इसमें कोई विशेषता नहीं है। शहीदों की याद के दीप, शोणित और शोषण, प्रेम का स्वांग और लहू में डूबी कलम, यह सब बाद में तब ही अपना प्रभाव दिखा पाते हैं जब वह पहला चित्र हम आत्मसात् कर लेते हैं।

कविता में रंगीनी इतनी अधिक है कि वह आक्रोश नहीं जगाती, विस्मय जगाती है और इसलिए इसकी शैली के अनुरूप ही इसमें विषय का भी चमत्कार है।

समाजपक्ष का यह रूप प्रत्येक कवि में प्रायः मिल ही जाता है, क्योंकि यह तो युग का प्रभाव है। सीधे-सीधे जो कह देते हैं, उनमें ऐसा सौंदर्य नहीं आता, दूसरे प्रकार का मिलता है।

सौंदर्य ही मूलतः केन्द्र है। दर्शन, मनन और चिंतन, मूलतः उसीको साकार प्रस्तुत करने की चेष्टा में लगे रहते हैं, कवि कहता है

किसी अधखिली आंख की ज्योति पीकर
घरी डाल तेरा खिला फूल होगा।
किसी बूंद की जिंदगी सोचता हूँ
नदी की लहर में कभी मौन सोई
कभी हंस पड़ी, चांदनी से गले मिल,
कभी बादलों का हृदय छेद रोई,
मगर अंत में बूंद, शृंगार तेरा
नदी की नियति पर बँधा फूल होगा।

जीवन का यह संघर्ष बताता है, कि जीवन ही से जीवन को प्रश्रय प्राप्त होता है और यह गुणात्मक परिवर्तन अपनी मात्रात्मकता के भेद से नए-नए रूप धारण करते

शलभ - सा उन्माद लेकर चूमने नख-ज्योति तेरी
मिट चला वह प्यार तन्मय।
चरण में उत्सर्ग जीवन-दान तो है।

—शकुन्तला रेणु

व्यक्ति को इतना महत्त्व काव्य में पहले नहीं मिला। पहले कवि को बाह्य आधार मिलता था। अब उसे स्वयं ही अपना आधार बनाने की मजबूरी है। यह जिम्मेदारी बहुत बड़ी आ पड़ी है। "मैंने तो तेरी एकाकी भक्ति मांगी थी। पर उस एकाकीपन ने जग की सारी सीमा नाप डाली। वह तो अपार सिन्धु बन गया और मैं उतराती फिरने लगी।" (विद्यावती कोकिल)

इसीलिए यह सकट आया है कि क्षण में कुछ और दूसरे ही क्षण कुछ और दिखाई देता है। इसीसे चमत्कार भी अपना सबल खोज पाया है।

काव्य की मिठास केवल चमत्कार में नहीं रहती। अरूप को विचित्र प्ररूप के माध्यम से चित्रित करने पर काव्य उज्ज्वल हो जाता है।

जहां चमत्कारमात्र ही प्रमुख रहते हैं, वहां भाव भकझोर नहीं करते। केवल प्रकृति के क्षेत्र में जब उनका मन सहज रूप से मिल जाता है, तब वे ऐसे नहीं रहते। *अधुनिकता की बनावटी लगाम ढीली कर देने पर उनकी भाषा का अश्व हिरन की तरह* नहीं चलता। ऐसे कवियों को चुनौती दी है गिरिजाकुमार ने और कहा है

उजला पाख क्वांर का फूला कास - सा
खिली चांदनी रात कि कली सुहावनी,
नरम मखूनी रंग घुले आकाश में
रची हुई है पूरनमा की चांदनी,
उड़ती भीनी गंध हवा में दूब की
बिखरा सोई कोरे कुंतल कामिनी,
खुली ओस में बिछी दूधिया सेज-सी
पानी-सी ठंडी है रितु मनभावनी।
आसमान में भरा श्वेत रस सोम का
नयनों में मद-भरी सलोई झूलती,
हिम के मृग भर रहे चौकड़ी चांद में
नवल नारि-सी अलस केतकी फूलती,
उभरे रोएँ छुवा गई है चांदनी,
सींग नुकीले चुभा गई है चांदनी,
चंचल नयनी गोरी हिरनी चांदनी।

—गिरिजाकुमार माथुर

की भांति नहीं। वेदना का जो स्वरूप मनुष्य देखता है, आवश्यक नहीं है कि प्रकृति में भी वैसा ही हो। 'रेणु' में कवि ने अपनी आकुलता को इतिहासों में सराबोर करके भी देखा है, किंतु इसका अंत उसका नया मार्ग नहीं, पीड़ा ही है। धूल भी तो अपना महत्त्व रखती है

मनमानी किसी मथरा की मैं दारुण एक कहानी हूँ
साकेत वासिनी रही कभी अब पंचवटी की रानी हूँ
जब गौरव-गिरि के सिर-किरीट बन हीरा-सी मैं जड़ी रही
अब किरणों के पथ अधरों की हमजोरा-सी मैं खड़ी रही
जब रत्नपीठिका शिव की त्रिभुवन की साधना-शिला थी मैं
उस समय अरी भोली जगती! तू ले बेसुध-सी पड़ी रही!

×

रे वृद्ध विश्व! रे जरठ जीठ! कुछ तो बचपन की बात बता
मेरा कैसा था प्रात! और यह कैसी भीषण रात हुई!

×

यह अंतिम प्रहर निशा का फिर मैं उषावीप नूरानी हूँ
क्षण अग्नि-परीक्षा! फिर तो मैं साकेत-पुरी की रानी हूँ।

—केसरी

धूलि! धूलि ही! मनुष्य के इतिहास की साक्षी है! वह प्राचीन है। मनुष्य की देवकल्पना से भी प्राचीन। किंतु वह भी अपने विषय में कितना जानती है! उसका आदि कहां है? कवि ने बहुत ही सशक्त कविता लिखी है, जैसे बहुत कम मिलेंगी। इस एक कविता में कितने उतार-चढ़ाव आकर समा गए हैं कि देखते ही बनता है। धूलि के कितने आवर्तन हैं जो अपने साथ स्मृति के कितने-कितने प्रकार धारण नहीं किए हुए हैं! काल, सत्ता और मनुष्य की ममता, उसकी वासना, सबका ही यहां तादात्म्य हो गया है, क्योंकि कवि ने यहां उसे अपना विवधारी बनाया है, जिसका कि सारा ब्रह्माण्ड एक प्रसारमात्र है। मनुष्य के जीवन-मरण ने उसे हसाया है, रुलाया है। उसीने अपने लोक के अतिरिक्त अनेक लोकों की उससे कल्पना करवाई है और अपने ही बनाए विश्वासों के रहस्य और रोमांस में मनुष्य ने विभिन्न रसों की अनुभूति पाई है। किंतु प्रकृति में उसने एक साहचर्य पाया है। सब कुछ के बीच में रहता हुआ भी जैसे वह उसके बिना कुछ भी नहीं है। वह प्रकृति को भी अपनी वेदना की सहचरी बना लेना चाहता है

नन्हे-नन्हे भोले-भोले ओ अनबोले तारो, बोलो
मेरे सूखे सूनेपन में अपना मधुमय कलरव घोलो

फिर उसे क्यों हो न विभ्रम
गुञ्जरित वातावरण है!
दूध से मानो, धुला
आकाश का अंतःकरण है,
स्वप्न में भी चौंक उठते
प्राण शशि को देख अनुपम!

—आरसीप्रसाद सिंह

इस गीत में न कोई विशेषता है, न कोई चमत्कार है, किंतु यह है बहुत सुन्दर! ऐसे मौके पर बड़ी मुसीबत हो जाती है। कहाँ उंगली रखी जाए! किंतु यह सौंदर्य इसकी अनुभूति में है और कहीं नहीं। 'आज' में ही एक आवेश है, और वहीं से इसमें पकड़ आ जाती है। ऐसा कल नहीं था, 'आज' ही यह बात है।

एक युवक कवि को यह चंद्रमा भी काला दिखाई देने लगता है

नीम के पीछे उगा है
चाँद पूनम का सलोना।
हैं बगीचों में जुटी रंगीन कलियों की सभाएँ,
हैं विटप के एक इंगित पर लिपट जातीं लताएँ,
ले रहीं अँगड़ाइयाँ किरणें सिहरते पल्लवों पर,
चल रहा भू पर गगन का
एक जादू, एक टोना।
एक है वह रात, जो है हँस रही घूँघट उठाए,
एक तुम हो, रह गई जो भूमि पर आँखें गड़ाए
क्या लजाती हो भला इस चाँदनी, इस चंद्रमा से!
चंद्रमा तो है तुम्हारे
रूप का केवल डिठौना!

—रामकुमार चतुर्वेदी

अपनी-अपनी भावना रही। प्रिया का मुख इतना उज्ज्वल है कि उसे नज़र न लग जाए इसलिए माथे पर लगाए काले दाग-सा लग रहा है चंद्रमा। प्रेमियों ने काले तिल को गोरे गाल पर देखकर बड़ी हाय-हाय की थी। बिहारीलाल चाँदनी में राधा का तन ही नहीं देख पाया, क्योंकि वह भी गोरी और राधा भी गोरी। मगर आजकल होते तो लोहा मान गए होते! कि चंद्रमा केवल डिठौना है! यौवन भी कैसी रस-भरी अवस्था है, जब अपने सामने कुछ दीखता ही नहीं। इस कविता को पढ़कर मुझे भवभूति की वह बात याद हो आई जहाँ उसने कहा है कि सरस्वती मेरे पीछे ऐसे चलती है जैसे

तिनका ? तेरे हाथों में है
अमर एक रचना का साधन—
तिनका ? तेरे पंजे में है
विधना के प्राणों का स्पंदन !

तू मिट्टी था, किंतु आज
मिट्टी को तूने बाँध लिया है
तू था सृष्टि, किंतु स्रष्टा का
गुर तूने पहचान लिया है !
तिनका पथ की धूल, स्वयं तू
है अनंत की पावन धूली—
किंतु आज तूने नभ-पथ में
क्षण में बद्ध अमरता छू ली।

—अज्ञेय

किसीका भरोसा नहीं। अकेले चलना है। शक्ति अपने पास होनी चाहिए, बस किसी भी तरह इतना हो कि जीवन की गति न रुक जाए। ऊपर, और ऊपर उठना है। तिनका क्या है? रचना का साधन है, वह विधना के प्राणों का स्पंदन है। यह व्यक्ति मिट्टी है, किंतु जब आकार प्राप्त हो जाता है तब वह मिट्टी का स्वामी बन जाता है। सृष्टि का अंग होकर भी, वह स्रष्टा बन जाता है, क्योंकि वह नया निर्माण करता है। अनंत की पवित्र धूलि है, और सारा खेल धूलि का है, किंतु जब व्यक्ति उठता है, तब अमरता को छू लेता है।

किंतु व्यक्ति के पीछे जो महाकाल लगा हुआ है, वह उसके साहस को चुनौती है। अमरता एक भूल हो-सी दीखती है उसे, क्योंकि उसकी विशालता भी अनंतोगत्वा एक छोटी-सी सीमा है

महा स्वप्न में कल्पना जागती है
*निशा चुप, दिशा चुप, गगन चुप खड़ा है।*
निशा जा रही है, उषा आ रही है
विपल, पल, कला की घड़ी खा रही है,
तिमिर चल रहा है ढके साँस मेरी
गगन पी रहा है हृदय की अँधेरी

×

महाकाल के प्राण केवल सजग हैं
नियम में बँधे ज्योति के चित्र खग हैं

बड़ी मनोहर शब्दावली है, जो चांदनी के विभिन्न प्रभावों को प्रकट करती है। किंतु इतनी ही सीमा नहीं है। इस युग में आकर विचारा चांद लगड़ा भी हो गया है। वह चांदी की किरनों की बैसाखी लेकर चला आ रहा है

देख रहा हूं—
रजत रश्मियों की बैसाखी कर में लेकर
बढ़ता आता चांद ज्योति के
जगमग पथ में—

—कन्हैयालाल चञ्चरीक

लगड़ा तो है, मगर है रईस। चलता है चांदी की बैसाखियां लेकर। यह है चलते-चलते ठिठका देना। 'मजाज़' ने 'बनिए की किताब, मुल्ला का अमामा, बेवा का शबाब, मुफ़लिस की जवानी' इत्यादि कहकर चंद्रमा की वर्णना की है। ध्यान रहे बनिए की किताब से तात्पर्य बही से है, लिपटी हुई बही से, जिसके कोने नहीं दिखाई देते। वैसे शेक्सपियर ने 'ए मिड समर नाइट्स ड्रीम' में चंद्रमा के कोनों को पहले ही लालटैन में घुसवाकर यह समस्या हल कर दी थी। और कहा है कवि ने,

प्रश्न मौन अधर
मुखरित हो जाएं तो रस बरसे,
लाज-भरे चारु नयन
स्यात् उठें, गिर जाए गाज कहीं
अंचल के छोर अगर उड़ जाएं हौले से
शर्माए रूपसि भी मन ही मन
कोऽसित्वम् ?
उत्तर एक चितेरे की कृति
वर्तुल रेखाओं में सिमटी-सी।

—कन्हैयालाल चञ्चरीक

यह उसकी दूसरी प्रश्नोत्तरी है। रस बरसता है चांद से। पर अधरों से भी बरस सकता है, अगर वे बोल पड़ें।

तो यों हम अपनी यात्रा में एक दूसरे छोर पर आ निकलते हैं। नये कवि को ओस नीली दिखाई देती है। प्रायः ओस नहीं दीखती, पर जब उसपर किसी रंग की छाया पड़ती है तो दीखती ही है। हीरे-सी वह क्यों लगती है ? किरन पड़ने से। पर नीली लगती है नीले आसमान की छाया पड़ने से।

चांद प्रार्थना-सा भी लगता है।

चांद दही-सा भी दीखता है। यह मुझे ग्राम्यत्व दोष जैसी खटकनेवाली चीज

जैसे कली का जीवन कोमल होने के कारण शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, परन्तु वह सहज नहीं मरता तो दुःख उठाता है और स्वयं ही अपने बल पर जीवित रहता है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी है। यद्यपि कवि ने यहां प्रच्छन्न ढंग से वर्ग-संघर्ष की मान्यता को बल दिया है कि उच्चवर्गीय कला संरक्षण में पलने के कारण अशक्त है, और लोक की विद्रोह-भरी आकांक्षा को जीवित रखनेवाली कला सशक्त है, किंतु वह इसे इतना प्रकट नहीं करता, जितना इस सत्य को कि मनुष्य की धारणा को जीवित रहने के लिए संघर्ष करना ही आवश्यक है। क्या कवि कली का हलकापन दिखाकर उसकी अवहेलना करके सौंदर्य के एक मूर्त आधार को ही कम नहीं कर देगा, यदि हम मान लें कि वह अपनी संकुचित राजनीतिक भावना में ठीक है? हमें यह नहीं देखना है कि कवि चाहता क्या है, हम तो यह देखते हैं कि कविता क्या कहती है।

व्यक्ति, समाज और सृष्टि के संघर्ष को हम यहां इस रूप में पाते हैं कि अपनी-अपनी सत्ता में सौंदर्य है। जीवन के अनेक रूप हैं। अब यह कि कौन-सा श्रेष्ठ है, यह कवि के अपने दृष्टिकोण पर निर्भर है। प्रकृति और मनुष्य का द्वन्द्व ही उसे इस जगह ले आया है, जहां अपने को जीवित रखने के लिए वह यदि असुन्दर में सुन्दरता देखता है, तो उपयोगितावाद के आधार पर सौंदर्य की शाश्वत भावना के प्रति भी संदेहास्पद हो उठता है। और सब कुछ होने पर भी वह अभी अपनी मंजिल तक पहुंचा नहीं है.

फूल खिल-खिलकर सदा मुरझा रहे
आज विस्मृति में पड़े मधुमास हैं
झूम मस्ती में हवाएं जो बहीं
आज वे ही बन गयी निश्वास हैं
आज यौवन की सभी अंगड़ाइयां
हो रहीं अपनी व्यथा में चूर हैं,
आ गई मंजिल मगर वे दूर हैं।

—कुलदीप

मनुष्य की अपनी भावना ही सबको प्रतिबिंबित करती है। हास है तो सब हंस रहा है; दुःख है, तो सब ही रो रहा है। प्रिय या प्रिया के रूप के आधार पर ही सही, परन्तु जो कुछ उसका प्राप्तव्य है, वह अभी उसे मिल नहीं पाया है। अपनी विवशता की कुरूपता यदि मनुष्य प्रकृति पर लाद देगा तो क्या पाएगा वह? क्या इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि मनुष्य ही कुरूप नहीं बनता, प्रकृति में भी कुरूपता होती है, तो क्या यह भी एक अर्द्ध सत्य नहीं है? सौंदर्य अपने-आप में नहीं, दो संसर्गों के क्षण के ही परिणाम में जन्म लेता है। आज के मनुष्य को अपनी विकृत दृष्टि को छोड़ना ही पड़ेगा और यह याद रखना पड़ेगा कि उपनिषदों के कवियों ने जब साम गान सुनना प्रारंभ

'पूरा चाद' मे जगदीश गुप्त ने इतना ही नहीं रखा है, अनवोधी किरन से उसके हाथ सदेसा भी पहुचाया जा सकता है। सचमुच बड़ा मनोहारी चित्र है। प्रत्येक युग के कवि नये रूप सिरजते है। आज का कवि भी पीछे नहीं है। जो उपमाए लोक मे व्याप्त हैं, वे भी एक दिन ऐसी ही नई थी। एक ग्रामचित्र है

जुन्हाई खिली
पूनम विपची में चाँदी के स्वर भर
गाता है निर्झर अकेला विहाग
नभ की अटारी से बदन सटाकर
धोता है राकेश सब दिन के दाग
सरसिज की पाँखो में दूबी किरण की
रजनी को मीठी पहुनाई मिली
जुन्हाई खिली
झुरमुट की छाया में सारस की जोड़ी
सोयी है दुबकी-सी चोचें मिला
बगुलो की पाँतें पोखर के तट से
उड़ती है धुले-धुले डैने हिला
उजली लहर पर फिसलती लताएँ
पेड़ो की चुप परछाई हिली
जुन्हाई खिली
केंचुल के पथ पर सूने पहर में
लरहा सहमकर भरता छलाग
हँफती हुई है ये जो नौ नील गायें
ज्वारो के खेतो से आई है भाग,
ठण्डी बयारो से सिहरी हुई-सी
डोली है भीगी मकाई-सिली,
जुन्हाई खिली

# प्रकृत धर्म और दर्शन

किधर जाऊँ ?

पूछता है मनुष्य ।

प्रकृति से संघर्ष करता हू कि मैं छोटा ब्रह्म हू, तो क्या इसमे अभौतिकता देखूँ ? या एक-एक करके इसके रूपो को जानता चला जाऊ ?

और फिर पूछता है उसका विवेक

मनुष्य ! तेरा रहस्य खोलना ही क्या प्रकृति की सार्थकता है ? जब तू इस पृथ्वी पर नही था, तब इसकी क्या सार्थकता थी ? और तू नही रहेगा तब क्या होगी ?

यहूदी, ईसाई और इस्लामी तथा ऐसे मतों ने सृष्टि का क्रम मानकर भी उसके अंत तक की ही कल्पना की है, इसीलिए वे कब्र बनाकर अंत की प्रतीक्षा करने की भावना मानते हैं। परंतु हिंदू मानता है निरंतर्य, एक चक्र। बहुत दिन की प्रतीक्षा वह नही मानता, हाथ के हाथ सबका कार्य-कारण देखता रहा है वह। मनुष्य को उसने सृष्टि के अंतर्गत अन्यमतो की अपेक्षा अधिक माना है। इसलिए यह विचार भारतीय चिंतन मे पहले नही मिलता। वहा तो विराट सृष्टि और विराट ध्वस मिलते हैं। प्रलय अंतिम नाश है, परंतु उसके बाद भी एक सृष्टि है। नये कवि मे यह परंपरा से उतर आई भावना तो अब भी है, परन्तु उसका 'आज' इतना बड़ा है और वह उसे इतना ही महत्व देने को विवश है कि 'नई' आस्था अभी तक वह पूर्णरूपेण खोजकर निकाल नही सका है।

समाज, स्त्री-पुरुष-संबध, अब हम प्रकृति के व्यापक क्षेत्र मे मिलते हैं, क्योकि यौन संबध मूलत प्रकृति के अन्तर्गत ही आना चाहिए। यहा हम इसकी विवेचन करते हैं। नया कवि कहता है

है आज प्रलय का आवाहन
बज-बज उठती है रणभेरी
तुम मुख मलीनकर बार-बार
अब व्यर्थ लगाओ मत देरी
बो विदा, न यों अकुलाओ प्रिय,
भर-भरकर आँखों मे पानी

थे, लेकिन सत्य हो नहीं पाते। तब वे अपने को सबसे कुछ अलग बना लेने की चेष्टा करते हुए भी दिखाई देते हैं कि मुझे साधारण मत समझो। कहते हैं

चाँदनी मेरा करेगी क्या!

×

मैं निपट सीमेंट का हूँ पन्थ,
मेरे लिए भी है यही राही परम हित
सम्पूर्ण जीवन का
उसीको माध्यम बना मैं जान सकता हूँ
कि छाया दे रहे हैं पेड़
सुवास दे रहे हैं फूल,
थपकी दे रही है चाँदनी

×

मेरे हृदय हो तब तो!
चाँदनी मेरा करेगी क्या!

—भारतभूषण अग्रवाल

सीमेंट के पथ की यह हृदय के अभाव में लिखी गई कविता कितनी मज़ेदार है। छाया, सुवास, थपकी, सब ऐसे जाने जा रहे हैं, जैसे अनुभव किसीका नहीं किया जा रहा है।

अब तो बिचारा चाँद कुछ जली-कटी सुनने लगा। यह तो मान लिया गया कि उसमें कुछ आकर्षक अवश्य है। एक कवि ने उस ज्योति के फूल को देखा। कुम्हलाया पड़ा था। जगत् ने उसकी सुरभि ले ली और काम निकल गया तो उसे भूल गया। ऐसा सर्वत्र होता है। लेकिन बिचारा चाँद निर्वाण पा गया तो कोई बात नहीं, उसकी साधना तो सफल हो ही गई।

आज कुम्हलाया पड़ा है ज्योति का यह फूल
ले सुरभि आया जगत इसको गया है भूल।
सफल इसकी साधना यह पा गया निर्वाण
बुझ गया पर खींच लाया जगत में सुविहान
हो गया निश्चिन्त रवि को सौंप बुझती ज्योति के कणमात्र।

—वेननारायण नाक

क्योंकि वह जगत् में बुझने पर सवेरा ले आया। और अपनी बुझती ज्योति के कणमात्र उसने रवि को सौंप दिए, वह निश्चिन्त हो गया। मर गया।

इतनी-सी रही आखिर चन्द्रमा की महत्ता!

हँसिया लिए निज हाथ मे
किस ओर जाएगा पथिक,
यह तो अभी अज्ञात था !
बासी लिए रोटी बड़ा
भाई वहीं अब था खड़ा
छोटा उठा मुँह टोकरी से
दूध कहकर रो पड़ा
मैं काँप उठा था और टपका
एक पीला पात था !

—शिवमंगल सिंह 'सुमन'

कालिदास का मेघ भी सुंदरियो से खेलता था। उन्हें डराता था, उनके कटाक्षो से जीवन सफल करता था। वह भी पसीने से भीगी मालिनो और किसानो की वधुओं को आराम देता था। सुमन का प्रभात भी किसान-कन्याओं को छूनेवाले वात के कारण सुन्दर हो गया है। किन्तु उसका ध्यान किसी प्रिया के पास सदेसा पहुंचाने मे नही है। उसे मनुष्य की भूख सता रही है और इसलिए प्रभात को वह नहीं देख पाता। यद्यपि वह बहुत सुन्दर था। उसकी दृष्टि फिर भी प्रतीक रूप पीले पात की ओर जाती है, जो जराजीर्ण था। वह मृत होकर गिरा या करुणा का अश्रु बनकर, दोनो ही अवस्थाओं मे वह अपना समान प्रभाव छोड़ गया।

स्त्री और वह भी जो कृत्रिमता से दूर कवि का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है, क्योंकि वहा उसे सहज जीवन की झांकी मिलती है

खड़ी खेत मे मुसकाती है किसी भील की रानी !
इसकी बाँहें नहीं कमल की नाल सरीखी कोमल,
इसकी बाहें पुष्ट नीम की शाखाओं-सी श्यामल !
कनक कटोरे नागरिकाओं को ही रहें मुबारक
विध्या के शिखरों-सा उन्नत है इसका वक्षस्थल !
इसकी आँखें भीत मृगी-सी नहीं विकल या चचल
इसकी आँखों मे सध्या के घोर, साँवले बादल !
इसकी चितवन में हैं तीखे तीर न तेज कटार
एक ज्योति है, छू लेती है जो प्राणों के तार !
हसगामिनी या गजगामिनि इसे नहीं कह सकते,
इसकी गति जगल के झरने-सी अल्हड़ मस्तानी

—रामकुमार चतुर्वेदी

# संवेदना और स्वानुभूति

मनुष्य प्रकृति का अंग है, और अंग होकर भी उसे जीत लेना चाहता है। किंतु दूसरी ओर उसका समाज स्वयं बहुत दुःखी है। यह एक द्वन्द्व है। वह प्रकृति का आनन्द लेता है, तो मनुष्य का दुःख वह कहां मिटा पाता है? यदि वह समाज की विषमता में ही जकड़ा हुआ रहता है तो प्रकृति के बारे में वह लिखता ही क्यों है? आखिर उसका प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण क्या हो? यदि प्रकृति एक रहस्य है, तो कवि उसे रहस्य के रूप में ही देख सकेगा। यदि प्रकृति एक निरंतर चलता रहनेवाला क्रिया-व्यापार है, तो उसका चित्रण मनुष्य के हृदय में क्या संबंध रखेगा? आनन्द वह यदि उससे प्राप्त करता है तो उस आनन्द में लोक को क्या लाभ? यदि दलितवर्गों को भी प्रकृति के चित्रण में आनन्द मिलता है तो क्या वह मनुष्य को उसकी विषमताओं के यथार्थ से अलग कर देना नहीं है? ऐसा काम क्या अंततोगत्वा यही प्रमाणित नहीं करता कि कवि वास्तव में उच्चवर्ग के हाथ में खेल रहा है? यदि समाज के ही चित्रण में कवि डूब जाता है, प्रकृति के खेलों का सौंदर्य इसलिए नहीं देखता कि उसके पास तत्काल अन्य और अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है, तो क्या वह मायकोवस्की की भांति ही केवल नागरिकता में ही फंसा नहीं रह जायेगा? ऐसे लोग जो तत्काल को ही सार्वकालिक मानते हैं, यह भी मानते हैं कि मनुष्य का मनुष्य से पहला संबंध है। प्रकृति को रहस्य के रूप में क्यों रखा जाए, जब विज्ञान निरंतर उसके रहस्यों को खोलता जा रहा है। ऐसे समय में प्रकृति की उपासना करना मनुष्य की प्रगति की अवहेलना करने के समान है। किंतु अन्य कवियों को यह जीवन की एक यांत्रिक-सी व्याख्या मालूम देती है। वे मनुष्य की चेतना को अधिक व्यापक बनाना चाहते हैं और मनुष्य-समाज के भीतर ही उसे बंद नहीं कर देना चाहते। वे प्रकृति के विराट कार्य-व्यापार को देखना भी चाहते हैं। इन्हीं अनेक समस्याओं ने नये कवियों को प्रकृति के संबंध में एक वेदना दी है, जो व्यक्ति-जीवन के विभिन्न कार्य-व्यापारों के माध्यम से प्रस्फुटित हुई है। इस नई चेतना का एक रूप यों है

लचक-लचक कर चलने वाली हवा अनोखी
लहर बन गई नई चेतना के सागर की।

जमुना के उस पार लहलहाते हरे खेत
उठता है एक स्वर

×

पानी देती-देती, निराती-निराती
थक गई होगी वह कृषक बाला : ग्राम युवती
जिसके स्वररेशम मे इठलाता-मुस्काता होगा
यौवन-धन, जाड़ो की नरम-गरम धूप
क्षण-भर विलमा होगा उसका मन
कल्पना-निभृत निकुंज मे
छूट चले हैं ये स्वर के मधु-दूत लालसा की ऊष्मा ले
प्यार की मदिर सुरभि ले,
प्रतीक्षा की अकुलाहट का सन्देशा मुझे दे रहे
जाओ ठण्डे पवन झकोरें दूर मुझे परवाह नहीं है आज तुम्हारी
मत सहलाओ मेरा माथा तप्त
नहीं चाहिए मुझे सहजने, तेरे ये सब फूल—
दिखावट : सुरभिरहित,
मैं खिचता जाता हूँ जमुना के पार, उस पार
लहलहाते खेतो के बीच जहाँ से स्वर उठते हैं

—रामानन्दन दवे

किंतु पहला चित्र टूटते ही कवि कुछ व्याकुल-सा हो जाता है। कृषक बाला . ग्राम युवती की थकान, उसका यौवन, धूप, जाड़े की नरम-गरम धूप, क्षण-भर विलमता उसका मन और फिर वह देखता है कि उसका माथा तप्त हो उठा है। सहजने के फूलो मे सुरभि क्यो नही है, यह सवाल सामने आ खड़ा होता है। ये सफेद फूलो के भौंर अब उसे अच्छे नही लगते।

लोक-जीवन भी कवि के मानस की अवस्था के अनुकूल ही अपना स्थान काव्य मे प्राप्त कर पाता है। तो ये नये चित्र वस्तुत पथ का अन्वेषण ही हैं। अपने-आप मे जो चित्र पूर्ण हैं, वे अपने आकर्षण के कारण ही। अधिक सुषमा है उन कविताओ मे, स्वानुभूति ने वाह्य चित्रण को हटा दिया है। 'ग्रामवधू की विदा' मे कवि एक सपूर्ण चित्र खीचता है। यह सारे चित्र मध्यवर्गीय जीवन के चिपचिपे ढोग से बाहर जाने के प्रयत्नो को प्रस्तुत करते हैं। विदा की घड़ी अब आ गई है और वधू जा रही है :

विदा की घड़ी है कि ढप ढप ढपाढप
बहे जा रहे ढोल के स्वर पवन मे

भारतीय परंपरा में वैसे तो पत्नी-मिलन की परंपरा है, परंतु प्रेम-मिलन भी कम नहीं है। इसीलिए स्वकीया का महत्त्व ही कार्य रूप में प्रयोग करनेवालों ने राधा-कृष्ण के परकीया प्रेम का रस खूब लिया है और एतराज करनेवालों को आत्मा-परमात्मा का नाम लेकर चुप कर दिया है। हमारा नया कवि किसी दूसरे की पत्नी को नहीं चाहता, कुमारी-प्रेम में रत है। समाज उसे घुसने नहीं देता। मजाज के शब्दों में

> हदें वह बाँध रखी हैं हरम के पासबानों ने
> कि बिन मुजरिम हुए पैगाम भी पहुँचा नहीं सकता।

जहाँ तक हिंदू समाज का साधारण मानसिक स्तर है वह तुलसीदास के काव्य के लिए उपयुक्त है, जिसमें समाज के अनेक पक्षों का धार्मिक विवेचन है। इश्के-मिजाजी पहले भी थे, लेकिन उन्हें केवल मनोरंजन के लिए लिया जाता था। अब अंग्रेजी पढ़े युवकों ने व्यक्तिपक्ष को पकड़ा। साधारण जीवन में अब तुलसीदास का सस्ता संस्करण मैथिलीशरण गुप्त हैं। तो नया कवि अपने पाठकों में मध्यवर्ग से नीचे नहीं उतर पाता। निम्न मध्यवर्ग में भी नहीं, क्योंकि दैनिक जीवन ऐसा घिरा हुआ है, अभी तक अपने धार्मिक कार्य-कलाप के अधकचरे विश्वासों में कि उसका नये कवि और उसकी आधुनिक मान्यताओं से पूरा मेल नहीं बधता।

ह्रास-जीवन में कवि ने स्वतंत्रता को प्रमुखता दी।

> धूल उड़ती है नगर में
> साँझ मटमैली उतरती,
> और दिन की हड्डियों की
> राख है नभ में बिखरती।
> काँपती है सभ्यता,
> दीवार पर दीवार गिरती
> और टूटी मज़ारों पर
> आँसुओं की धार गिरती।
> बज रहे घड़ियाल मंदिर
> गूँजते हैं आरती से,
> आज मेरा गीत प्रेरित
> है स्वयं माँ भारती से।

—जगदीश

दिन की हड्डियों की राख नभ में उड़-उड़कर बिखर गई। सभ्यता काँपने लगी और पुरानी दीवारें ढहने लगीं। लेकिन दीवार पर दीवार का गिरना जिस गति को बताता है, वह काव्य-सत्य है, लोक-सत्य नहीं। आज भी स्वतंत्रता, आधुनिकता पढ़े-

तुम्हारी नाव क्या तट से बंधी रह जाएगी
लहर को काटकर अपना निराला पथ बनाने को
नये संघर्ष मे सजीदगी से डूब जाने को
बड़े विश्वास से पतवार को हमने चलाया है
तुम्हारी नाव क्या मझधार से घबराएगी।
नई आशा नई हिम्मत नये संसार वाले हम
नहीं जिसको सुना तुमने वही हुंकार वाले हम
हमारी दृष्टि मे निर्भीक साहस ही समाया है
तुम्हारी आँख क्या नीचे झुकी रह जाएगी ?

—वीरेन्द्र मिश्र

यह नये ससार का रहनेवाला है। उसमे नवीन साहस है। जैसे बालक को सब कुछ नया-नया-सा लगता है, नये कवि को भी वैसी ही अनुभूति होती है। यह जाति के जागरण का चिह्न है। पुरानी जाति से यह दृष्टि प्राय ओझल-सी हो जाती है। तो यह है नया साहस। प्रकृति आह्वान की भी उतनी ही सहारा है, जितनी वह पलायन को।

कवि-हृदय इतने मे ही सीमित नही है। वह अपने चारों ओर की सृष्टि को भी नवीन स्फुरण से भरा हुआ देखना चाहता है

नई गति दो पवन को और
सागर को नया-सा ज्वार दो
नही सपना धरा को दो
जमाने का नया जो द्वार हो!
समय की बाँसुरी सोई
नये स्वर की नयी झनकार दो!
नई पीढ़ी! न सोओ लोरियों मे
यह सवेरा है नया
हँसा वह भोर का सूरज
अँधेरे का समन्दर पी गया।
अँधेरे मे डुबा देते हमारी
नींद के झोंके हमे
हमारी में न पी लेगा
भला निर्माण को विध्वंस क्या?
सुनहरी जगमगाती पूर्व को
रेखा किरण के जाल मे

जा रहे हैं, यह पता नहीं चलने पाता। सितारे भी दगा करने पर उतारू हैं। चाद सोने नहीं देता, क्योंकि जवानी तो हर हालत मे जवानी है। और देह और मन का हाल यह है कि असमय मे ही पतझर छा गया है। जिसकी जड़ो मे पानी न पहुंचे, उसका और होगा भी क्या ! जो कुछ है एक गरीब की हसी उड़ाई जा रही है। किसीमे भी सहानुभूति नही।

तब एक विश्वास और बोलता है

चांदी के सांपों-सी बल खाई नदियों की
कल-कल, छल-छल के उस पार—
कि, देखो !
पर्वत की उस स्याह ऊंचाई पर से कोई झांक रहा है,
उठ सकती किस हद तक ऊंची
इस धरती की कुचली मिट्टी,
लाल रंग से आसमान पर आंक रहा है।

—नवरत्न स्वर्णकार

आशा बहुत बड़ी है। दूर पर जहा परिश्रम का फल दिखाई दे रहा है, जहा अपने अरमान पहुच रहे हैं, जिसे हम एक ऐसी ऊचाई समझते हैं, जहा तक पहुचना श्लाघ्य है, वहा तक कवि का विश्वास उठता है। इस धरती की कुचली मिट्टी कितनी ऊचाई तक उठ सकती है। देख रहा है प्रकाश का प्रतीक कि मनुष्य की गति कहा तक हो सकती है। वह मनुष्य जो कि कुचला पड़ा है, उसका उत्थान कहा तक संभव है ! प्राय ही माटी आज मानव और जीवन का प्रतीक है। कल तक हम माटी को भौतिक-भौतिक कहकर इसे तिरस्कृत किया जाता था, क्योंकि मनुष्य को आत्मा के रूप मे देखा जाता था। आज कवि के दृष्टिकोण मे यह बहुत बड़ा परिवर्तन आया है कि माटी को वह अत्यधिक महत्त्व दे रहा है। आत्मा क्या है ? माटी की ही चेतना है। उसे माटी से अलग करके कोई देखना नही चाहता। यदि शकराचार्य होते तो न जाने कितना शोक करते। तुलसीदास होते तो इस बात पर सिर धुनते कि जो सरस्वती राम का जप करने को मिली वह माटीस्तोत्र गाते हुए नही थक रही है। आज के कवि को यह बहुत करके लग रहा है कि उसके अस्तित्व में महत्त्व हो या नहीं हो, परन्तु उसका अपमान अवश्य हो रहा है। सारांश मे मैं कहू कि आज उसका अहकार पुराने कवियों की अपेक्षा कही अधिक है क्योंकि वह सब-कुछ अपने लिए चाहता है, जबकि पुराना कवि मानता था कि यह सब अपना नही है, हम तो एक सराय मे आकर बसे हुए मुसाफिर हैं। दूसरा कवि कहता है

लहर सागर का नहीं शृंगार
उसकी विकलता है,

रन-सी छा जाती है। गति इतनी है कि ध्वनि निकलने लगती है जैसे कालिदास के मेघ-दूत मे शब्द, कही-कही क्या, प्राय ही ध्वनि गुजाने लगते हैं। नीरज की विशेषता है उसकी भाषा की सरलता। समय के सावन की कल्पना भी नयी है। यहा कवि मेघ और भ्राति को मिला देता है, किंतु यहा वह विरोध भी उत्पन्न करता है। बाधनेवाला भी गिरकर माटी हो जाता है, और बादल भी। प्रतिक्रिया और भ्रान्ति का एक-सा अन्त ठीक नही जचता। किंतु कविता मे यह भावना उतनी ग्राह्य नहीं है, जितना है उसका सजीव चित्रण, कवि के अपने सत्य मे और काव्य के सत्य मे भेद है। काव्य का सत्य इसीलिए सुन्दर बन पडा है कि उसमे जीवन का चित्र सुदर रूप से उतर आया है। प्रकृति के दुर्दम रूप को भी जीत लेना आज मानव की आकाक्षा हो गई है

प्रलय मे, तिमिर मे, न तूफान मे भी
कदम ये रुके हैं न रुक पायेंगे ही।
न मै चाहता मुक्ति को प्राप्त करना,
न मै चाहता व्यक्ति का रूप धरना,
सभी विश्व मेरा, सभी प्राण मेरे
चलूंगा सभी विश्व को साथ घेरे,
सभी स्वप्न हैं देखते एक अविरल
सभी जागरण मे निहित एक ही दिल
भटकते हुए भी उधर ही चलेंगे
भटकते हुए भी उधर ही चलेंगे
जहाँ फूल-सा विश्व खिलता रहेगा
लहर पर जहाँ शशि मचलता रहेगा
जहाँ एक ही जाति होगी धरा पर
जहाँ एक नर पाँति होगी धरा पर
जहाँ सब मे प्राण अनुरक्ति होगी
वहाँ प्रेम होगा—वहाँ शक्ति होगी,
वहाँ स्वर्ग होगा मनुज के हृदय मे
किसी दिन कभी तो पहुँच जाएँगे ही।

—उदयशंकर भट्ट

प्रलय, तिमिर, तूफान, इनमे न मनुष्य के पग बधे हैं, न रुकेंगे ही। प्राचीन और मध्यकालीन कवियो ने भी इस सत्य को और प्रकार के शब्दो मे अभिव्यक्ति दी है। किंतु इतना व्यापक रूप हमे कम मिलता है। सकल ससार की शाति की कामना तो बहुत प्राचीन कवियों ने भी की है। नया कवि सर्वत्र जागरण की प्यास देख रहा है। वह ऐसा

घिसे हुए पीतल-सी पांडुर
पूस मास की धूप सुहावन
स्तनपायी नीरोग गौर-छवि
शिशु के गालों-जैसी मनहर
पूस मास की धूप सुहावन
फटी दरी पर बैठा है चिर रोगी बेटा
राशन के चावल से कंकड़
बीन रही पत्नी बेचारी
गर्भ-भार से अलस-शिथिल
है अंग-अंग,
मुंह पर उसके मटमैली आभा,
छप्पर पर बैठी है बिल्ली
किसके घर से जाने क्या कुछ खा आई है
चला-चलाकर जीभ स्वाद लेती होंठों का
सब कुछ है, कोयला नहीं है
कैसे काम चलेगा बोलो ?
चावल नहीं सिझा सकती है
रोटी नहीं सेंक सकती है
भाजी नहीं पका सकती है
नरम-नरम ऊनी लिवास-सी
पूस मास की धूप सुहावन।

—नागार्जुन

घिसे पीतल के रंग की-सी धूप। बहुत सुन्दर चित्र है। एक स्वस्थ बालक के गालों जैसी पूस की धूप। और फिर वह आता है घर की ओर। वहां कोयला नहीं है। बिना कोयले के रेल का इंजन नहीं चलता। नागार्जुन की कविता कैसे चले ? अग्नि ही नहीं है। पूस की धूप का कवि क्या करे ? प्रकृति की पहली मांग है पेट की भूख मिटाना। दूसरी मांगें बाद में आती हैं।

जीवन के दैनिक संघर्ष इतने कठोर हो गए हैं कि कवि घुटा जा रहा है। भूखे कवि को पड़ोस में कुछ चाट आई बिल्ली इतनी सुखी लग रही है कि वह बड़े ध्यान से उसको निहारकर उसका पूरा वर्णन करता है। जब यह समस्या नहीं रहेगी, तब अवश्य इस कविता का महत्त्व कम हो जाएगा, किन्तु आज तो इसके तीखेपन में शक्ति है, यह बिलकुल अलग बात है। कवि की दृष्टि एक ओर नहीं, सब ही ओर होनी चाहिए। यहां

खामोश पथ पर सभ्यता, संस्कृति पुनीत—
आदर्श का बोझा उठाए जा रही दुनिया!

×

वही सुपना रहा है छल कि 'हम ऐश्वर्यशाली पूर्वजों के पुत्र
जिनकी कीर्ति थी अनुपम, हजारों दास-दासी
मेघचुम्बी भवन उन्नत, हाथी, अश्व, सुन्दर रथ,
रुपहले छत्र, सुनहरी झालरों से युक्त!'
यही सुपना रहा है छल कि 'हम औलाद हैं'
उन शहंशाहों की, नवाबों की
कि जिनके महल आलीशान, बरसता था विभव जिनमे
हरम में बेगमातों, लौंडियों से औ' गुलामों से
चुहल रहती सुबह से शाम, झमकते घुंघरुओं की छुम
अदा अन्दाज, नखरे नाज, नाजुक हाथ
साकी की कँटीली तीर-सी नजरें, सलकते लब
और वे मय के छलकते जाम।

—देवेन्द्रनारायण वर्मा

तो यह बहुत स्पष्ट है कि अब प्रकृति चित्रण में मनुष्य और उसका समाज प्रमुख स्थान ले चुका है। प्रकृति के वर्णन से कब कवि हमें कहा लाकर ठहरा देगा, हम इसके बीच मे कोई रेखा नहीं खीच सकते। वह क्या अनुभव करता है, वही उसकी विशेषता है। तो यहा हम यह कह सकते हैं, प्रकृति को गौण स्थान मिला है, पथ की खोज के कारण, क्योकि अब प्रकृति अपने-आप मे कुछ नहीं। वह तो मनुष्य के सुख-दुख की छाया से ग्रस्त है। अत यह भी कहा जा सकता है, आज प्रकृति को उद्दीपन के रूप मे प्राय देखा जाता है, यह बात और है कि उद्दीपन के आधार बदल चुके हैं। वे व्यक्तिपरक से बढ़कर समाजपरक होने की ओर उन्मुख हैं।

'ऋतुसंहार' मे नयी दृष्टि का भेद स्पष्ट होता है। कालिदास के 'ऋतुसंहार' से आज का कवि कितनी दूर हो चुका है। भावना के क्षेत्र मे उसमें भी वही 'रति' है, परन्तु बात करने का ढग ही बदल गया है

मेरे हाथ के अबीर से यह अभी तक लाल है
और, बेलों की कोंढ़ियों की मेरी माला से अभी तक सुवासित
तकियों के बीच में पड़ा यह लम्बा बाल
प्रिये, तेरे वियोग में मुझे डँस रहा है।

कालिदास की सघन केश-राशियां आकर एक बाल मे सिमट गई हैं। और यह

अथवा दोनो के साथ-साथ चलने के कारण दो प्रतिष्ठापनाएं संग-संग चलती है, जिसका फल होता है विचार और भाव का साथ-साथ दिखाई पड़ना। कभी-कभी हम व्यापक में भी संकोच को देखते हैं :

प्रतीक्षा की बहुत जोहा बाट
जेठ बीता, हुई वर्षा नहीं,
नभ यों हो रहा खल्वाट।

×

आज होगी, सजनि, वर्षा, हो रहा विश्वास
हो रही है अवनि पुलकित ले रही निःश्वास
किन्तु अपने देश में तो
सुमुखि, वर्षा हुई होगी एक क्या कै बार
गा रहे होंगे मुदित हो लोग खूब मलार
भर गई होगी अरे वह बाग्मती की धार
उगे होंगे पोखरों में कुमुद, पद्म, मखान।

—नागार्जुन

आकाश का खल्वाट रूप अच्छी अभिव्यक्ति है। खल्वाट में दो भाव है। एक तो यह कि यहा से एक समृद्धि उजड चुकी है, और दूसरी यह है कि अब यहा कुछ जमेगा भी नही। खल्वाट में कुरूपता तो है, परतु नीरसता भी है। कवि अब अपने देश को याद करता है। यहा वह संकुचित हो जाता है, क्योंकि देश और जन्मभूमि को मिलाना ठीक नही है, और फिर एक भूखण्ड की प्रशंसा निश्चय ही यह भी भाव जगाती है कि दूसरा भूखण्ड बुरा है। और कवि आकर यहा फंस गया है। इस कविता का रस वही ले सकता है, जिसके यहा वर्षा जल्दी हो जाती हो। सौभाग्य से अभी कवियो में यह होड नही चली है यद्यपि इसका सूत्रपात कुछ गर्वोक्ति कर चुके हैं। इस आत्मप्रशंसा से हमारे व्यापक दृष्टिकोण को धक्का पहुचता है, अतः यह श्लाघ्य नहीं है। वस्तुतः जो यहा सुंदर है, वह है कवि का वर्षा का वर्णन और वर्षा की अनुभूति से जन्म लेनेवाला उसका आनंद।

'एक क्या कै बार' में ताल-पोखर लबालब दीखते हैं और वर्षा ऋतु का सारा शृंगार सामने आ जाता है।

पुराना कवि सुंदर को ही अपनाता था। यद्यपि अब भी अधिक विविधता हमारे यहा नही आई है, फिर भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं।

'बबूल' एक ऐसी ही कविता है। बबूल पर वसंत आया और वह हरा हो उठता है :

धनि-धनि प्रभु तोरे बदरा-बदरिया
धनि-धनि हल-बैल धनि-धनि खेतवा।
धनि खेतिहारिनि औ' धनि है किसनवाँ
जाके बल लह-लह ऊसर क रेतवा॥
अबकी सो औरीतना चलत बयरिया
मचलि-मचलि जात खेतवा के धनवाँ॥

×

अब न पसीना बही बिरथा बेगार जइहाँ,
अब न लगनवाँ मा बिकि हैं गहनवाँ।
सब आसा पूरी करी हरा-भरा खेतवा
अबना बिदेसे जाइ मोरा यू किसनवाँ॥

—चन्द्रभूषण त्रिवेदी

मध्यकालीन कविता में ऐसे सुन्दर चित्रण हमें सेनापति में अवश्य मिलते हैं। शब्द-लालित्य के अतिरिक्त जो भाषा का चमत्कार सेनापति ने साथ में रस्सी-सा बट दिया है, उसके कारण वह हाथ में अरसती है। यहां सहज वर्णन है। सत्यनारायण के धोए-धोए पात और नज़ीर के खेतों के-से ये खेत सुहावने हैं। हिंदी की बोलियों में कितनी सामर्थ्य अभी दबी पड़ी है यह स्पष्ट प्रकट होता है। किंतु अंत में कविता में कृषक-स्तवन-सा आ जाता है। और प्रकृति मानो मनुष्य की जय बोलने लगती है। कवि यह नहीं भूल पाता कि यह सब मनुष्य का रचाया हुआ सौंदर्य है जिसके बल ऊपर भी लह-लहा रहा है। जैसे—'पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।' भगवान की दया है, वैसे ही यह मनुष्य की मेहनत का नतीजा है। कविता के अंतिम भाग में किसान का पेट के लिए विदेश जाना करुणा जगाता है और लगता है कि कवि की वेदना बहुत सार्थक है। जायसी के 'दीठि दँवगरा' और कालिदास के 'खेनो' से इसकी तुलना करिए

यह असाढ़ का पहला दिन गिर चुका दौंगरा गहरा
धुले हुए सब पेड़, प्रकृति का आंचल फिर से लहरा।
उमड़ी सोंधी गंध मटैली तपन मिटी धरती की,
आज खिल गई मुरझाई कलियाँ किसान के जी की।

किसान के जी की कलियां खिली। पेड़-पत्ते साफ हो गए। धरती से सौंधी गंध उठने लगी और तपन मिट गई। और चिंता के रूप में घर और प्रकृति दोनों साथ-साथ मिलते हैं

बांह-चांह में पलते जाते मेंहगू के भी सपने
जबकि कटेंगे धान सुनहले दिन भी होंगे अपने

सम-सम बहु-रंग मधुर फल-दल-आस्वादन
वन-विहार पांखें पसार लघु भार पवन-तन
अव्याहत, निश्चिंत, शान्त अपनी दिनचर्या
क्या आगामिनी यामिनी की प्रिय चर्चा
या कि वधिक के फंदे से बचने का कौशल
अथवा सोच-विचार रहीं—आने वाला कल
कौन कहे, मुंह खोल रही, क्या बोल रही हैं
मानव-मन-सा होगा उनका भी चञ्चल चित ?

—जानकीवल्लभ शास्त्री

सहज जीवन का कितना कोमल वर्णन है। ये दो पक्षी भारतीय दर्शन में पहली बार उपनिषदों में आते हैं। एक मत से वे आत्मा के ही दो रूप हैं, दूसरे मत से वे आत्मा और परमात्मा हैं। किंतु जानकीवल्लभ के पक्षी कीट्स की एक जाड़े की ऋतु में पत्ते गिरे वृक्षों की याद दिलाते हैं। कीट्स ने कहा है—क्या इन वृक्षों को भी याद आती हैं अपनी पीड़ाएं ? वही भाव बोलता है कि क्या इनका मन भी मनुष्य जैसा चंचल होगा ? कवि अपने जीवन की चिंताएं देखकर पक्षियों के जीवन से तुलना करता है। उसे वे निश्चिन्त लगते हैं। बहुत ही सूक्ष्म रूप में कवि जीवन के उद्देश्य के बारे में पूछ रहा है कि भविष्य क्या है ? क्या स्वाभाविक रूप में जीवित रहना ही काफी है, या मनुष्य के रूप में जो यह प्राणी अपने को इतना अधिक महत्त्व देता है, वही प्रमुख है ? क्या प्राणी-मात्र अपने को सुरक्षित रखने की चेष्टा में लगा हुआ नहीं है ? व्यापक है यह दृष्टि जो आगामी कल में भी यही समस्या रखेगी क्योंकि इन प्रश्नों को मनुष्य बहुत दिन से सोचता चला आ रहा है।

आनन्द और चिंता जीवन के दो रूप हैं। एक है अपने अस्तित्व का पूर्ण आनन्द अनुभव करना, दूसरा है उसे बनाए रखने का प्रयत्न। वस्तुतः यह प्रयत्न भी आनन्द की ही प्राप्ति का एक साधन है, एक प्रतिरूप है। प्रयत्न बिना जीवन नहीं है। सब बहे जा रहे हैं, किंतु अपनी इकाइयों में भी वे उतने ही तल्लीन हैं, जितने अपनी सामूहिकता में। एक कवि पूछता है

बोल-चोल नभ मौन,
गुनहगार है कौन ?
जीनेवाला या जीने की चाह !
दीवाने मन ठीक नहीं है
कभी किसीको छलना
मृत्यु बहुत भली है मेरे

हो गया है, इसी प्रकार कवि प्रकृति से प्रेरणा लेना चाहता है। सभ्य युग के उन्नयन मे घृणा का आक्रोश देखकर वह यह कहता है कि वलिदान मुक्ति दे सकता है। स्याहियो मे जिंदगी की आग के पख की-सी रेख बहुत सुदर कल्पना है, जो काली घटा मे चमकती हुई दामिनी के लिए की गई है। युग स्वय अपनी तस्वीर गढ रहा है। यह युग एक नया 'पात्र' है, जिसका नये स्वरो से गायन किया गया है। इसका रूप क्या है? एक भावना-मात्र। नयी कविता का यह नया 'नायक' है। जिस प्रकार पुराने और मध्ययुगो मे नायक के साथ प्रकृति वर्णन होता था, उसी प्रकार इस नये 'नायक' के साथ भी होता है। वह कितने ही प्रकारान्तरो से होता है।

वह ग्राम, लोकचित्रण से लेकर, उद्‌बोधन और नवचेतना के गर्जनो के अतिरिक्त हमे व्यक्तिपक्ष मे भी मिलता है। कही-कही हम प्रकृति मे नीति परकता सदृश दर्शन की झलक भी पाते हैं

यदि फूलो की सुषमा चाहो
सीखो पत्थर बनकर रहना
यदि मानस की सीमा चाहो
सीखो बधन बनकर रहना
मैंने दो चिह्न बनाए हैं
जिसमें चाहे उंगली धर दो।

—शिवबहादुरसिंह

फूलो की सुषमा के लिए पत्थर बनना और सीमा प्राप्त करने को बधन बनना, दोनो ही विरोधी तत्व हैं। दर्शन के क्षेत्र मे दोनो उचित हैं। जो मुक्त है, वह असीम है अत अनत दाह है। जो केवल कोमल है, सुदर है, वह जीवन की स्थिरता और सघर्ष से दूर है। अत यद्यपि फूल और पत्थर का कोई सबध नही है, फिर भी बात बैठ जाती है। यह प्रकृति का नये ढग का चित्रण है। अलकारशास्त्रियो को भी नयी कविता मे सतोष अवश्य हो सकता है

वर्ण-वर्ण मेरी कविता के नाविक बन-बनकर आते हैं
औ' कल्पना-तरणि में पग रख पयो पार उतर जाते हैं।
इस गतिमय धारा के बदले अब मृत तट का नाम न लूंगा।

सतसैया के दोहरे—नाविक के तीर थे। अब वर्ण ही नाविक हैं और कल्पना की नाव मे वे पाव रखकर पार उतर जाते हैं। कवि को यह धारा पसद है, क्योकि उसमे उसकी नाव तो चलती है। मुर्दा किनारे को तो वह नाम भी नही लेना चाहता।

उपनिषद् मे यह झगडा आता है कि श्वास, नाक, कान और प्राण में कौन सबसे बडा है। ऐसी कल्पनाए जिनमें व्यक्ति और परमात्म के द्वन्द्व हैं, पुराने युगो मे देवता

इतिहास के उन स्वर्णहर्म्यों पर विपुल !
उच्च वह प्रासाद यौवन का गुलाबी लिए स्वप्नोन्माद,
जिनकी जड़ें सिंचतीं मनुज-शिशु की विपुल शोणित राशि से !
बजता पियानो, प्रेम का फिर स्वाग होता,
और मेरी लेखनी की सूखती मसि
डुबोकर अपने कलेजे के लहू में मैं मनोहर गीत लिखता !

—भरतकुमार पाचार्य

अब सत्ता का प्रश्न इतना नहीं रहता, जितना यह भाव जागता है कि जीनेवाले जो क्यों नहीं पाते ? गीत के आकाश में भाव-चंदा हंसता है। वस्तुतः यहां प्रकृति नहीं है, किंतु यह प्रकृति का ही रम्य रूप सामने लाता है। सागर, नक्षत्र, स्वर्गंगा, सब ही हमें मिल जाते हैं। इसे शैली के रूप में नया ही समझना चाहिए क्योंकि यहां उपमान ही प्रमुखता प्राप्त करता है, अन्यथा इसमें कोई विशेषता नहीं है। शहीदों की याद के दीप, शोणित और शोषण, प्रेम का स्वांग और लहू में डूबी कलम, यह सब बाद में तब ही अपना प्रभाव दिखा पाते हैं जब वह पहला चित्र हम आत्मसात् कर लेते हैं।

कविता में रंगीनी इतनी अधिक है कि वह आक्रोश नहीं जगाती, विस्मय जगाती है और इसलिए इसकी शैली के अनुरूप ही इसमें विषय का भी चमत्कार है।

समाजपक्ष का यह रूप प्रत्येक कवि में प्रायः मिल ही जाता है, क्योंकि यह तो युग का प्रभाव है। सीधे-सीधे जो कह देते हैं, उनमें ऐसा सौंदर्य नहीं आता, दूसरे प्रकार का मिलता है।

सौंदर्य ही मूलतः केन्द्र है। दर्शन, मनन और चिंतन, मूलतः उसीको लाकर प्रस्तुत करने की चेष्टा में लगे रहते हैं, कवि कहता है

किसी अधखिली आँख की ज्योति पीकर
अरी डाल तेरा खिला फूल होगा।
किसी बूँद की जिंदगी सोचता हूँ
नदी की लहर में कभी मौन सोई
कभी हँस पड़ी, चाँदनी से गले मिल,
कभी बादलों का हृदय छेद रोई,
मगर अंत में बूँद, शृंगार तेरा
नदी की नियति पर बँधा फूल होगा।

जीवन का यह संघर्ष बताता है, कि जीवन ही से जीवन को प्रश्रय प्राप्त ... है और यह गुणात्मक परिवर्तन अपनी मात्रात्मकता के भेद से नए-नए रूप धारण करते

कर दिया वह धन्य वनवासी समीर !
हरित द्युति जीवन-शिखा की एक मीठी आँच
अंतर में सँजो निज नवल अवयव प्रति दिवस
है दीर्घ करता जा रहा जो सत्य उसको
नमित—अन्तर वंदना।
किन्हीं भारी दो शिलाओं की अँधेरी सन्धि में
उगते हुए उस सत्य को जिसने प्रखर उर-रश्मि के आघात से,
जिसने हृदय-एकत्र जीवन की सकल अनुभूति की
व्याकुल-सजल बरसात से गभीर-महिमापूर्ण श्री-मय वृक्ष में
यों सहज परिणत कर दिया
उस रक्त-रश्मि विहानवाले ज्ञान-गुरु के सूर्य को
उस विकल जल-विस्तार-जल-विस्तार वाली
गहन मन बरसात को मेरे हृदय की किन्हीं गौरव
दो शिलाओं का कृतज्ञ प्रणाम है।

—गजानन माधव मुक्तिबोध

माटी के निभृत में डूबकर वनवासी समीर ने लाकर बीज धर दिया। हरा रंग जीवन की दीपशिखा की मीठी आग है। उस जीवन को कवि वंदन करता है। इसी प्रकार कवि के मन में भी दो शिलाएं हैं, किंतु भीतर ही बरसात है और वह जीवन-शिखा भी है। यह कवि का पूर्ण तन्मय रूप है। नये उपमान, नयी चित्रात्मकता, नयी शब्द-योजना, सब ही बहुत आकर्षक हैं। यों पीछे की पंक्तियों में गहनता अधिक है जिसने कविता को बोझिल बना दिया है, किंतु यह कविता भारी शिलाओं के स्वर से ही आरंभ होती है, इसलिए इसका भारी होते जाना अधिक सौष्ठव ही लिए है। बरसात है जीवन की सकल अनुभूति। मैं समझता हूं कि 'सकल अनुभूति' और 'सजल बरसात' के स्थान पर यदि कवि 'सजल अनुभूति' और 'सकल बरसात' लिखता तो कविता की प्रेषणीयता कहीं अधिक सक्षम हो जाती। जीवन के प्रति यह ममता भी अपने आधार सर्वत्र ढूंढ़ता हुई दिखाई देती है

चढ़ती जमुना की धारा में लो कूद गया तैराक वीर
कायर हीं शंका करते हैं उसने कब सोचा कहाँ तीर !
नागिन-सी प्रलयंकर लहरें उठती हैं डसने आसमान
सब स्वयम् निगलने को बढ़तीं करतीं भीषण रण घमासान !
दिङ्मण्डल थर-थर भयरातर लहरों पर फेनों के पहाड़

की भाति नही। वेदना का जो स्वरूप मनुष्य देखता है, आवश्यक नही है कि प्रकृति मे भी वैसा ही हो। 'रेणु' मे कवि ने अपनी आकुलता को इतिहासो मे सराबोर करके भी देखा है, किंतु इसका अत उसका नया मार्ग नही, पीडा ही है। धूल भी तो अपना महत्त्व रखती है

मनमानी किसी मथरा को मै दारुण एक कहानी हूँ
साकेत वासिनी रही कभी अब पचवटी की रानी हूँ
जब गौरव-गिरि के सिर-किरीट बन हीरा-सी मै जडी रही
अब किरणो के पथ अधरो की हमजोरा-सी मै खडी रही
जब रत्नपीठिका शिव की त्रिभुवन की साधना - शिला थी मैं
उस समय अरी भोली जगती! तू ले बेसुध-सी पड़ी रही!

×

रे वृद्ध विश्व! रे जरठ जीठ! कुछ तो बचपन की बात बता
मेरा कैसा था प्रात! और यह कैसी भीषण रात हुई!

×

यह अतिम प्रहर निशा का फिर मे उषादीप नूरानी हूँ
क्षण अग्नि - परीक्षा! फिर तो मै साकेत - पुरी की रानी हूँ।

—रेणु

धूलि! धूलि ही! मनुष्य के इतिहास की साक्षी है! वह प्राचीन है। मनुष्य की देवकल्पना से भी प्राचीन। किंतु वह भी अपने विषय मे कितना जानती है! उसका आदि कहा है? कवि ने बहुत ही सशक्त कविता लिखी है, जैसे बहुत कम मिलेंगी। इस एक कविता मे कितने उतार-चढाव आकर समा गए हैं कि देखते ही बनता है। धूलि के कितने आवर्तन हैं जो अपने साथ स्मृति के कितने-कितने आकार धारण नही किए हुए हैं! काल, सत्ता और मनुष्य की ममता, उसकी वासना, सबका ही यहा तादात्म्य हो गया है, क्योकि कवि ने यहा उसे अपना विषधारी बनाया है, जिसका कि सारा ब्रह्माण्ड एक प्रसारमात्र है। मनुष्य के जीवन-मरण ने उसे हसाया है, रुलाया है। उसीने अपने लोक के अतिरिक्त अनेक लोको की उसमे कल्पना करवाई है और अपने ही बनाए विश्वासो के रहस्य और रोमास मे मनुष्य ने विभिन्न रसो की अनुभूति पाई है। किंतु प्रकृति मे उसने एक साहचर्य पाया है। सब कुछ के बीच मे रहता हुआ भी जैसे वह उसके बिना कुछ भी नही है। वह प्रकृति को भी अपनी वेदना की सहचरी बना लेना चाहता है

नन्हे-नन्हे भोले-भोले ओ अनबोले तारो, बोलो
मेरे सूने सूनेपन मे अपना मधुमय कलरव घोलो

कर काम खेत में स्वस्थ हुई
होगी तलाब में उतर, नहा
दे प्यार बैल को, फेर हाथ,
कर प्यार, बनी माता धरती !
पक रही फसल, सद रहे चना
से बूँट, पडी है हरी मटर
तोमन[1] को साग और पोंहो
को हरा[2] भरी-पूरी धरती
हो रही साँझ, आ रहे ढोर,
हैं रंभा रहीं गायें-भैंसें
जगल से घर को लौट रही
गोधूली बेला म धरती !

—नरेन्द्र

एक भी पक्ति व्यर्थ नही है। पूरी धरती है, पूरा ग्राम-चित्र है, ग्राम-जीवन है। एक 'सकलत्व' हमे यहा कितनी गहराई से मिलता है।

आज का कवि हठ को भी आगे रखता है। प्रकृति के ही रूप मे उसे सौंदर्य नही मिलता। अपनी मनचाही हो जाए तब ही उसे आनद आए, तब ही उसे सुन्दरता भी दीख पड़े। यो मनुष्य तो दीन-हीन हो, परतु प्रकृति सुन्दर-सी हो, तो भी वह हृदय कहा से मिलेगा उस रूप से, जो रूप का प्रभाव डाले। तभी वह कहता है

जब सजी बसती थाने में
बहनें जौहर गाती होगी
कातिल की तोपें उधर
इधर नवयुवको की छाती होगी
तब समझूँगा आया बसत !
युग-युग से पीड़ित मानवता
सुख की साँसें भरती होगी
जब अपने होगे वन-उपवन
जब अपनी यह धरती होगी
तब समझूँगा आया बसत !
जब विश्व-प्रेम मतवालों के
खूँ से पथ पर लाली होगी

1. तरकारी। 2 हरा चारा।

तिनका ? तेरे हाथों में है
अमर एक रचना का साधन—
तिनका ? तेरे पंजे में है
विधना के प्राणों का स्पंदन !

तू मिट्टी था, किंतु आज
मिट्टी को तूने बाँध लिया है
तू था सृष्टि, किंतु स्रष्टा का
गुर तूने पहचान लिया है !
तिनका पथ की धूल, स्वयं तू
है अनंत की पावन धूली—
किंतु आज तूने नभ-पथ में
क्षण में बद्ध अमरता छू ली।

—अज्ञेय

किसीका भरोसा नहीं। अकेले चलना है। शक्ति अपने पास होनी चाहिए, बस किसी भी तरह इतना हो कि जीवन की गति न रुक जाए। ऊपर, और ऊपर उठना है। तिनका क्या है ? रचना का साधन है, वह विधना के प्राणों का स्पंदन है। यह व्यक्ति मिट्टी है, किंतु जब आकार प्राप्त हो जाता है तब वह मिट्टी का स्वामी बन जाता है। सृष्टि का अंग होकर भी, वह स्रष्टा बन जाता है, क्योंकि वह नया निर्माण करता है। अनंत की पवित्र धूलि है, और सारा खेल धूलि का है, किंतु जब व्यक्ति उठता है, तब अमरता को छू लेता है।

किंतु व्यक्ति के पीछे जो महाकाल लगा हुआ है, वह उसके साहस को चुनौती है। अमरता एक भूल ही-सी दीखती है उसे, क्योंकि उसकी विशालता भी अंततोगत्वा एक छोटी-सी सीमा है

महा स्वप्न में कल्पना जागती है
निशा चुप, दिशा चुप, गगन चुप खड़ा है।
निशा जा रही है, उषा आ रही है
विपल, पल, कला को घड़ी खा रही है,
तिमिर चल रहा है ढके सांस मेरी
गगन पी रहा है हृदय की अँधेरी

×

महाकाल के प्राण केवल सजग हैं
नियम में बँधे ज्योति के चित्र सग हैं

वहाँ उसकी पकड़ नहीं हो सकी है। और वह भी तब जबकि नये कवि ने अपने विषय को बहुत सहज बनाकर प्रस्तुत करने की भी चेष्टा की है।

जो कविताएं बोलियों में लिखी जाती हैं, उनकी प्रेषणीयता कुछ सीमा तक अधिक होती है, परंतु उपर्युक्त सीमा उसपर भी लागू होती है। कवि इस धरती का नया मालिक किसान को मानता है

बहु मन गलगल खेतवा के रनियाँ
अब भा है धरती क मालिक किसनवाँ!

×

कारे-कारे छाय रहे भोर के बदरवा,
संग-संग झूमि रही सँवरी बदरिया।
धानन के खेतवा निरावत किसनवाँ,
मीठे-मीठे गीत गावैं चन्दामुख तिरिया।
बदरिन मइहाँ जैसे गोट लागि सोने कै
तैसी खेलिहारिन कू ओढ़े है चदरिया।
हौले-हौले रमकि रही है पुरवइया,
झुकि-झुकि झूमि रही रस की बदरिया।
झम-झम झमकत खेतवा के धनवाँ
जैसे उठें जमुना माँ चंचल लहरिया।
पौरुष हरेर देखि मगन किसनवाँ
लहर-लहर करै धना कै चदरिया॥

—चन्द्रभूषण त्रिवेदी

काले बादलों के साथ साँवरी बदरिया घूम रही है, धानों के खेत में नराव हो रहा है। खेत के धान झमझम ऐसे झमक रहे हैं जैसे यमुना में चंचल लहरें उठती हैं।

किसान काव्य में आया था करुणा के जागने पर किंतु 'युग' उसका साथी बन गया। दया का स्थान 'अधिकार' ने ले लिया। और फिर मानवीय शक्तियों के विकास ने सिर उठाया। मनुष्य का वैभव, उसका गुरुत्व सामने आया। उसमें जो भी सृजन-कर्ता है उसकी महिमा गाई गई। उसीमें किसान को भी स्थान मिला।

हल मनुष्य का आयुध बना, और इस नाते उसने सत्ता पाई ब्रह्मा के सर्जनरत हाथ की।

बाधाएं पर्वत कहलाईं, प्रतिक्रिया को अंधकार कहा गया, और नवयुग का पर्याय बना उगता सूर्य। ढलता सूर्य गत युग का प्रतीक बना। इस प्रकार प्रकृति के बहुत से रूप अपने गुण-साम्य के कारण एक विशेष चित्र देने लगे, जैसे साम्य सत-युग में उन्होंने

जैसे कली का जीवन कोमल होने के कारण शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, परतु वह सहज नही मरता तो दु ख उठाता है और स्वत ही अपने बल पर जीवित रहता है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी है। यद्यपि कवि ने यहा प्रच्छन्न ढग से वर्ग-सघर्ष की मान्यता को बल दिया है कि उच्चवर्गीय कला सरक्षण मे पलने के कारण अशक्त है, और लोक की विद्रोह-भरी आकाक्षा को जीवित रखनेवाली कला सशक्त है, किंतु वह इसे इतना प्रकट नही करता, जितना इस सत्य को कि मनुष्य की धारणा को जीवित रहने के लिए सघर्ष करना ही आवश्यक है। क्या कवि कली का हलकापन दिखाकर उसकी अवहेलना करके सौंदर्य के एक मूर्त आधार को ही कम नही कर देगा, यदि हम मान लें कि वह अपनी सकुचित राजनीतिक भावना मे ठीक है? हमे यह नही देखना है कि कवि चाहता क्या है, हम तो यह देखते हैं कि कविता क्या कहती है!

व्यक्ति, समाज और सृष्टि के सघर्ष को हम यहा इस रूप मे पाते हैं कि अपनी-अपनी सत्ता मे सौंदर्य है। जीवन के अनेक रूप हैं। अब यह कि कौन-सा श्रेष्ठ है, यह कवि के अपने दृष्टिकोण पर निर्भर है। प्रकृति और मनुष्य का द्वन्द्व ही उसे इस जगह ले आया है, जहा अपने को जीवित रखने के लिए वह यदि असुन्दर मे सुन्दरता देखता है, तो उपयोगितावाद के आधार पर सौंदर्य की शाश्वत भावना के प्रति भी सदेहास्पद हो उठता है। और सब कुछ होने पर भी वह अभी अपनी मजिल तक पहुचा नही है .

फूल खिल-खिलकर सदा मुरझा रहे
आज विस्मृति मे पड़े मधुमास है
झूम मस्ती मे हवाएँ जो बहीं
आज वे ही बन गयी निश्वास हैं
आज यौवन की सभी अँगड़ाइयाँ
हो रहो अपनी व्यथा मे चूर हैं,
आ गई मजिल मगर वे दूर हैं।

—कुलदीप

मनुष्य की अपनी भावना ही सबको प्रतिबिंबित करती है। हास है तो सब हस रहा है; दु ख है, तो सब ही रो रहा है। प्रिय या प्रिया के रूप के आधार पर ही सही, परतु जो कुछ उसका प्राप्तव्य है, वह अभी उसे मिल नही पाया है। अपनी विवशता की कुरूपता यदि मनुष्य प्रकृति पर लाद देगा तो क्या पाएगा वह? क्या इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि मनुष्य ही कुरूप नहीं बनता, प्रकृति मे भी कुरूपता होती है, तो क्या यह भी एक अर्द्ध सत्य नहीं है? सौंदर्य अपने-आप मे नही, दो मसर्गों के क्षण के ही परिणाम मे जन्म लेता है। आज के मनुष्य को अपनी विकृत दृष्टि को छोड़ना ही पड़ेगा और यह याद रखना पड़ेगा कि उपनिषदों के कवियो ने जब साम गान सुनना प्रारभ

सोना-सोना चम्पा-चम्पा मे चमक उठा
फूलो मे फलो का बसन्त छा गया हुलस
मिट्टी की सोंधी-सोंधी महक लगी उड़ने
सरिता की धारा मे जीवन छा गया सरस।
जौ-गेहूँ की स्वर्णिम बाली
लहलहा उठी
उतरे विहग के दल के दल
गायन करते,
ग्रामो के पल्लव, दूब,
किरण की शुचि माती
हल की पूजा मे जुटे
एक पल मे अपने।
मानव की आत्मा का प्रकाश युग-युग से हल
जिसकी नोको मे सामवेद मुखरित ललाम;
जिसकी मुस्कानो मे पलती सभ्यता चरम,
उस हल को करता है पहाड़ झुक-झुक प्रणाम!

—देवनाथ पाडेय 'रसाल'

यह जो अन्न है, जिसकी उपनिषदो मे महिमा गाई गई है कि हे अन्न! तू ब्रह्म है! वह नये युग मे दूसरे शब्दो मे अपनी अभिव्यक्ति पा सका है। अब अन्न को ब्रह्म का रूप तो नही माना जाता, परन्तु उसके महत्त्व को पहले से कही अधिक ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया गया है। सारी सृष्टि के अदर एक शक्ति है। वह शक्ति मनुष्य मे भी है। मनुष्य की शक्ति उसके श्रम मे है। हल उसी श्रम का एक प्रतीक है। तो जब वह हल गेहूँ उगाता है तब दूब, पत्ते, किरन, हल की पूजा मे जुटते हैं। पत्ते ग्राम के हैं। परपरा ने उन्हें मगलमय माना है। दूब भी मगल-चिह्न है, और रुदकर भी न मरनेवाली हरि-याली है। किरन अधकार को हरती है। तो हल की पूजा करते हैं—मगल-परपरा, अक्षय जीवन और आलोक। इस हल मे ही सभ्यता पलती है। इस हल को पहाड भी प्रणाम करता है क्योंकि इसकी गरिमा उसकी विराट काया से कही अधिक बडी है। इस प्रकार हल के रूप मे मानव की आत्मा को ही उसकी सपूर्ण महत्ता याद दिलाकर सबके ऊपर बिठाने का प्रयत्न हो रहा है।

एक ही प्राकृतिक व्यापार के हमे भिन्न-भिन्न रूपेण वर्णन प्राप्त होते हैं·

दूर गगन मे टूट रहा है एक सितारा!
अधकार की छाती पर

# प्रकृत धर्म और दर्शन

किधर जाऊँ ?

पूछता है मनुष्य।

प्रकृति से सघर्ष करता हू कि मैं छोटा ब्रह्मा हू, तो क्या इसमे अभौतिकता देखूँ ? या एक-एक करके इसके रूपो को जानता चला जाऊ ?

और फिर पूछता है उसका विवेक

मनुष्य ! तेरा रहस्य खोलना ही क्या प्रकृति की सार्थकता है ? जब तू इस पृथ्वी पर नही था, तब इसकी क्या सार्थकता थी ? और तू नही रहेगा तब क्या होगी ?

यहूदी, ईसाई और इस्लामी तथा ऐसे मतो ने सृष्टि का क्रम मानकर भी उसके अत तक की ही कल्पना की है, इसीलिए वे कब्र बनाकर अत की प्रतीक्षा करने की भावना मानते हैं। परतु हिंदू मानता है निरतर्य, एक चक्र। बहुत दिन की प्रतीक्षा वह नही मानता, हाथ के हाथ सबका कार्य-कारण देखता रहा है वह। मनुष्य को उसने सृष्टि के अत-र्गत अन्यमतो की अपेक्षा अधिक माना है। इसलिए यह विचार भारतीय चिंतन मे पहले नही मिलता। वहा तो विराट सृष्टि और विराट ध्वस मिलते हैं। प्रलय अतिम नाश है, परतु उसके बाद भी एक सृष्टि है। नये कवि मे यह परपरा से उतर आई भावना तो अब भी है, परन्तु उसका 'आज' इतना बडा है और वह उसे इतना ही महत्त्व देने को विवश है कि 'नई' आस्था अभी तक वह पूर्णरूपेण खोजकर निकाल नही सका है।

समाज, स्त्री-पुरुष-सबध, अब हम प्रकृति के व्यापक क्षेत्र मे मिलते हैं, क्योकि यौन सबध मूलत प्रकृति के अन्तर्गत ही आना चाहिए। यहा हम इसकी विवेचन करते हैं। नया कवि कहता है

> है आज प्रलय का आवाहन
> बज-बज उठती है रणभेरी
> तुम मुख मलीनकर बार-बार
> अब व्यर्थ लगाओ मत देरी
>
> दो विदा, न यों अकुलाओ प्रिय,
> भर-भरकर आँखों मे पानी

जब चन्द्रमा,
पश्चिम की झील के किनारे
अपने हरिण खोल देता है,
कभी दक्षिणा और कभी उत्तरा
बनकर सुबह की हवाएँ
नील गायों की भाँति खेतों में
मुँह मारने लगती हैं,
और जब अडे सेकती हुई फूली-फूली
लाल बड़े फूलों-सी मुर्गियाँ, बाँग सुनाने लगती हैं,
सोने का एक अश्वत्थ बीज
आकाश अपने ठिठुरे हाथों से गाडने आता है।

—नरेशकुमार मेहता

सुबह की हवाएं नील गायों की तरह खेतों में मुंह मारती हैं। मुर्गियां लाल बड़े फूलों-सी दिखाई देती हैं। आकाश के हाथ ठिठुर गए हैं। वह एक बीज गाडने आता है। बीज है अश्वत्थ बीज। यानी पीपल का। अश्वत्थ शब्द ही अपने साथ बहुत बड़ी परपरा लिए हुए है। वेद में यक्ष जिसके मध्य में रहता है, और यातुधान उसको देखता है, वह अश्वत्थ बीज है। उपनिषद् में भी अश्वत्थ का उल्लेख है जो ऊर्ध्वमूल है। गीता का अश्वत्थ तो प्रसिद्ध ही है। यह अश्वत्थ निरतर भारतीय चिंतन में अपना स्थान रखता आया है। बोधि द्रुम होने के कारण इसने आदर बौद्धों में भी पाया है। परंतु नरेशकुमार ने उसे अपनी दृष्टि से आलोक का बीज माना है। प्रकारांतर से आलोक भी दर्शन के अश्वत्थ का ही एक पर्याय है। कवि ने इस पक्ष को नहीं लिया। उसकी अपनी कल्पना है और जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, यह नये चित्रों में पुराने चित्रों का नवीनीकरण है।

नरेश के शब्द बहुत चुने हुए होते हैं और वे जो प्रभाव चाहते हैं, वह स्पष्ट सामने आ जाता है

दोपहर तक सोने की पत्तियाँ
फूलों और फलों से लदा
सोने का वीर्यवान
अश्वत्थ बन जाता है
उसकी छाया में हमारी
घास गरम होती है
हमारे पशु उसके नीचे बैठकर
जुगाली करने लगते हैं

हँसिया लिए निज हाथ में
किस ओर जाएगा पथिक,
यह तो अभी अज्ञात था !
बासी लिए रोटी बड़ा
भाई वहीं जब था खड़ा
छोटा उठा मुँह टोकरी से
दूध कहकर रो पड़ा
मैं कँप उठा था और टपका
एक पीला पात था !

—शिवमंगल सिंह 'सुमन'

कालिदास का मेघ भी सुन्दरियों से खेलता था। उन्हें डराता था, उनके कटाक्षों से जीवन सफल करता था। वह भी पसीने से भीगी मालिनों और किसानों की वधुओं को आराम देता था। सुमन का प्रभात भी किसान-कन्याओं को छूनेवाले वात के कारण सुन्दर हो गया है। किन्तु उसका ध्यान किसी प्रिया के पास संदेसा पहुचाने में नहीं है। उसे मनुष्य की भूख सता रही है और इसलिए प्रभात को वह नहीं देख पाता। यद्यपि वह बहुत सुन्दर था। उसकी दृष्टि फिर भी प्रतीक रूप पीले पात की ओर जाती है, जो जराजीर्ण था। वह मृत होकर गिरा था करुणा का अश्रु बनकर, दोनों ही अवस्थाओं में वह अपना समान प्रभाव छोड़ गया।

स्त्री और वह भी जो कृत्रिमता से दूर कवि का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है, क्योंकि वहा उसे सहज जीवन की झांकी मिलती है

खड़ी खेत में मुसकाती है किसी भील की रानी !
इसकी बाँहें नहीं कमल की नाल सरीखी कोमल,
इसकी बाहें पुष्ट नीम की शाखाओं-सी श्यामल !
कनक कटोरे नागरिकाओं को ही रहें मुबारक
विन्ध्या के शिखरों-सा उन्नत है इसका वक्षस्थल !
इसकी आँखें भीत मृगी-सी नहीं विकल या चचल
इसकी आँखों में सध्या के घीर, साँवले बादल !
इसकी चितवन में हैं तीखे तीर न तेज कटार
एक ज्योति है, छू लेती है जो प्राणों के तार !
हंसगामिनी या गजगामिनि इसे नहीं कह सकते,
इसकी गति जगल के झरने-सी अल्हड़ मस्तानी

—रामकुमार चतुर्वेदी

तुममें जागृति की विद्युत है,
उठ ए नव युग के अग्रदूत!
उठ ए स्वदेश-श्री के सुहाग!
नव युग आया, नव युवक जाग!!

—रतनलाल साधु

कहां कालिदास की झंकारती मेखला पहने नितंबिनी युवतियों का मादक वसंत, कहां मादक वसंत में युवक और वह भी नवयुग का प्रतीक। प्राचीन कवि पुरुष अधिक था, स्त्री के क्षेत्र में, नया है पौरुष का प्रतीक युग के क्षेत्र में। यह एक बहुत बड़ा भेद है। प्रश्न आता है मनुष्य के स्थायी भाव का। युवती के प्रति 'रति' अब भी विद्यमान है। क्या युवक और युग के प्रति भी बनी रहेगी? फिर प्रश्न है कि पुरुष दृष्टिकोण से स्त्री में जो अनुरक्ति है, क्या स्त्री को भी वह उतनी ही आकर्षक लगती है? क्या आज की बदली हुई नैतिक भावनाओं में भी कालिदास की ऐसी उक्तियों का वही प्रभाव पड़ता है? मैं समझता हूं नहीं। आज उस स्थूलता से कवि-हृदय तुलनात्मक रूप में सूक्ष्मता को अधिक महत्त्व देता है। युग कौन-सा युग है! प्रत्येक युग नया है और प्रत्येक युग के प्रति मानव को अपनत्व की ममता होनी रहेगी। जैसे उपनिषदों के चिंतन से समस्याओं के बने रहने से हम अभी तक प्रभावित होते हैं, मैं समझता हूं कि युग के प्रति होनेवाली आस्था में ये कविताएं अपना स्थान रखेंगी। अवश्य ही इनका अस्तित्व मानव के सर्वांगीण विकास को पूरी तरह से ढक नहीं सकेगा।

युग के प्रति नरेन्द्र ने दूसरा चित्र दिया है। स्थायी भावों में इन चित्रों को किस रस के अंतर्गत माना जा सकता है, यह अभी तक प्रश्न ही है। कहता है:

आंज रही है आज अमावस्या नयनों में काजल
निश्चय नया चांद कल उगता देखेगा जगती-तल!
शिव के मस्तक का आभूषण नये चांद का अंकुर
यह जितना शोभाशाली है, है उतना ही निष्ठुर।
एकदंत के एकदंत-सा राहु-ग्राह से निर्भय
उन्नति का रथ-चक्र बनेगा वक्र चन्द्र निस्संशय!
नई ज्योति की असि बन, शशि बन आएगा नवयुग कल!

—नरेन्द्र

अमावस्या का काजल पारना क्या अर्थ रखता है? काले में काला क्या दीखेगा! परंतु इससे हम यही तात्पर्य निकाल सकते हैं कि अमावस्या उतनी काली नहीं, जितना उसका अंधेरा है, यह भी खींच-तान करके ही। नया चांद अवश्य ही नवयुग बन जाएगा। इन कविताओं को रस की दृष्टि से हमें वीर रस के अंतर्गत रखना होगा, क्योंकि आखिर

जमुना के उस पार लहलहाते हरे खेत
उठता है एक स्वर

×

पानी देती-देती, निराती-निराती
थक गई होगी वह कृषक बाला : ग्राम युवती
जिसके क्वारेपन मे शरमाता-मुस्काता होगा
यौवन-धन, जाडो की नरम-गरम धूप
क्षण-भर विलमा होगा उसका मन
कल्पना-निभृत निकुज मे
छूट चले हैं ये स्वर के मधु-दूत लालसा की ऊष्मा ले
प्यार की मदिर सुरभि ले,
प्रतीक्षा की अकुलाहट का सन्देशा मुझे दे रहे
जाओ ठण्डे पवन झकोरे दूर मुझे परवाह नहीं है आज तुम्हारी
मत सहलाओ मेरा माथा तप्त
नहीं चाहिए मुझे सहजने, तेरे ये सब फूल—
दिखावट : सुरभिरहित,
मैं खिचता जाता हूँ जमुना के पार, उस पार
लहलहाते खेतो के बीच जहाँ से स्वर उठते हैं

—रामुनदत्त दवे

किंतु पहला चित्र टूटते ही कवि कुछ व्याकुल-सा हो जाता है। कृषक बाला . ग्राम युवती की थकान, उसका यौवन, धूप, जाडे की नरम-गरम धूप, क्षण-भर विलमता उसका मन और फिर वह देखता है कि उसका माथा तप्त हो उठा है। सहजने के फूलो मे सुरभि क्यो नही है, यह सवाल सामने आ खडा होता है। ये सफेद फूलो के झौंर अब उसे अच्छे नही लगते।

लोक-जीवन भी कवि के मानस की अवस्था के अनुकूल ही अपना स्थान काव्य मे प्राप्त कर पाता है। तो ये नये चित्र वस्तुत पथ का अन्वेषण ही हैं। अपने-आप मे जो चित्र पूर्ण हैं, वे अपने आकर्षण के कारण ही। अधिक सुषमा है उन कविताओ मे, स्वानुभूति ने बाह्य चित्रण को हटा दिया है। 'ग्रामवधू की विदा' मे कवि एक सपूर्ण चित्र खीचता है। यह सारे चित्र मध्यवर्गीय जीवन के चिपचिपे ढोग से बाहर जाने के प्रयत्नो को प्रस्तुत करते हैं। विदा की घडी अब आ गई है और वधू जा रही है :

विदा की घडी है कि ढप ढप ढपाढप
बहे जा रहे ढोल के स्वर पवन मे

थीं स्त्रियां—हर जाति की—उनको पूज्य नहीं दिखाई दीं। अतः जाति-प्रथा का खण्डन, मानव की सामान्य स्वीकृति इस युग की एक और देन है। मनुष्य के कार्य-व्यापार में प्रकृति को बांधकर जब चित्रण किया जाता है, तब एक संपूर्ण चित्र-खण्ड आकर उपस्थित होता है।

प्रकृति को रूपक के तौर पर लेने में प्रायः कवि एक ही बात को दुहरा-दुहराकर लिखते हैं, क्योंकि समय का चरण तो अभी बहुत तेज़ी से बढ़ता हुआ लगकर भी वास्तव में उतना बढ़ा नहीं है जितने की आशा थी और कवि को बार-बार उसीका सामना करना पड़ता है:

> अंधकार अपार भू पर व्यापमान
> अंधकार अपार छाया आसमान
> अंधकार सशक्त केवल अंधकार
> कहां जीवन का विपुल विस्तार
> हास-विलास
> छा गए बादल, छिपे तारे, ढंका आकाश
> कहां शेष प्रकाश
> व्यर्थ दृष्टि अदृष्ट जिससे सृष्टि साज
> हो रही है घन-तिमिर में वृष्टि आज
> नवल अंकुर, नवल जीवन, नव समाज
> हो रहा निर्माण, नाश, विकास, ह्रास—
> स—हास !
> आज का यह तिमिर करता शक्तिवान
> समझने मानव लगा है शक्ति-ज्ञान
> स्वत्व, जीवन, प्रगति, सामञ्जस्य, मान,
> हो चला संघर्ष इससे जगत—
> का अधिवास !
>
> —त्रिलोचन शास्त्री

केवल अंधकार सशक्त है। अंधकार, अंकुर, प्रकाश, सब अब अपना महत्त्व उतना नहीं रखते, जितना पहले रखते थे। मानव का स्वत्व आगे आया है। इसका कारण है युग। युग यद्यपि एक प्रतीक है, परंतु समस्या बनी हुई है। एक ओर इसकी प्रतिक्रिया हुई कि बार-बार वस्तु को दुहराने से काव्य नहीं बनता। दूसरी ओर हठ चला कि इसको चित्रित करना ही आवश्यक है। इस द्वन्द्व में किसीने भी लोक-जीवन की गहराइयों में अभी तक चरण नहीं रखा। व्यापक जीवन प्रतीकों के रक्षण में नहीं पलता-

तुम्हारी नाव क्या तट से बंधी रह जाएगी
लहर को काटकर अपना निराला पथ बनाने को
नये संघर्ष में सज़ोदमी से डूब जाने को
बड़े विश्वास से पतवार को हमने चलाया है
तुम्हारी नाव क्या मझधार से घबराएगी।
नई आशा नई हिम्मत नये संसार वाले हम
नहीं जिसको सुना तुमने वही हुंकार वाले हम
हमारी दृष्टि में निर्भीक साहस ही समाया है
तुम्हारी आँख क्या नीचे झुकी रह जाएगी ?

—वीरेन्द्र मिश्र

यह नये संसार का रहनेवाला है। उसमें नवीन साहस है। जैसे बालक को सब कुछ नया-नया-सा लगता है, नये कवि को भी वैसी ही अनुभूति होती है। यह जाति के जागरण का चिह्न है। पुरानी जाति से यह दृष्टि प्रायः ओझल-सी हो जाती है। तो यह है नया साहस। प्रकृति आह्वान की भी उतनी ही सहारा है, जितनी वह पलायन की।

कवि-हृदय इतने में ही सीमित नहीं है। वह अपने चारों ओर की सृष्टि को भी नवीन स्फुरण से भरा हुआ देखना चाहता है

नई गति दो पवन को और
सागर को नया-सा ज्वार दो
नई सपना धरा को दो
जमाने का नया जो द्वार हो !
समय की बाँसुरी सोई
नये स्वर की नयी झनकार दो !
नई पीढ़ी ! न सोओ लोरियों में
यह सवेरा है नया
हँसा वह भोर का सूरज
अँधेरे का समन्दर पी गया।
अँधेरे में डुबा देते हमारी
नींद के झोंके हमें
खुमारी में न पी लेगा
भला निर्माण को विध्वंस क्या ?
सुनहरी जगमगाती पूर्व को
रेखा किरण के जाल में

हैं अगम उमड़ चली सहस्र हजार
दल सँवार
जा रही हैं आज
कहीं दूर, दूर, दूर !
एक मौत की अटूट काजरी
लकीर
एक लक्ष्य जा रहीं अदम्य
राह चीर—
×
राजा है कोई न कोई है रंक
चींटी की दुनिया में चींटी निश्शंक !
×
रोकेगा कौन भला इनका दल ?
एक-एक चींटी में एक-एक गज का बल। —वीरेश्वरसिंह

इन चींटियों में ऊंच-नीच नहीं। अपनी दुनिया में चींटियों को शंका भी नहीं है, चींटी में गज का बल होना जायसी की नागमती की आहों से कौओं के काले पड़ जाने के समान होते हुए भी, अच्छा प्रभाव छोड़ता है, क्योंकि दल शब्द में ही शक्ति निहित मानी जाती है।

यह सामूहिक रूप से जो प्रकाश और अंधकार का निरन्तर संघर्ष चल रहा है, वह आखिर क्यों ? यह संघर्ष है या मनुष्य इसकी कल्पना करने लगा है ! नहीं। सत् और असत् के रूप में यह धारणा तो पहले से ही विद्यमान है। जिसे आधुनिक काव्य का 'गतिरोध' कहते हैं, वह वस्तुतः एक विशेष शैली के बाहर न निकल पाने की असमर्थता ही है। कुछ ऐसा विचार हो गया है कि इस शैली-विशेष के बाहर निकलकर जो कुछ लिखा जाएगा वह काव्य नहीं हो सकेगा। रहस्यात्मक भावना तथा नए उपमानों का शोध इसी शैली के अंतर्गत हो सकता है, ऐसी मान्यता-सी बन गई है। किंतु शैली-विशेष ही काव्य की श्रेष्ठता का पर्याय नहीं हो सकती। यह सत्य है कि युग-विशेष के प्रभाव से निकलना सहज नहीं है। किंतु युग में भी व्यक्ति की अपनी विशेषता होती है। वह हमें अवश्य मिलती है। कवि का चिंतन मुखर हो उठता है

मिट्टी के तिमिर गर्भ में तुम
सोए बनकर जब ज्योति-बीज
तब हृदय विधाता का जाने
क्यों करुणा से उठा पसीज ?

रन-सी छा जाती है। गति इतनी है कि ध्वनि निकलने लगती है जैसे कालिदास के मेघदूत में शब्द, कहीं-कहीं क्या, प्राय ही ध्वनि गुजाने लगते हैं। नीरज की विशेषता है उसकी भाषा की सरलता। समय के सावन की कल्पना भी नयी है। यहा कवि मेघ और श्रांति को मिला देता है, किंतु यहा वह विरोध भी उत्पन्न करता है। बाधनेवाला भी गिरकर माटी हो जाता है, और बादल भी। प्रतिक्रिया और श्रान्ति का एक-सा मत ठीक नहीं जचता। किंतु कविता में यह भावना उतनी ग्राह्य नहीं है, जितना है उसका सजीव चित्रण, कवि के अपने सत्य में और काव्य के सत्य में भेद है। काव्य का सत्य इसीलिए सुन्दर बन पड़ा है कि उसमें जीवन का बिंब सुदर रूप से उतर आया है। प्रकृति के दुर्दम रूप को भी जीत लेना आज मानव की आकाक्षा हो गई है

प्रलय में, तिमिर में, न तूफान में भी
कदम ये रुके हैं न रुक पायेंगे ही।
न मैं चाहता मुक्ति को प्राप्त करना,
न मैं चाहता व्यक्ति का रूप धरना,
सभी विश्व मेरा, सभी प्राण मेरे
चलूंगा सभी विश्व को साथ घेरे,
सभी स्वप्न हैं देखते एक मंजिल
सभी जागरण में निहित एक ही दिल
भटकते हुए भी उधर ही चलेंगे
भटकते हुए भी उधर ही चलेंगे
जहाँ फूल-सा विश्व खिलता रहेगा
लहर पर जहाँ शशि मचलता रहेगा
जहाँ एक हो जाति होगी धरा पर
जहाँ एक नर पाँति होगी धरा पर
जहाँ सब में प्राण अनुरक्ति होगी
वहाँ प्रेम होगा—वहीं शक्ति होगी,
वहाँ स्वर्ग होगा मनुज के हृदय में
किसी दिन कभी तो पहुँच जायेंगे ही।

—उदयशंकर भट्ट

प्रलय, तिमिर, तूफान, इनमें न मनुष्य के पग बधे हैं, न रुकेंगे ही। प्राचीन और मध्यकालीन कवियो ने भी इस सत्य को और प्रकार के शब्दो मे अभिव्यक्ति दी है। किंतु इतना व्यापक रूप हमे कम मिलता है। सकल ससार की शांति की कामना तो बहुत प्राचीन कवियों ने भी की है। नया कवि सर्वत्र जागरण की प्यास देख रहा है। वह ऐसा

बड़ी बेबसी, खो गई राह है।
गुफा कालिमा को निगलती चराचर।
गरम साँस यह काँपती-सी बराबर!
गगन पर किरण मालिका तिलमिलाती—
घुटन बढ़ रही, मृत्यु का दाह है।
लगी आँख, सपने बहुत रंग दिखाते।
खुली आँख सपने स्वयं टूट जाते।
घुली कल्पना जब हुई दृष्टि धूमिल
बहे रंग, लाका हुआ स्याह है।
अँधेरा बहुत, ज्योति की चाह है।

—कुमारी रमासिंह

प्रकृति का भय भी मनुष्य को बहुत सताता रहा है और अब भी उसका आतंक मौजूद है। ज्योति की चाहना आज बहुत बड़ी तृष्णा है। मध्ययुग का व्यक्ति यह नहीं मानता था कि वह प्रकृति के संबंध में अंधकार में डूबा हुआ है। प्रकृति को वह परमात्मा की महिमा के रूप में मान चुका था। उसकी अद्‌भुत शक्ति भी उसीके चमत्कार के रूप में मानी जाती थी। आज का मनुष्य अपने को अँधेरे में मानता है। उसके दीप इतने सशक्त नहीं हैं कि वे अँधेरे को पी जाएं। यह मनुष्य की विवशता है। वह केवल कल्पना में सुख पाता है, यथार्थ बहुत कठोर है।

मनुष्य का स्वप्न बहुत सशक्त है। वह स्वप्न में रहता है तो उसे "अपने चलने के साथ रवि, शशि किरणों के पंख सजाए चलते नजर आते हैं। पृथ्वी, झरने, सरिताएं, तरु-लतिकाएं, कानन और नया जीवन, सब उसे अपने साथ चलते हुए दिखाई देते हैं।" (उदयशंकर भट्ट) इस स्वप्न को हम मनुष्य की बलवती आशा कहना ही अधिक उचित समझते हैं, क्योंकि उसीसे उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है।

हो सकता है कि आगे बढ़ने का अर्थ कल बदल जाए, किंतु आज उसका यह दृढ़-विश्वास-सा हो गया है कि वह विकास कर रहा है। कवि हृदय इसे देखता है और व्यक्तिगत जीवन में उसके मन में संशय भी हो उठता है

सुनहले सपन की रजत घाटियों से
विसुध तन, विसुध मन चला आ रहा हूं,
अमृत दान करने चला पथ को मैं
मगर पथ ही से छला जा रहा हूं।

क्या मनुष्य चल रहा है, या राह ही उसे छलती चली जा रही है? दार्शनिक इस प्रश्न को सुनकर गूढ़ चिंतन में डूब जाता है। वैज्ञानिक अपने सीमित जीवन को ही

खामोश पथ पर सभ्यता, संस्कृति पुनीत—
आदर्श का बोझा उठाए जा रही दुनिया!

×

वही सुपना रहा है छल कि 'हम ऐश्वर्यशाली पूर्वजों के पुत्र
जिनकी कीर्ति थी अनुपम, हजारों दास-दासी
मेघचुम्बी भवन उन्नत, हाथी, अश्व, सुन्दर रथ,
रुपहले छत्र, सुनहरी झालरों से युक्त!'
वही सुपना रहा है दल कि 'हम औलाद हैं'
उन शाहशाहों की, नवाबों की
कि जिनके महल आलीशान, बरसता था विभव जिनमे
हरम में बेगमातों, लौंडियों से औ' गुलामों से
चुहल रहती सुबह से शाम, झमकते घुंघरुओं की छुम
अदा अन्दाज, नखरे नाज, नाजुक हाथ
साकी की कँटीली तीर-सी नजरें, ललकते लब
और वे मय के छलकते जाम।

—देवेन्द्रनारायण वर्मा

तो यह बहुत स्पष्ट है कि अब प्रकृति चित्रण में मनुष्य और उसका समाज प्रमुख स्थान ले चुका है। प्रकृति के वर्णन से कब कवि हमें कहा लाकर ठहरा देगा, हम इसके बीच में कोई रेखा नहीं खींच सकते। वह क्या अनुभव करता है, वही उसकी विशेषता है। तो यहा हम यह कह सकते हैं, प्रकृति को गौण स्थान मिला है, पथ की खोज के कारण, क्योंकि अब प्रकृति अपने-आप मे कुछ नहीं। वह तो मनुष्य के सुख-दुख की छाया से ग्रस्त है। अत यह भी कहा जा सकता है, आज प्रकृति को उद्दीपन के रूप मे प्राय देखा जाता है, यह बात और है कि उद्दीपन के आधार बदल चुके हैं। वे व्यक्तिपरक से बढकर समाजपरक होने की ओर उन्मुख हैं।

'ऋतुसंहार' मे नयी दृष्टि का भेद स्पष्ट होता है। कालिदास के 'ऋतुसंहार' से आज का कवि कितनी दूर हो चुका है। भावना के क्षेत्र मे उसमें भी वही 'रति' है, परन्तु यान करने का ढग ही बदल गया है

मेरे हाथ के अबीर से यह अभी तक लाल है
और, बेलो की कोढियों की मेरी माला से अभी तक सुगंधित
तकियों के बीच में पड़ा यह लम्बा बाल
प्रिये, तेरे वियोग में मुझे डँस रहा है।

कालिदास की सघन केश-राशियां आकर एक बाल में सिमट गई हैं। और यह

उठता है और उसकी सास-सास कविता बन जाती है। जब वसन्त तितली के पख लगा-कर उडता है और तरु-तरु पर कुसुम पराग बिखराता है, तब उसे धूलि की दुलहिन का सुहाग 'अक्षर' से भी अधिक अक्षर जान पडता है। कल-कल ध्वनि करती नदियो के पास जाकर उसके प्राणो की पायल स्वय छनक उठती है।" (नीरज)

कैसा प्यार है। ओ धरती ! तेरा पुत्र है यह मनुष्य ! तुझे कितना प्यार करता है ! और भोग्ये वसुधरे ! यह दुर्दम पौरुष तुझपर कितना न्योछावर है ! किंतु जीवन की सार्थकता क्या है ! क्यो है यह जीवन ? कवि करुण स्वर से पूछता है

मणि शय्या पर बालाओ का प्यार
या लहरो का विष-मन्थन कर स्वीकार
क्या पाएँगे प्रभु, हम क्या पाएँगे ?

×

जिस दिन यह सारा आकुल प्रणयोन्माद,
रह जाएगा केवल पिछला अभ्यास,
जिस दिन साँसो मे साँसें होंगी लीन,
पर मुर्दा होगी मन की सारी प्यास,
उस दिन होगा फिर यह सिद्ध
वैयक्तिक सीमा मे बद्ध—
जितना झूठा है यह दु ख
उतना ही झूठा है सुख
सुख-दुख इन दोनों के पार
क्या पाएँगे प्रभु, हम क्या पाएँगे ?

—धर्मवीर भारती

क्या होगा प्रभु ! जीवन का सार क्या है ! वैयक्तिक सीमा मे बद्ध सुख और दु ख दोनों झूठे हैं। इनके पार क्या है ?

समस्त प्रकृति कवि को कोई प्रेरणा नही देती। अब तक का प्रणयोन्माद एक पिछला अभ्यास बनकर रह जाएगा !

जीवन का रहस्य प्रकृति के अतर्गत ही आता है यहा, उसे हम दर्शन के अतर्गत नहीं ले सकते। क्योंकि यहा मनुष्य के जीवन का प्रश्न नहीं, उसका सृष्टि से तादात्म्य प्रमुख है। वह देखता है

"मदिरा-सी मादक रात, गगन मे चादनी की झीनी उज्ज्वल साडी पहने मुस्करा रही है। उसके आचल से लहराती-इठलाती आनी मद पवन तन को छूकर मन मे सिह-रन-भर रही है। भ्रमरो के शिशु उपवन मे अठखेली कर रहे हैं। तितली की राजकुमारी

धनि-धनि प्रभु तोरे बदरा-बदरिया
धनि-धनि हल-बैल धनि-धनि खेतवा।
धनि खेतिहारिनि औ' धनि हैं किसनवाँ
जाके बल लह-लह ऊसर क रेतवा॥
अबकी तो ओरौतना चलत बयरिया
मचलि-मचलि जात खेतवा के धनवाँ॥

×

अब न पसीना बही बिरथा बेगार जइहाँ,
अब न लगनवाँ मा बिकि हैं गहनवाँ।
सब आसा पूरी करो हरा-भरा खेतवा
अबना बिदेसे जाइ मोरा पू किसनवाँ॥

—चन्द्रभूषण त्रिवेदी

मध्यकालीन कविता में ऐसे सुन्दर चित्रण हमें सेनापति में अवश्य मिलते हैं। शब्द-लालित्य के अतिरिक्त जो भाषा का चमत्कार सेनापति ने साथ में रस्सी-सा बट दिया है, उसके कारण वह हाथ में अरसती है। यहां सहज वर्णन है। सत्यनारायण के धोए-धोए पात और नजीर के खेतो के-से ये खेत सुहावने हैं। हिंदी की बोलियों में कितनी सामर्थ्य अभी दबी पड़ी है यह स्पष्ट प्रकट होता है। किंतु अंत में कविता में कृपक-स्तवन-सा आ जाता है। और प्रकृति मानो मनुष्य की जय बोलने लगती है। कवि यह नहीं भूल पाता कि यह सब मनुष्य का रचाया हुआ सौंदर्य है जिसके बल ऊपर भी लह-लहा रहा है। जैसे—'पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।' भगवान की दया है, वैसे ही यह मनुष्य की मेहनत का नतीजा है। कविता के अंतिम भाग में किसान का पेट के लिए विदेश जाना करुणा जगाता है और लगता है कि कवि की वेदना बहुत सार्थक है। जायसी के 'दौंठि दँवगरा' और कालिदास के 'खेतो' से इसकी तुलना करिए

वह असाढ़ का पहला दिन गिर चुका दौंगरा गहरा
धुले हुए सब पेड़, प्रकृति का आंचल फिर से लहरा।
उमड़ी सौंधी गंध मटैली तपन मिटी धरती की,
आज खिल गईं मुरझाईं कलियाँ किसान के जी की।

किसान के जी की कलियां खिलीं। पेड़-पत्ते साफ हो गए। धरती से सौंधी गंध उठने लगी और तपन मिट गई। और चिंता के रूप में घर और प्रकृति दोनों साथ-साथ मिलते हैं

बांह-बांह में पलते जाते मेंहगू के भी सपने
जबकि कटेंगे धान सुनहले दिन भी होंगे अपने

जलो नहीं प्रदीप - ज्योति पुंज - पुंज आ गए
निकुंज कुंज से निकल शलभ प्रदीप छा गए।
ठहर न एक पल सके प्रकाश में समा गए,

×

ये चाहते कि पोछ लें सुपक्ष से प्रकाश को।
कि चाट लें प्रकाश के समस्त चन्द्रहास को
इसीलिए जले स्वयं प्रदीप भी जला गए।

—आरसीप्रसादसिंह

जिनमें ज्योति की चाह है, वे ज्योति में लीन हो जाते हैं।

"पृथ्वी और आकाश मिले हुए दीखते हैं, पर क्षितिज का अंत नहीं मिलता। ऊपर मत देखो। विस्मृत की आड़ लेकर असफलताओं से मत डरो। मैं प्रकृति-दूत हूं, तुम शक्ति-दूत हो।" (विपिनचंद्र चतुर्वेदी)

"झंझावात आ रहा है।

"धरा के वक्ष पर उभरे हुए पहाड़ उरोज हैं। वह झंझावात आकर उन्हें मसलता है, कड़कड़ाता है। वृक्ष रोम हैं। इन्हें वह झकझोरकर चीर जाता है। झरने, नदियां शिरा-उपशिराएं हैं। उनमें वह लहू की तप्त लपटों-सा प्रखर उद्दण्ड ज्वाला को विशिख-सा सनसनाता है।" (भारतभूषण अग्रवाल)

पृथ्वी के वक्ष और तूफान का यह वर्णन कितनी व्याकुल वासना से भरा हुआ है। कालिदास ने भी पृथ्वी के उरोज देखे थे। किसी भी रूप में हो, अंत में मानव अपने जीवन-संपर्कों से ही उपमाएं देता है, क्योंकि जिसे वह जानता है, वही उसकी रागवृत्ति में बसे रहते हैं।

मनुष्य इस तूफान से डरता नहीं। कहता है—"आओ! इन चरणों से हे प्रलय के समीर! टकरा जाओ! हे आकाश! तुम शत-शत भानु हाथों में लेकर गरजो, लाख-लाख किरणों के तीक्ष्ण तीर छोड़ो। परंतु मैं अभय हूं। मुझमें अखिल तत्त्व बंदी हैं। मैं एक आकार व्यष्टि हूं जिसमें समष्टि प्रतिनादित हो रही है।" (केदारनाथ मिश्र 'प्रभात')

"गिरि-शिखर मनुष्य का ध्येय है।" (बच्चन)

इस संघर्ष में प्यार ही उसके जीवन का संबल बनकर निकलता है। वह कहता है

घायल उर को देख तड़पता किसने तीर संधाना
किसने पनघट के पंछी पर चाहा जाल बिछाना
आओ मेरी बाँहों में तन-मन की आग बुझा लें
मन के बैरी को समझाने बिगड़ी बात बना लें,

हो गया है, इसी प्रकार कवि प्रकृति से प्रेरणा लेना चाहता है। सभ्य युग के उन्नयन मे घृणा का आक्रोश देखकर वह यह कहता है कि बलिदान मुक्ति दे सकता है। स्याहियो मे जिदगी की आग के पख की-सी रेख बहुत सुदर कल्पना है, जो काली घटा मे चमकती हुई दामिनी के लिए की गई है। युग स्वय अपनी तस्वीर गढ रहा है। यह युग एक नया 'पात्र' है, जिसका नये स्वरो से गायन किया गया है। इसका रूप क्या है? एक भावना-मात्र। नयी कविता का यह नया 'नायक' है। जिस प्रकार पुराने और मध्ययुगो मे नायक के साथ प्रकृति वर्णन होता था, उसी प्रकार इस नये 'नायक' के साथ भी होता है। वह कितने ही प्रकारान्तरो से होता है।

वह ग्राम, लोकचित्रण से लेकर, उद्‌बोधन और नवचेतना के गर्जनो के अतिरिक्त हमे व्यक्तिपक्ष मे भी मिलता है। कही-कही हम प्रकृति मे नीति परकता सदृश दर्शन की झलक भी पाते हैं

यदि फूलो की सुषमा चाहो
सीखो पत्थर बनकर रहना
यदि मानस की सीमा चाहो
सीखो बधन बनकर रहना
मैंने दो चिह्न बनाए हैं
जिसमें चाहे उँगली धर दो।

—शिवबहादुरसिंह

फूलो की सुषमा के लिए पत्थर बनना और सीमा प्राप्त करने को बधन बनना, दोनो ही विरोधी तत्त्व हैं। दर्शन के क्षेत्र मे दोनो उचित हैं। जो मुक्त है, वह असीम है अत अनत दाह है। जो केवल कोमल है, सुदर है, वह जीवन की स्थिरता और सघर्ष से दूर है। अत यद्यपि फूल और पत्थर का कोई सबध नही है, फिर भी बात बैठ जाती है। यह प्रकृति का नये ढग का चित्रण है। अलकारशास्त्रियो को भी नयी कविता मे सतोष अवश्य हो सकता है

वर्ण-वर्ण मेरी कविता के नाविक बन-बनकर आते हैं
औ' कल्पना-तरणि में भाव-रस भर-भर पार उतर जाते हैं।
इस गतिमय धारा के बदले अब मृत तट का नाम न लूँगा।

सतमैया के दोहरे—नाविक के तीर थे। अब वर्ण ही नाविक हैं और कल्पना की नाव में वे भाव रखकर पार उतर जाते हैं। कवि को यह धारा पसद है, क्योकि उसमे उसकी नाव तो चलती है। मुर्दा किनारे को तो वह नाम भी नही लेना चाहता।

उपनिषद् में यह झगडा आता है कि श्वास, नाक, कान और प्राण में कौन सबसे बडा है। ऐसी कल्पनाए जिनमें व्यक्ति और परमात्म के द्वन्द्व हैं, पुराने युगो मे देवता

स्वागत आश्विन मास !
भरे जन-जन में जीवन।
बाढ़-पीड़िता वसुंधरा का
लौटे यौवन।
मिटें मनुज - संस्कृति विकास
पथ के ये दलदल
करे कान्ति - रवि-किरण
जगत का पथ आलोकित।
शोषण की धारा न बहे फिर।
मरनेवाली पूंजीवादी संस्कृति का
शोषक समाज का
श्राद्ध करें हम पितृ पक्ष में।
खिले द्वितीया इंदुकला - सी
बढ़े नई संस्कृति दिन - प्रतिदिन।
और विजयदशमी फिर आए
विजयदिवस जनता का पावन।
नगर-नगर में ग्राम-ग्राम में
हो विजयोत्सव
निर्धनता रूपी रावण को
फूंकें, आग जला समता की।

—सूर्यदत्त दुबे

अब स्पष्ट होता आ रहा है। तीन बातें हैं—अपने-आप में प्रकृति, प्रकृति और मनुष्य की वेदना, प्रकृति और मनुष्य का तादात्म्य। तीनों का विवेचन करने पर हमें नए रूप मिलते हैं। कवि सब एकमत नहीं हैं, न होंगे, फिर भी हमें दीखता स्पष्ट ही है कि जीवन की आस्था आज प्रकृति से उपदेश लेती है, उससे लड़ती है, उसे प्यार करती है, सब कुछ इसलिए कि जो है सो अपना बनकर रहे, यह प्रकृति निरंतर सुंदर बनकर रहे और मानव को सुख देती रहे। बस, इतना ही उसका उद्देश्य है।

इसीलिए कवि सुन्दरता को तभी सुन्दर मान लेने को तत्पर है जब वह उसके मन की सुन्दरता की कल्पना से मेल खा जाए, अन्यथा नहीं। तभी वह कहता है कि जीवन का संघर्ष आज प्रमुख है :

जीवन के कुसुमित उपवन में
गुञ्जित मधुमय कण-कण होगा

कर दिया वह धन्य वनवासी समीर !
हरित द्युति जीवन-शिखा की एक मीठी आंच
अंतर में संजो निज नवल अवयव प्रति दिवस
है दीर्घ करता आ रहा जो सत्य उसको
नमित्र—अन्तर वदना।
किन्हीं भारी दो शिलाओं की अँधेरी सन्धि में
उगते हुए उस सत्य को जिसने प्रखर उर-रश्मि के आघात से,
जिसने हृदय-एकत्र जीवन की सकल अनुभूति को
व्याकुल-सजल बरसात से गंभीर-महिमापूर्ण श्री-मय वृक्ष में
यों सहज परिणत कर दिया
उस रक्त-रश्मि विहानवाले ज्ञान-गुरु के सूर्य को
उस विकल जल-विस्तार-जल-विस्तार वाली
गहन मन बरसात को मेरे हृदय की किन्हीं गौरव
दो शिलाओं का कृतज्ञ प्रणाम है।

—गजानन माधव मुक्तिबोध

माटी के निभृत में डूबकर वनवासी समीर ने लाकर बीज धर दिया। हरा रंग जीवन की दीपशिखा की मीठी आग है। उस जीवन को कवि वंदन करता है। इसी प्रकार कवि के मन में भी दो शिलाएं हैं, किंतु भीतर ही बरसात है और वह जीवन-शिखा भी है। यह कवि का पूर्ण तन्मय रूप है। नये उपमान, नयी चित्रात्मकता, नयी शब्द-योजना, सब ही बहुत आकर्षक हैं। यों पीछे की पंक्तियों में गहनता अधिक है जिसने कविता को बोझिल बना दिया है, किंतु यह कविता भारी शिलाओं के स्वर से ही आरंभ होती है, इसलिए इसका भारी होते जाना अधिक सौष्ठव ही लिए है। बरसात है जीवन की सकल अनुभूति। मैं समझता ▮ कि 'सकल अनुभूति' और 'सजल बरसात' के स्थान पर यदि कवि 'सजल अनुभूति' और 'सकल बरसात' लिखता तो कविता की प्रेषणीयता कहीं अधिक सक्षम हो जाती। जीवन के प्रति यह ममता भी अपने आधार सर्वत्र ढूंढता हुई दिखाई देती है

चढ़ती जमुना की धारा में लो कूद गया तैराक वीर
कायर हीं शंका करते हैं उसने कब सोचा कहाँ तीर !
नागिन-सी प्रलयंकर लहरें उठती हैं डसने आसमान
सब स्वयम् निगलने को बढ़तीं करतीं भीषण रव घमासान !
दिङ्मण्डल थर-थर थर्राता लहरों पर फेनों के पहाड़

# समाज और युग-सीमा

जिस समाज में हम रहते हैं उसमें अनेक प्रकार के बन्धन हैं। वे शरीर और मन के विकास में बाधा डालते हैं। इसलिए उनका विरोध करना आवश्यक है, क्योंकि कवि तो पूर्णता चाहता है। उस पूर्णता का विरोध करने से ही विपदाएं सामने आती हैं।

"तूफान साहस को चुनौती दे रहा है। मेरा स्वप्न है कि मैं उस पार जाऊंगा, और सिंधु कह रहा है कि मैं तरणी को डुबाऊंगा, और विश्वास कह रहा है कि मैं लहरों को हराऊंगा। क्या जवानी मौत से भयभीत होती है?"

(हरिकृष्ण प्रेमी)

इस विद्रोह का सहारा यौवन है, क्योंकि यौवन में स्फूर्ति होती है। यौवन में व्यक्ति सुन्दर होता है। सुन्दरता शक्ति है और शक्ति का स्फुरण बिलकुल ही स्वाभाविक है। बलिदान धरती के लिए है। वह कहता है, "पहले मिट्टी को देह-दान देता चल। तू एक अमर जागरण है, जगनेवालों को स्नेह-दान देता चल।" (देवेन्द्रनारायण वर्मा)

माटी को दान देना महत्कर्म है, क्योंकि माटी ही अपने प्रकारान्तर से जीवित है और चेतना का रूप भी उसीसे विकसित होता है। इसके लिए नये विश्वास की आवश्यकता है।

"विश्वास सपने में बड़ा है। समर्थ सुखों में बढ़कर है। विश्वास मनुष्य के जाग्रत पौरुष की अविरलता का स्वर है। वह सदियों से जागी मानवता की अमरवाणी का वर है।" (अचल)

पौरुष को जिस प्रकार नया कवि जगाता है, वह पुराने कवियों से भिन्न है। पहले पौरुष इस प्रकार आत्मपरक रूप में नहीं जगाया जाता था। उस समय उसे किसी एक व्यक्ति विशेष में निहित कर दिया जाता था। यह आत्मपरकता वस्तु को व्यापक बनाने के लिए काम में लाई गई है। कवि कहता है

"मैंने नवीन विचारों के बीज बोए हैं। धरती पर नया इन्सान उगा आता है।"

(श्रीहरि)

उसे किसी भी प्रकार का वैषम्य पसन्द नहीं है। समाज में कितने ही प्रकार के व्यवधान हैं। छूतछात, दरिद्र, धनी, वह सबको तोड़ देना चाहता है:

कर काम खेत में स्वस्थ हुई
होगी तलाब में उतर, नहा
दे प्यार बैल को, फेर हाथ,
कर प्यार, बनी माता धरती।
पक रही फसल, लद रहे चना
से बूंट, पड़ी है हरी मटर
तोमन[1] की साग और पोहों
को हरा[2] भरी-पूरी धरती
हो रही साँझ, आ रहे ढोर,
हैं रंभा रहीं गायें-भैंसें
जगल से घर को लौट रही
गोधूली बेला में धरती।

—नरेन्द्र

एक भी पंक्ति व्यर्थ नहीं है। पूरी धरती है, पूरा ग्राम-चित्र है, ग्राम-जीवन है। एक 'सकलत्व' हमें यहां कितनी गहराई से मिलता है।

आज का कवि हठ को भी आगे रखता है। प्रकृति के ही रूप में उसे सौंदर्य नहीं मिलता। अपनी मनचाही हो जाए तब ही उसे आनंद आए, तब ही उसे सुन्दरता भी दीख पड़े। यों मनुष्य तो दीन-हीन हो, परन्तु प्रकृति सुन्दर-सी हो, तो भी वह हृदय कहां से मिलेगा उस रूप से, जो रूप का प्रभाव डाले। तभी वह कहता है

जब सजी बसती बाने में
बहनें जौहर गाती होंगी
कातिल की तोपें उधर
इधर नवयुवकों की छाती होगी
तब समझूंगा आया बसंत।
युग-युग से पीड़ित मानवता
सुख की सांसें भरती होगी
जब अपने होंगे वन-उपवन
जब अपनी यह धरती होगी
तब समझूंगा आया बसंत।
जब विश्व-प्रेम मतवालों के
खूं से पथ पर लाली होगी

---

१. तरकारी। २. हरा चारा।

भीतर और बाहर की आग एकाकार हो गई है, तभी तो विद्रोह का पूर्ण स्फुरण दिखाई देता है।

"जीवन की हार—सहने की सीमा भी ठोकर खाते-खाते आज अंगार बन गई है, वह अंगार किसी दिन भूमण्डल मे आग लगा देगा। गली-गली मे मर्यादाएं तूफान उठाएगी, जिनके आवर्तों मे लोहे की बुनियादें तिनको-सी उड़ जाएगी। लक्ष-लक्ष तलवारें कण-कण मे उग आएगी। अपमानों की घोर घटाए भीषण वज्र गिराएगी, तब भू से नभ तक बोधि-वृक्ष की हरी टहनियां लहराएगी।" (नीलकण्ठ तिवारी)

सहन करने की भी एक सीमा होती है। कब तक आखिर अपमान सहा जाए। लेकिन शोषण से कभी तो मनुष्य ऊबेगा ही और वह प्रतिशोध अवश्य लेगा। कायर अवश्य अपने लिए डरते हैं

जिनकी भुजाओं की शिराएँ फड़की ही नहीं
जिनके लहू मे नहीं वेग है अनल का।
शिव का पदोदक ही पेय जिनका है रहा
चक्खा ही जिन्होंने नहीं स्वाद हलाहल का।
जिनके हृदय मे कभी आग सुलगी ही नहीं
ठेस लगते ही अहंकार नहीं छलका,
जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है
बैठते भरोसा किए वे ही आत्म बल का।
उसकी सहिष्णुता, क्षमा का है महत्त्व ही क्या
करना ही आता नहीं जिसको प्रहार है?
करुणा क्षमा को छोड़ और क्या उपाय उसे
ले न सकता जो बैरियो से प्रतिकार है?
सहता प्रहार कोई विवश, कदर्य जीव
जिसकी नसों मे नहीं पौरुष की धार है,
करुणा क्षमा है क्लीब जाति के कलंक घोर
क्षमता क्षमा की शूरवीरों का सिंगार है।
सटता कहीं भी एक तृण जो शरीर से तो
उठता कराल हो फणीश फुफकार है
सुनता गजेन्द्र की चिंघाड जो वनो मे कहीं
भरता गुहा में ही मृगेन्द्र हुहुंकार है
शूल चुभते हैं, छूते आग है जलाती, भू को—
लीलने को देखो गर्जमान पारावार है

वहां उसकी पकड़ नहीं हो सकी है। और वह भी तब जबकि नये कवि ने अपने विषय को बहुत सहज बनाकर प्रस्तुत करने की भी चेष्टा की है।

जो कविताएं बोलियों में लिखी जाती हैं, उनकी प्रेषणीयता कुछ सीमा तक अधिक होती है, परन्तु उपर्युक्त सीमा उसपर भी लागू होती है। कवि इस धरती का नया मालिक किसान को मानता है

बहु मन गलगल खेतवा के रनियां
अब भा है धरती क मालिक किसनवां।

×

कारे-कारे छाय रहे और के बदरवा,
संग-संग झूमि रही सँवरी बदरिया।
धानन के खेतवा निरावत किसनवां,
मीठे-मीठे गीत गावें चन्दामुख तिरिया।
बदरिन मइहां जैसे गोट लागि सोने कै
तैसी खेलिहारिन कू ओढ़े है चदरिया।
हौले-हौले रमकि रही है पुरवइया,
झुकि-झुकि झूमि रही रस की बदरिया।
झम-झम झमकत खेतवा के धनवां
जैसे उठें जमुना मां चंचल लहरिया।
मौरुस हरेड देखि मगन किसनवां
लहर-लहर करें धना कै चदरिया॥

—चन्द्रभूषण त्रिवेदी

काले बादलों के साथ सांवरी बदरिया घूम रही है, धानों के खेत में नराव हो रहा है। खेत के धान झमझम ऐसे झमक रहे हैं जैसे जमुना में चंचल लहरें उठती हैं।

किसान काव्य में आया था करुणा के जागने पर किन्तु 'युग' उसका साथी बन गया। दया का स्थान 'अधिकार' ने ले लिया। और फिर मानवीय शक्तियों के विकास ने सिर उठाया। मनुष्य का वैभव, उसका गुरुत्व सामने आया। उसमें जो भी सृजन-कर्ता है उसकी महिमा गाई गई। उसीमें किसान को भी स्थान मिला।

हल मनुष्य का आयुध बना, और इस नाते उसने सज्ञा पाई ब्रह्मा के सर्जनरत हाथ की।

बाधाएं पर्वत कहलाई, प्रतिक्रिया को अंधकार कहा गया, और नवयुग का पर्याय बना उगता सूर्य। ढलता सूर्य गत युग का प्रतीक बना। इस प्रकार प्रकृति के बहुत से रूप अपने गुण-साम्य के कारण एक विशेष चित्र देने लगे, जैसे आज सत-युग में उन्होंने

उन निर्जीव शून्य श्वासों में आज फूंक दूं लो नव जीवन
भर दूं उनमें तूफ़ानों का अगणित भूचालों का कम्पन !
जल - ज्वाला भूकम्प तुम्हारे ही अतुलित बल के परिचायक
आंधी औ' तूफ़ान तुम्हारे शक्तिमान श्वासों के वाहक
उठो - उठो ऐ सोते सागर नई सृष्टि को ले नव कम्पन
क्षीर सिंधु औ, बन्धु, तुम्हीं मे जिसमे स्थित जग-जग का कारण
जागो पहचानो अपने को मानव हो, समझो निज गौरव
अन्तस्तल की आंखें खोलो देखो निज अतुलित बल वैभव
अहंकार औ' स्वाधिकार—
दो पृथक् - पृथक् पथ हैं भारी।

—नरेन्द्र

मानव को अपना गौरव पहचानना है। वह तो एक सागर है, किंतु ऐसी नींद में डूबा है कि अपने को भूल गया है। क्रान्ति ही उसे जगा सकती है। क्रान्ति अब आ गई है। "विपथगा की पायल तलवारों की झंकार में झंकार रही है। वह अगड़ाई लेती है तो भूचाल आते हैं। पायल की पहली झमक से सृष्टि में कोलाहल छा जाता है। जिधर उसके पांव पड़ते हैं उधर भूगोल दब जाता है। जब दिशाओं में लपट लहराती है तब खलभल कर खगोल अकुला उठता है।" (रामधारीसिंह दिनकर)

दिनकर की क्रान्ति में उत्पात बहुत है। जैसे क्रान्ति न हुई शिव का ताण्डव हो गया। किंतु ये अतिशयोक्तियां प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं। सुलभ अभि-व्यञ्जना के कारण कवि सम्मेलनों में यह कविता अच्छा असर डालती रही है। यदि श्रद्धा को छोड़कर देखा जाए, तब भी इसमें जान है, क्योंकि इसमें एक स्फुरण की झलक अवश्य मिलती है। इस क्रांति के रूप में निर्माण कम है, विध्वंस अधिक है

मुझ विपथगामिनी को न ज्ञात किस रोज़ किधर से आऊंगी
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अंबर में आग लगाऊंगी
आंखें अपनी कर बन्द देश में जब भूकम्प मचाऊंगी
किसका टूटेगा शृंग, न जाने, किसका महल गिराऊंगी
निर्बंध क्रूर, निर्मोह सदा, मेरा कराल नर्तन, गर्जन,
झन - झन
अब की अगस्त्य की बारी है, पापों के पारावार ! सजग
बैठे विसूवियस के मुख पर, भोले, अबोध संसार ! सजग
रेशों का रक्त कृशानु हुआ ओ जुल्मों की तलवार ! सजग

सोना-सोना चप्पा-चप्पा मे चमक उठा
फूलों मे फलो का बसन्त छा गया हुलस
मिट्टी की सोयी-सोयी महक लगी उड़ने
सरिता की धारा मे जीवन छा गया सरस।
जौ-गेहूँ की स्वर्णिम बाली
लहलहा उठी
उतरे विहग के बल के दल
गायन करते,
ग्रामो के पल्लव, दूब,
किरण की शुचि पाती
हल की पूजा मे जुटे
एक पल मे अपने।
मानव की आत्मा का प्रकाश युग-युग से हल
जिसकी नोको मे सामवेद मुखरित ललाम;
जिसकी मुस्कानो मे पलती सभ्यता चरम,
उस हल को करता है पहाड़ झुक-झुक प्रणाम !

—देवनाथ पाण्डेय 'रसाल'

यह जो अन्न है, जिसकी उपनिषदो मे महिमा गाई गई है कि हे अन्न ! तू ब्रह्म है ! वह नये युग मे दूसरे शब्दो मे अपनी अभिव्यक्ति पा सका है। अब अन्न को ब्रह्म का रूप तो नही माना जाता, परन्तु उसके महत्व को पहले से कही अधिक ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया गया है। सारी सृष्टि के अदर एक शक्ति है। वह शक्ति मनुष्य मे भी है। मनुष्य की शक्ति उसके श्रम मे है। हल उसी श्रम का एक प्रतीक है। तो जब वह हल गेहू उगाता है तब दूब, पत्ते, किरन, हल की पूजा मे जुटते हैं। पत्ते आम के हैं। परपरा ने उन्हे मगलमय माना है। दूब भी मगल-चिह्न है, और रुदकर भी न मरनेवाली हरियाली है। किरन अधकार को हरती है। तो हल की पूजा करते हैं—मगल-परपरा, अक्षय जीवन और आलोक। इस हल से ही सभ्यता पलती है। इस हल को पहाड भी प्रणाम करता है क्योकि इसकी गरिमा उसकी विराट काया से कही अधिक बडी है। इस प्रकार हल के रूप मे मानव की आत्मा को ही उसकी सपूर्ण महत्ता याद दिलाकर सबके ऊपर बिठाने का प्रयत्न हो रहा है।

एक ही प्राकृतिक व्यापार के हमे भिन्न-भिन्न रूपेण वर्णन प्राप्त होते हैं :

दूर गगन मे टूट रहा है एक सितारा !
अधकार की छाती पर

को अकेला सुलझा तो नही सकता। 'मानव' ने सहज रूप से अच्छा चित्र खड़ा किया है.

"मैंने कहा, तू पढ़ती क्यो नही? मीरा चौंककर बोली, बाबू! हमे कौन पढ़ाएगा? मैं यह उत्तर सुनकर इस पुण्य देश की गर्हित वर्ण-व्यवस्था पर सोचने लगा। विशिष्टो ने ज्ञान पर अधिकार कर लिया है। दया क्षण को उमड़ी किंतु कगारे पाकर सीमित हो गई, वह नही सकी। वह बोली मैं बहुत देर की प्यासी हू। मैंने कहा सुराही सामने रखी है, गिलास से पानी पी ले। उसने कहा मैं तो जात की चमारी हू। मैंने कहा मैं भी चमार हू, चल पी ले पानी। वह पीती जाती थी और रोती हुई मुझे देखती जाती थी।" (विश्वम्भर 'मानव')

इस लड़की को कवि इनाम देता है, परतु बाद मे अफसोस करता है। इसी बीच लड़की अपनी मेहनत के पैसो के अलावा पैसे लेकर वापस करने लौट आती है।

क्रान्ति का सूत्रपात ऐसी ही तीखी मारो मे हुआ करता है। हिंदी मे क्रान्ति का रग भावावेश अधिक रहा। उसके पीछे तीखे चित्र कम उभरे। सब कुछ को जैसे सामान्य करके रखा गया

मैं आती हूँ बन नयी सृष्टि
ध्वंसो के प्रलय प्रहारो मे
मैं आती हूं पर कोटि चरण
युग के अनत हुकारो मे!

मैं आती हूँ ले नव भाषा
मैं आती ले नव अभिलाषा
नव शब्द छद लय ताल मीड
नव गमकों की गुञ्जारो मे।

चीरती रूढ़ियो की छाती
बिजली बन तमसा को डाती,
मैं आती हूँ कधे पर चढ
मृत्युञ्जय अभय कुमारो मे।

जड गतानुगतिका हिला-हिला
अधानुकरण पर बनी शिला
आती हूँ कसक कराह लिए
मैं मरती हूँ बेजारो मे।

कवि को देती वरदान नये
रवि को देती मैदान नये

जब चन्द्रमा,
पश्चिम की झील के किनारे
अपने हरिण खोल देता है,
कभी दक्षिणा और कभी उत्तरा
बनकर सुबह की हवाएँ
नील गायों की भांति खेतों मे
मुंह मारने लगती हैं,
और जब अडे सेकती हुई फूली-फूली
लाल बड़े फूलों-सी मुर्गियाँ, बांग सुनाने लगती हैं,
सोने का एक अश्वत्थ बीज
आकाश अपने ठिठुरे हाथों से गाड़ने आता है।

—नरेशकुमार मेहता

सुबह की हवाएं नील गायों की तरह खेतों मे मुह मारती हैं। मुर्गिया लाल बड़े फूलों-सी दिखाई देती हैं। आकाश के हाथ ठिठुर गए हैं। वह एक बीज गाड़ने आता है। बीज है अश्वत्थ बीज। यानी पीपल का। अश्वत्थ शब्द ही अपने साथ बहुत बड़ी परपरा लिए हुए है। वेद मे यक्ष जिसके मध्य में रहता है, और यातुधान उसको देखता है, वह अश्वत्थ बीज है। उपनिषद् में भी अश्वत्थ का उल्लेख है जो ऊर्ध्वमूल है। गीता का अश्वत्थ तो प्रसिद्ध ही है। यह अश्वत्थ निरंतर भारतीय चिंतन मे अपना स्थान रखता आया है। बोधि द्रुम होने के कारण इसने आदर बौद्धों में भी पाया है। परतु नरेशकुमार ने उसे अपनी दृष्टि से आलोक का बीज माना है। प्रकारातर से आलोक भी दर्शन के अश्वत्थ का ही एक पर्याय है। कवि ने इस पक्ष को नहीं लिया। उसकी अपनी कल्पना है और जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, यह नये चित्रों मे पुराने चित्रों का नवीनीकरण है।

नरेश के शब्द बहुत चुने हुए होते है और वे जो प्रभाव चाहते हैं, वह स्पष्ट सामने आ जाता है

दोपहर तक सोने की पत्तियाँ
फूलों और फलों से लदा
सोने का वीर्यवान
अश्वत्थ बन जाता है
उसकी छाया मे हमारी
घास गरम होती है
हमारे पशु उसके नीचे बैठकर
जुगाली करने लगते हैं

उसके आगे पथ अनत है, आदिहीन है। उसपर इतनी ही जगह है कि एक ही पाव रखा जा सके। वह पाव उसी विद्रोही का है, यानी 'हम' का है। वह कठोर चरण है जो आततायी को रौंद देगा। अतीत के काले पापो के अधकार मे यहा लाल आग का रथ भावी गौरव का चिह्न बनकर भागता हुआ दिखाई देता है।

परतु दार्शनिक का कहना है कि यह यात्रा तो योही चलती रहेगी। यह रुकेगी नही। सफर बराबर बना ही रहेगा। न जाने कितना समय बीत चुका है। इसकी गणना करना भी एक भ्रम ही है। यह तो अनादि अनत पथ है। इसका भेद असल मे कोई पहचानता नही है

आंधियों को चीरता इन्सान चलता ही रहेगा
हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।
एक युग क्या कल्प बीते, कल्प भी अब एक मत का,
है न कोई आदि, कोई अत है इसके सृजन का।
जग इसे निर्मित किसी की कल्पना से जानता है।
पर न कोई ठीक इसके भेद को पहचानता है।
स्वप्न के सौ - सौ भुवन रचता, मिटाता, मुस्कराता,
बादलों पर तैरता, नभ जगमगाता, भू हिलाता—
आंधियों को चीरकर इन्सान चलता ही रहेगा,
हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।

×

फूल - सा इसका हृदय तो शूल - सी इसकी जवानी,
आंसुओं की धार अविरल, है कहीं मीठी कहानी।
दीप - सा जलना इसे भाता, शलभ - सा झूमना भी,
है सुधा प्रिय तो इसे प्रिय है गरल को चूमना भी।

×

ले अटल विश्वास, साथी को जगाता, जगमगाता,
रौंदता कांटे कुसुम, शव यातनाओ के उठाता।
है उगलता आग, आहो से उगलता ही रहेगा
हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।

—शान्तिस्वरूप 'कुसुम'

परतु मनुष्य की यात्रा नहीं रुकेगी। उसका हृदय कोमल है और यौवन चुभनेवाला तथा साहसिक है। इसका काम है अपना स्नेह जलाकर जलते रहना, आलोक फैलाते रहना। यह अमृत का प्रेमी तो है ही, परतु विष भी पीता रहता है।

तुममे जागृति की विद्युत है,
उठ ए नव युग के अग्रदूत !
उठ ए स्वदेश-श्री के सुहाग !
नव युग आया, नव युवक जाग ! !

—रतनलाल साधु

कहा कालिदास की झनकारती मेखला पहने नितंबिनी युवतियो का मादक वसंत, कहा मादक वसत मे युवक और वह भी नवयुग का प्रतीक। प्राचीन कवि पुरुष अधिक था, स्त्री के क्षेत्र मे, नया है पौरुष का प्रतीक युग के क्षेत्र मे। यह एक बहुत बड़ा भेद है। प्रश्न आता है मनुष्य के स्थायी भाव का। युवती के प्रति 'रति' अब भी विद्यमान है। क्या युवक और युग के प्रति भी बनी रहेगी ? फिर प्रश्न है कि पुरुष दृष्टिकोण से स्त्री मे जो अनुरक्ति है, क्या स्त्री को भी वह उतनी ही आकर्षक लगती है ? क्या आज की बदली हुई नैतिक भावनाओ मे भी कालिदास की ऐसी उक्तियो का वही प्रभाव पड़ता है ? मैं समझता हू नही। आज उस स्थूलता से कवि-हृदय तुलनात्मक रूप मे सूक्ष्मता को अधिक महत्त्व देता है। युग कौन-सा युग है ! प्रत्येक युग नया है और प्रत्येक युग के प्रति मानव को अपनत्व की ममता होती रहेगी। जैसे उपनिषदो के चिंतन से समस्याओ के बने रहने से हम अभी तक प्रभावित होते हैं, मैं समझता हू कि युग के प्रति होनेवाली आस्था मे ये कविताए अपना स्थान रखेंगी। अवश्य ही इनका अस्तित्व मानव के सर्वांगीण विकास को पूरी तरह से ढक नही सकेगा।

युग के प्रति नरेन्द्र ने दूसरा चित्र दिया है। स्थायी भावो मे इन चित्रो को किस रस के अतर्गत माना जा सकता है, यह अभी तक प्रश्न ही है। कहता है :

आंज रही है आज अमावस्या नयनो मे काजल
निश्चय नया चांद कल उगता देखेगा जगती-तल !
शिव के मस्तक का आभूषण नये चांद का अंकुर
यह जितना शोभाशाली है, है उतना ही निष्ठुर।
एकदत के एकदत-सा राहु-ग्राह से निर्भय
उन्नति का रथ-चक्र बनेगा वक्र चन्द्र निस्संशय !
*नई ज्योति, नई शक्ति, नव-प्रति-नव आएगा नवयुग कल!*

—नरेन्द्र

अमावस्या का काजल पारना क्या अर्थ रखता है ? काले मे काला क्या दीखेगा। परतु इसमे हम यही तात्पर्य निकाल सकते हैं कि अमावस्या उतनी काली नही, जितना उसका अधेरा है, यह भी खीच-तान करके ही। नया चाद अवश्य ही नवयुग बन जाएगा। इन कविताओ को रस की दृष्टि से हमे वीर रस के अतर्गत रखना होगा, क्योकि आखिर

जल गए लाखों-करोड़ों मर गए मानव
दीखते चहुँ ओर हत-आहत, असंख्यों शव !
किंतु मरकर दे गए वे मुक्त जीवन-वर !
मुक्ति की परियाँ उतरतीं आज लपटों पर।

—देवनारायण शाक

मृत्यु का विरोध प्रारम्भ हो गया। लक्ष्य अब सत्ता से ऊपर उठ आया। मृत्यु जीवन को उठाने का माध्यम बन गई। कवि कहता है "गाओ ! आज तुम जय राग गाओ। समस्त विहाग को भैरवी में लीन होने दो। तुम्हारी हृदय वीणा क्यों निस्पंद पड़ी है। आज आत्मा का ज्वलंत सुहाग लुट न जाए। जागरण के गान सुनकर आज मृत भी फिर जाग उठे।" (सुधीन्द्र)

यों विद्रोह चलता रहता है। हृदय की वीणा में फिर झंकार भरी जाती है। सारे-सारे राग मिलाकर उद्बोधन के स्वर में लाकर डुबाए जाते हैं। आत्मा का सौंदर्य अक्षुण्ण रखना उसका ध्येय हो गया है।

तो क्या सचमुच सब कुछ सोया हुआ था ! नहीं ! जागरण और सुषुप्ति मन के विश्वास हैं। प्रतीक हैं। पुराने कवि को भी अपने ही सुख-दुःख में प्रकृति को देखने की आदत थी और यह कवि में आज तक वैसी ही चली आ रही है। यहां व्यक्ति मूलतः नहीं बदला है। उसको एक आवेश है

मुक्ति की मशाल जल,
लाल-लाल ज्वाल जल !
घोर अंधकार है
चल रही बयार है
वृष्टि दुर्निवार है
देश तिमिर ग्रस्त है
देश शैलेश अस्त है
ज्योति यह मिटे नहीं
प्राण यह बुझे नहीं
मुक्ति की मशाल जल !
आज द्वार - द्वार पर
नगर ग्राम बाट पर
आज घाट - घाट पर
दिव्य ज्योति यह जले

बाकी स्त्रियां—हर जाति की—उनको पूज्य नहीं दिखाई दी। अतः जाति-प्रथा का खण्डन, मानव की सामान्य स्वीकृति इस युग की एक और देन है। मनुष्य के कार्य-व्यापार में प्रकृति को बांधकर जब चित्रण किया जाता है, तब एक संपूर्ण चित्र-खण्ड आकर उपस्थित होता है।

प्रकृति को रूपक के तौर पर लेने में प्रायः कवि एक ही बात को दुहरा-दुहराकर लिखते हैं, क्योंकि समय का चरण तो अभी बहुत तेज़ी से बढ़ता हुआ लगकर भी वास्तव में उतना बढ़ा नहीं है जितने की आशा थी और कवि को बार-बार उसीका सामना करना पड़ता है

अंधकार अपार भू पर व्यापमान
अंधकार अपार छाया भासमान
अंधकार सशक्त केवल अंधकार
कहां जीवन का विपुल विस्तार
हास-विलास
छा गए बादल, छिपे तारे, ढंका आकाश
कहां शेष प्रकाश
व्यर्थ दृष्टि अदृष्ट जिससे सृष्टि साज
हो रही है घन-तिमिर में वृष्टि आज
नवल अंकुर, नवल जीवन, नव समाज
हो रहा निर्माण, नाश, विकास, ह्रास—
स—ह्रास !
आज का यह तिमिर करता शक्तिवान
समझने मानव लगा है शक्ति-ज्ञान
स्वत्व, जीवन, प्रगति, सामञ्जस्य, मान,
हो चला संघर्ष इससे जगत—
का अधिवास !

—त्रिलोचन शास्त्री

केवल अंधकार सशक्त है। अंधकार, अंकुर, प्रकाश, सब अब अपना महत्त्व उतना नहीं रखते, जितना पहले रखते थे। मानव का स्वत्व आगे आया है। इसका कारण है युग। युग यद्यपि एक प्रतीक है, परन्तु समस्या बनी हुई है। एक ओर इसकी प्रतिक्रिया हुई कि बार-बार वस्तु को दुहराने से काव्य नहीं बनता। दूसरी ओर हठ चला कि इसको चित्रित करना ही आवश्यक है। इस द्वन्द्व में किसीने भी लोक-जीवन की गहराइयों में अभी तक चरण नहीं रखा। व्यापक जीवन प्रतीकों के रक्षण में नहीं पनपता-

व्यक्ति तक सीमित रहे वह हर्ष क्या है
ध्येय जिसका स्वार्थ, वह संघर्ष क्या है
विश्व के अगणित प्रताड़ित मानवों को
दे न जो संतोष, वह उत्कर्ष क्या है,
सृष्टि का कल्याण गति की चेतना है
भूल अपना सुख जगत् का दुःख बटा तू।
सर्वग्रासी द्वेष बन मृदु प्यार जागे
क्रूरता का वार बन गल-हार जागे
नाश जागे सृजन का नव देवता बन
और खण्डित विश्व बन परिवार जागे
माँग भरने शून्य बलि की वेदिका की
बढ़ अकेला, शीश निर्भय हो कटा तू!
—पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

अपना दुःख क्यों सोचा जाए? लोक में क्या कम दुःख है? शायद बुद्ध ने भी ऐसा ही सोचा होगा, परन्तु तब वह विजयी हुआ था। उसने बलिदान दिया था अपने सुखों का। नये युग की समस्या नया बलिदान चाहती है। तभी कवि अब बलिदान की व्याख्या करता है

"अधरों की मुस्कान विजय का पुरस्कार नहीं है, पथ की सीमाओं का ज्ञान कर्म की पूर्ति नहीं है। स्वतन्त्रता दासता से तन की उन्मुक्ति नहीं, आत्मत्याग की शक्ति है। अब इतिहास की देन को वरदान बनाना है। रात बीत गई। विहान हो गया। जहां कल्पना चरम सत्य का तत्त्व पा लेती है, वहां मानवता देवत्व पाने को उत्सुक होती है।"
(विद्यावती मिश्र)

केवल कह जाना काफी नहीं है। हमारी हजारों सीमाएं हैं, परंतु उनका जान लेना ही क्या काफी हल है। तन दासता से छूट गया तो क्या हुआ, मन भी तो साथ ही बदलना चाहिए, क्योंकि उसके बिना दम ही चारों ओर डर जाएगा। जो अधिकार प्राप्त करने को बढ़ रहे हैं, उनका मानसिक स्तर अत्याचारियों से कहीं अधिक ऊंचा होना चाहिए। इसलिए आत्मत्याग की शक्ति होनी चाहिए। भारतीय चिंतन इस सत्य को सदा से ही स्वीकार करता आया है। पहले यह वैयक्तिक रूप में था, अब यह समष्टि रूप में है

जल रहा रक्त की ज्वाला में
कंकाल विषमता का विचार

हैं अगम उमड़ चली सहस्र हजार
दल सँवार
जा रही हैं आज
कहीं दूर, दूर, दूर!
एक मील की अटूट काजरी
लकीर
एक लक्ष्य जा रहीं अदम्य
राह चीर—

×

राजा है कोई न कोई है रंक
चींटी की दुनिया में चींटी निश्शंक!

×

रोकेगा कौन भला इनका दल?
एक-एक चींटी में एक-एक गज का बल। —वीरेश्वरसिंह

इन चीटियों में ऊंच-नीच नहीं। अपनी दुनिया में चीटियों को शंका भी नहीं है, चीटी में गज का बल होना जायसी की नागमती की आहों से कौओं के काले पड़ जाने के समान होते हुए भी, अच्छा प्रभाव छोड़ता है, क्योंकि दल शब्द में ही शक्ति निहित मानी जाती है।

यह सामूहिक रूप से जो प्रकाश और अंधकार का निरन्तर संघर्ष चल रहा है, वह आखिर क्यों? यह संघर्ष है या मनुष्य इसकी कल्पना करने लगा है! नहीं। सत् और असत् के रूप में यह धारणा तो पहले से ही विद्यमान है। जिसे आधुनिक काव्य का 'गतिरोध' कहते हैं, वह वस्तुतः एक विशेष शैली के बाहर न निकल पाने की असमर्थता ही है। कुछ ऐसा विचार हो गया है कि इस शैली-विशेष के बाहर निकलकर जो कुछ लिखा जाएगा वह काव्य नहीं हो सकेगा। रहस्यात्मक भावना तथा नए उपमानों का शोध इसी शैली के अंतर्गत हो सकता है, ऐसी मान्यता-सी बन गई है। किंतु शैली-विशेष ही काव्य की श्रेष्ठता का पर्याय नहीं हो सकती। यह सत्य है कि युग-विशेष के प्रभाव से निकलना सहज नहीं है। किंतु युग में भी व्यक्ति की अपनी विशेषता होती है। वह हमें अवश्य मिलती है! कवि का चिंतन मुखर हो उठता है

मिट्टी के तिमिर गर्भ में तुम
सोए बनकर जब ज्योति-बीज
तब हृदय विधाता का जाने
क्यों करुणा से उट्ठा पसीज?

ककालों की आहुति पडती
यह ऐसी भीषण विकराला !
अब तो रहा नहीं जाता है
अब तो सहा नहीं जाता है
क्यों न क्षार कर दें उसको
जिसने जग क्षार-क्षार कर डाला !
आग धधकती ही जाती है
पर इसपर लज्जा आती है
कैसे बचा अभी तक जिसने
इन मासूमों का घर जाला !

—शिवमगलसिंह 'सुमन'

अब वह सबसे ऊपर 'जन' को रखता है। वह सत्ता क्यों बनी रहे जोकि सुख मे काटे डाल रही है, आग लगा रही है। उसकी सत्ता बची हुई है यह कितनी लज्जा की बात है। उसे तो कभी का नष्ट कर देना चाहिए था। यह कितनी बडी कचोट है ? तभी कवि कहता है

"हे कवि ! सब कुछ नवीन देकर भी विधाता ने तुम्हें चिर ज्वलित व्यथा का रोग दिया है। फूलो से गात रचकर, भाग्य मे शूलो का भोग लिख दिया। जीवन का रस-पीयूष तुम्हे नित्य जग को दान करना है। तुम नीलकठ हो ! तुम्हे तो गरलपान ही लिखा था। तुम सतोष करो। शायद खारी लहरो पर तिरता आशा का तुम्हे कोक मिल जाए। हे कवि, रोओ ! शायद आसू के बीच धरणी को नया आलोक मिल जाए।" (दिनकर)

तो क्या कवि का हृदय सवेदनशील होने के कारण ही उसे सब कुछ औरो की तुलना मे अधिक व्याकुल करता है ! परन्तु यह सत्य है कि कवि सत्य की तह तक जाता है, क्योकि वह उसे सोचता-मात्र नही, उसका अनुभव भी करता है। बात मस्तिष्क से हृदय पर उतर आती है। उसे इसीलिए यह लगता है कि सभवत उसकी वेदना से ही मनुष्य के कल्याण को सहारा मिलेगा, वह कहता है

मैं अपनी चेष्टाओं को चील की झपट नहीं बनाऊँगा
कि जहाँ सडा-गला दीखा चोंच मार दी,
विचारों को भूखे भेडिये की जीभ नहीं बनाऊँगा कि जहाँ
दुधमुँह गोश्त दीखा दाँत मार दिए।
मन जो काई के गड्ढे मे धँस गया है
बुद्धि जो अगारे की तरह रुई के स्तरों मे सुलग रही है
सीना जो छटपटाहट हाहाकार से खौल रहा है

बड़ी बेबसी, खो गई राह है।
गुफा कालिमा की निगलती चराचर।
गरम सांस यह कांपती-सी बराबर!
गगन पर किरण मालिका तिलमिलाती—
घुटन बढ़ रही, मृत्यु का दाह है।
लगी आंख, सपने बहुत रंग दिखाते।
खुली आंख सपने स्वयं टूट जाते।
धुली कल्पना जब हुई दृष्टि धूमिल
बहे रंग, खाका हुआ स्याह है।
अंधेरा बहुत, ज्योति की चाह है।

—कुमारी रमासिंह

प्रकृति का भय भी मनुष्य को बहुत सताता रहा है और अब भी उसका आतंक मौजूद है। ज्योति की चाहना आज बहुत बड़ी तृष्णा है। मध्ययुग का व्यक्ति यह नहीं मानता था कि वह प्रकृति के सबंध में अंधकार में डूबा हुआ है। प्रकृति को वह परमात्मा की महिमा के रूप में मान चुका था। उसकी अद्भुत शक्ति भी उसीके चमत्कार के रूप में मानी जाती थी। आज का मनुष्य अपने को अंधेरे में मानता है। उसके दीप इतने सशक्त नहीं हैं कि वे अंधेरे को पी जाएं। यह मनुष्य की विवशता है। वह केवल कल्पना में सुख पाता है, यथार्थ बहुत कठोर है।

मनुष्य का स्वप्न बहुत सशक्त है। वह स्वप्न में रहता है तो उसे "अपने चलने के साथ रवि, शशि किरणों के पंख सजाए चलते नजर आते हैं। पृथ्वी, झरने, सरिताएं, तरु-लतिकाएं, कानन और नया जीवन, सब उसे अपने साथ चलते हुए दिखाई देते हैं।" (उदयशंकर भट्ट) इस स्वप्न को हम मनुष्य की बलवती आशा कहना ही अधिक उचित समझते हैं, क्योंकि उसीसे उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है।

हो सकता है कि आगे बढ़ने का अर्थ कल बदल जाए, किंतु आज उसका यह दृढ़-विश्वास-सा हो गया है कि वह विकास कर रहा है। कवि हृदय इसे देखता है और व्यक्तिगत जीवन में उसके मन में संशय भी हो उठता है

सुनहले सपन की रजत घाटियों से
विसुध तन, विसुध मन चला आ रहा हूं,
अमृत दान करने चला पथ को मैं
मगर पथ ही से छला जा रहा हूं।

क्या मनुष्य चल रहा है, या राह ही उसे छलती चली जा रही है? दार्शनिक इस प्रश्न को सुनकर गूढ़ चिंतन में डूब जाता है। वैज्ञानिक अपने सीमित जीवन को ही

यह कड़ी पड रही है कि क्षितिज के रक्त सने
वे कड़े दांत थककर ढीले पडते जाते
धरती का लोहू भी विष बनता जाता है
तन सभी दिशाओं के नीले पडते जाते।

×

वह रो-रोकर थक गई कि आंसू सूख गए
अब वह निज चरणो मे आकाश झुकाएगी
वह खप्पर भरकर शंकर के वक्षस्थल पर
फिर झूमेगी, नव नूतन विश्व बसाएगी।

वह आज मुक्ति के गाएगी फिर गीत नये
परवशता का क्रन्दन इसको स्वीकार नहीं।

—श्रीहरि

ईश्वर को शोषकों ने अपना साधन बना रखा है, इसलिए कवि पृथ्वी और आकाश का झगड़ा दिखाता है। कालिदास ने भी राजा की तुलना सूर्य से की थी। नया कवि उसी कल्पना को आगे बढ़ाता है और नये तथ्य सामने रखता है। परंतु केवल गीतों से होता भी क्या है?

"गीत दुःख कम नहीं कर पाते। लिखे भला कोई क्या-क्या किस-किस पर! रूढ़िग्रस्त जड़ हुए विश्व में अपनों के अपनों से नाते!" (शांति)

यों कर्म अलग हो उठता है, उद्बोधन अलग। यह इसलिए कि अनुभूति केवल कहने-सुनने से तो अपनी तृप्ति नहीं कर पाती।

केवल रोने से काम नहीं चलता।

मुक्ति का गीत गाने की अभिलाषा इसीलिए है कि परवशता का क्रन्दन कवि स्वीकार नहीं करना चाहता।

प्रकारांतर से, भिन्न-भिन्न कोणों से समस्या पर कवि लिखते हैं और उसे अधिक से अधिक जनता के पास ले जाने की चेष्टा करते हैं।

जागरण एक ज्वाला है। ज्वाला उस शक्ति का पर्याय है, जिसमें विध्वंस की शक्ति भी है और प्रकाश भी है

ज्वाला है यह ज्वाला!
नन्हें-नन्हें दीन झोंपड़ों में
जो सुलगी धीरे-धीरे
लाल-लाल नटखट लपटों की
माला है यह माला!

उठता है और उसकी सांस-सांस कविता बन जाती है। जब वसन्त तितली के पंख लगाकर उड़ता है और तरु-तरु पर कुसुम पराग बिखराता है, तब उसे धूलि की दुलहिन का सुहाग 'अक्षर' से भी अधिक अक्षर जान पड़ता है। कल-कल ध्वनि करती नदियों के पास जाकर उसके प्राणों की पायल स्वयं छनक उठती है।" (नीरज)

कैसा प्यार है। ओ धरती! तेरा पुत्र है यह मनुष्य! तुझे कितना प्यार करता है! और भोग्ये वसुधरे! यह दुर्दम पौरुष तुझपर कितना न्योछावर है! किंतु जीवन की सार्थकता क्या है! क्यों है यह जीवन? कवि करुण स्वर से पूछता है

मणि शय्या पर बालाओं का प्यार
या लहरों का विष-मन्थन कर स्वीकार
क्या पाएँगे प्रभु, हम क्या पाएँगे ?

×

जिस दिन यह सारा आकुल प्रणयोन्माद,
रह जाएगा केवल पिछला अभ्यास,
जिस दिन सांसों में सांसें होंगी लीन,
पर मुर्दा होगी मन की सारी प्यास,
उस दिन होगा फिर यह सिद्ध
वैयक्तिक सीमा में बद्ध—
जितना झूठा है यह दुःख
उतना ही झूठा है सुख
सुख-दुख इन दोनों के पार
क्या पाएँगे प्रभु, हम क्या पाएँगे ?

—धर्मवीर भारती

क्या होगा प्रभु! जीवन का सार क्या है! वैयक्तिक सीमा में बद्ध सुख और दुःख दोनों झूठे हैं। इनके पार क्या है?

समस्त प्रकृति कवि को कोई प्रेरणा नहीं देती। अब तक का प्रणयोन्माद एक पिछला अभ्यास बनकर रह जाएगा!

जीवन का रहस्य प्रकृति के अंतर्गत ही आता है यहां, उसे हम दर्शन के अंतर्गत नहीं ले सकते। क्योंकि यहां मनुष्य के जीवन का प्रश्न नहीं, उसका सृष्टि से तादात्म्य प्रमुख है। वह देखना है

"मदिरा-सी मादक रात, गगन में चांदनी की झीनी उज्ज्वल साड़ी पहने मुस्करा रही है। उसके आंचल से लहराती-इठलाती मानो मद पवन तन को छूकर मन में सिहरन-भर रही है। भ्रमरों के शिशु उपवन में अठखेली कर रहे हैं। तितली की राजकुमारी

मैं अचेतन और उपचेतन सभी पर
वार करता आ रहा हूँ
दर्शकितवादी सभ्यता को
ध्वस्त बिलकुल कर रहा हूँ।
मैं हिमालय को रगडकर
रास्ते की धूलि का कण कर रहा हूँ
स्वर्ग मे बैठे हुए छवि देवता को
मानवो के साथ जीने
और मरने के लिए ललकारता हूँ
सामने जाकर उसे धिक्कारता हूँ
और कहता हूँ कि आ,
इन हड्डियो से तोल अपना काव्य कायर!
देवियों के रूप के आराधको को—
जो बँधे हैं प्रेम के स्वर-तार से ही—
लोह की कटु शृखला से बाँधकर मैं खींचता हूँ
और जन-सघर्ष मे लाकर उन्हे,
फौजी बनाकर छोड़ता हूं।

—केदारनाथ अग्रवाल

यह 'मैं' एक अतिशयोक्ति बन गया। यह 'मैं' 'हम' नही बना, क्योकि इसमे समय से पहले ही एक 'अह' का उदय हो गया। वास्तव मे यह कवि मे एक हीनत्व की भावना हुई, क्योकि उसे दिन-प्रतिदिन राजनीतिक कार्यकर्ताओ से सामना पडता था। वे कर्मठ बनते थे और कवि जो कि उन्हे राह दिखाता था, अब वे कवि को राह दिखाने लगे और तब कवि को अपनी ईमानदारी और वीरता की व्याख्या देनी पडी कि—मैं भी लड रहा हू, तुम सिर्फ मेरे मोर्चे को देखो। नतीजा यह हुआ कि यथार्थ ऊहा बन गया और तनिक ही कोण के बदल जाने से बात भी बदल गई। परतु फिर भी राजनीतिज्ञो पर इसका विशेष प्रभाव नही पडा। हिंदी कवियो मे यह थोडा-सा दोष अवश्य रहा कि, राजनीति की बजाय वे राजनीतिज्ञो से दब गए, यद्यपि राजनीतिज्ञो का चेतन स्तर कवि की तुलना मे निम्न स्तर का होता है। परतु सर्वत्र ऐसा नहीं हुआ

आज न जिसने कलम गडाई
अनुचित अत्याचारो मे
उस कायर कवि को गिनती है
नवयुग के हत्यारो मे।

जलो नहीं प्रदीप- ज्योति पुंज-पुंज आ गए
निकुंज कुंज से निकल शलभ प्रदीप छा गए।
ठहर न एक पल सके प्रकाश में समा गए,

×

ये चाहते कि पोछ लें सुपक्ष से प्रकाश को।
कि चाट लें प्रकाश के समस्त चन्द्रहास को
इसीलिए जले स्वयं प्रदीप भी जला गए।

—आरसीप्रसादसिंह

जिनमें ज्योति की चाह है, वे ज्योति में लीन हो जाते हैं।

"पृथ्वी और आकाश मिले हुए दीखते हैं, पर क्षितिज का अंत नहीं मिलता। ऊपर मत देखो। किस्मत की आड़ लेकर असफलताओं से मत डरो। मैं प्रकृति-दूत हूं, तुम शक्ति-दूत हो।" (विपिनचंद्र चतुर्वेदी)

"झंझावात आ रहा है।

"धरा के वक्ष पर उभरे हुए पहाड़ उरोज हैं। वह झंझावात आकर उन्हें मसलता है, कड़कड़ाता है। वृक्ष रोम हैं। इन्हें वह झकझोरकर चीर जाता है। झरने, नदियां शिरा-उपशिराएं हैं। उनमें वह लहू की तप्त लपटों-सा प्रखर उद्दण्ड ज्वाला को विदिश-सा सनसनाता है।" (भारतभूषण अग्रवाल)

पृथ्वी के वक्ष और तूफान का यह वर्णन कितनी व्याकुल वासना से भरा हुआ है। कालिदास ने भी पृथ्वी के उरोज देखे थे। किसी भी रूप में हो, अंत में मानव अपने जीवन-संपर्कों से ही उपमाएं देता है, क्योंकि जिसे वह जानता है, वही उसकी रागवृत्ति में बसे रहते हैं।

मनुष्य इस तूफान से डरता नहीं। कहता है—"आओ! इन चरणों से हे प्रलय के समीर! टकरा जाओ! हे आकाश! तुम शत-शत भानु हाथों में लेकर गरजो, लाख-लाख किरणों के तीक्ष्ण तीर छोड़ो। परंतु मैं अभय हूं। मुझमें अखिल तत्त्व बंदी हैं। मैं एक आकार व्यष्टि हूं जिसमें समष्टि प्रतिनादित हो रही है।" (केदारनाथ मिश्र 'प्रभात')

"गिरि-शिखर मनुष्य का ध्येय है।" (बच्चन)

इस संघर्ष में प्यार ही उसके जीवन का संबल बनकर निकलता है। वह कहता है

घायल उर को देख तड़पता किसने तीर संधाना
किसने पनघट के पंछी पर चाहा जाल बिछाना
आओ मेरी बांहों में तन-मन की आग बुझा लें
मन के बैरी को समझाने बिगड़ी बात बना लें,

आता है तो आने दो घन के अजगर को फन फैलाए,
देखें रक्त-भरे प्याले को उन अधरों से कौन लगाए।
जहरीली उच्छ्वास गरल की जो आगे बढ़कर पीता है,
नई जिंदगी की ताजी घूँट पी-पीकर जो जीता है।
लाखों कदमों से चलती है उसका फल अब सड़ा पड़ा है,
आज लहू से भीगा झण्डा सब को शान बनेगा साथी।

—मृणाल

इसका कारण है जनता में भाषा का अलगाव। हिंदी प्रांत में अनेक बोलियां हैं। यही कविता यदि किसी बोली में होती तो लोक में उतर गई होती। हिंदी के कवि को इसकी बड़ी भारी हानि रही है कि जिस साहित्यिक भाषा में वह लिखता है, वह व्यापक तो बहुत है, परन्तु कहीं भी प्रादेशिक नहीं है। शिक्षा ही इस व्यवधान को दूर कर सकती है। साहित्य की भाषा शिक्षित वर्ग की भाषा है।

शिक्षितों पर इस काव्य ने प्रभाव डाला है, यद्यपि इसकी एकांगिता तब ही तक मोह सकी जब तक कि समस्या अपने बाह्य रूप में प्रखर और ज्वलंत रह सकी। उसका प्रभाव आज भी है अवश्य

जय जय जय जनधारा
जय जन-जीवन-धारा!

प्रथम कल्प के अरुणध्वज-शृंगों से जो गति फूटी,
उस सरिता की धारा शत कल्पों में कभी न टूटी।
महाकाल के जटा-जूट में खोई यह जब गंगा,
खोई कभी युगों के गिरि गह्वर में चपल तरंगा।
मौन मरण ने बार-बार जीवन की गति को घेरा,
प्राण तरंगित ज्योति शिखा को डँसने लगा अँधेरा,
नव विकास के व्रती, प्रगति की गंगा के अभिमानी,
जन जीवन के अमर साधकों ने पर हार न मानी!
खुला पुण्य घन सलिला का उत्स गिरि-शिखर तल से,
ज्योतिर्मय स्वर जल तरंग के उठे धरा अचल से।
जिसे भगीरथ ने विवेक के धरती बीच उतारा,
स्वप्नों की दीपों से जिसका गतिमय रूप सँवारा!
जय जन गंगा धारा—

—शम्भूनाथसिंह

परन्तु उतना नहीं जितना तब था। इसका कारण यही है कि जहां सैद्धांतिक

स्वागत आश्विन मास !
भरो जन-जन में जीवन।
बाढ़-पीड़िता वसुंधरा का
लौटे यौवन।
मिटें मनुज - संस्कृति विकास
पथ के ये दलदल
करे क्रान्ति - रवि-किरण
जगत का पथ आलोकित।
शोषण की धारा न बहे फिर।
मरनेवाली पूंजीवादी संस्कृति का
शोषक समाज का
श्राद्ध करें हम पितृ पक्ष में।
खिले द्वितीया इंदुकला - सी
बढ़े नई संस्कृति दिन - प्रतिदिन।
और विजयदशमी फिर आए
विजयदिवस जनता का पावन।
नगर-नगर में ग्राम-ग्राम में
हो विजयोत्सव
निर्धनता रूपी रावण को
फूंकें, आग जला समता की।

—सूर्यदत्त दुबे

पथ स्पष्ट होता आ रहा है। तीन बातें हैं—अपने-आप में प्रकृति, प्रकृति और मनुष्य की वेदना, प्रकृति और मनुष्य का तादात्म्य। तीनों का विवेचन करने पर हमें नए रूप मिलते हैं। कवि सब एकमत नहीं हैं, न होंगे, फिर भी हमें दीखता स्पष्ट ही है कि जीवन की आस्था आज प्रकृति से उपदेश लेती है, उससे लड़ती है, उसे प्यार करती है, सब कुछ इसलिए कि जो है सो अपना बनकर रहे, यह प्रकृति निरंतर सुंदर बनकर रहे और मानव को सुख देती रहे। बस, इतना ही उसका उद्देश्य है।

इसीलिए कवि सुन्दरता को तभी सुन्दर मान लेने को तत्पर है जब वह उसके मन की सुन्दरता की कल्पना से मेल खा जाए, अन्यथा नहीं। तभी वह कहता है कि जीवन का संघर्ष आज प्रमुख है -

जीवन के कुसुमित उपवन में
गुञ्जित मधुमय कण-कण होगा

आह्वान भी है, उससे दूर जाना भी है, परंतु जन-जीवन का वस्तुपरक चित्र नहीं है। आत्मपरक संयोजन ही कविता का प्राण नहीं बन सकता, उससे एकरसता आ जाती है।

'आत्मकला कविता के प्रति' कवि कहता है

"हे सुरसरि! जन-सिंधु की ओर चलो। तुम व्यापक लोक का आधार स्वीकार करो।" (जानकीवल्लभ शास्त्री)

चलो! करो! मरो!

चले! किया! मरे! यह नहीं हुआ।

कहने और करने में भेद आ गया।

किंतु जहां भावभूमि को तैयार करने का प्रश्न था वह हिंदी में ठीक-ठाक हुआ। और अच्छा हुआ, यद्यपि उसका श्रेय किसी एक कवि को नहीं दिया जा सकता। इसका कारण था कि कवि अपने को सैनिक समझते थे, नायकत्व राजनीतिज्ञों के हाथ में था।

अंधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो
सर्वनाश क्या नवल सृष्टि का सपना कभी मिटा पाया है?
क्या न प्रलय के मरुप्रदेश में जीवन-उत्स उमड़ आया है?
क्या न निशा के शून्य अंक में ही जागी ऊषा सुकुमारी?
अश्रु स्रोत की रेखाओं पर मेरा यह मधुहास जयी हो!
अंधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो!
पतझड़ पर छा जाने वाला मेरा यह मधुमास जयी हो,
अवसादों पर हँसनेवाला मेरा यह उल्लास जयी हो
अंधकार को पीनेवाला मेरा यह निष्कम्प निराकुल
अंधकार को पीनेवाला मेरा प्रखर प्रकाश जयी हो!
अंधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो।

—जिनेन्द्रकुमार

सब कुछ जयी हो, परंतु जयी हो—राजनीतिज्ञ ही, क्योंकि कवि लोककथाओं में नहीं उतरा। इसीलिए आगे चलकर एक ओर कुत्सित समाजशास्त्र की प्रति हुई, दूसरी ओर व्यक्तिपरक प्रयोग प्रारंभ हो गए और जहां काव्य को लोक में उतरना था वहां वह असफल हो गया।

सिद्धांत अपने-आप में अपूर्ण सत्य होता है। वह जन-जीवन के यथार्थ से जब तक मेल नहीं खाता, तब तक वह अपना प्रसार नहीं कर पाता। कवि झुंझला उठता है

"कैसे रहूं यहां? निष्ठुरता सस्ती होती जा रही है। यह अंधेर नगरी है, मूर्ख शासक है। उनके भाव जड़वत् हैं।" (दीनानाथ व्यास)

# समाज और युग-सीमा

जिस समाज में हम रहते हैं उनमें अनेक प्रकार के बन्धन हैं। वे शरीर और मन के विकास में बाधा डालते हैं। इसलिए उनका विरोध करना आवश्यक है, क्योंकि कवि तो पूर्णता चाहता है। उस पूर्णता का विरोध करने से ही विपदाएं सामने आती हैं।

"तूफान साहस को चुनौती दे रहा है। मेरा स्वप्न है कि मैं उस पार जाऊंगा, और सिंधु कह रहा है कि मैं तरणी को डुबाऊंगा, और विश्वास कह रहा है कि मैं लहरों को हराऊंगा। क्या जवानी मौत से भयभीत होती है?"

(हरिकृष्ण प्रेमी)

इस विद्रोह का सहारा यौवन है, क्योंकि यौवन में स्फूर्ति होती है। यौवन में व्यक्ति सुन्दर होता है। सुन्दरता शक्ति है और शक्ति का स्फुरण बिलकुल ही स्वाभाविक है। बलिदान धरती के लिए है। वह कहता है, "पहले मिट्टी को देह-दान देता चल। तू एक अमर जागरण है, जगनेवालों को स्नेह-दान देता चल।" (देवेन्द्रनारायण वर्मा)

माटी को दान देना महत्कर्म है, क्योंकि माटी ही अपने प्रकारान्तर से जीवित है और चेतना का रूप भी उसीसे विकसित होता है। इसके लिए नये विश्वास की आवश्यकता है।

"विश्वास सपने से बड़ा है। अमर्त्य सुखों से बढ़कर है। विश्वास मनुष्य के शाश्वत पौरुष की अविरलता का स्वर है। वह सदियों से जागी मानवता की अमरवाणी का वर है।" (अचल)

पौरुष को जिस प्रकार नया कवि जगाता है, वह पुराने कवियों से भिन्न है। पहले पौरुष इस प्रकार आत्मपरक रूप में नहीं जगाया जाता था। उस समय उसे किसी एक व्यक्ति विशेष में निहित कर दिया जाता था। यह आत्मपरकता वस्तु को व्यापक बनाने के लिए काम में लाई गई है। कवि कहता है

"मैंने नवीन विचारों के बीज बोए हैं। धरती पर नया इंसान उगा आता है।"

(श्रीहरि)

उसे किसी भी प्रकार का वैषम्य पसन्द नहीं है। समाज में कितने ही प्रकार के व्यवधान हैं। छूतछात, दरिद्र, धनी, वह सबको तोड़ देना चाहता है:

पुलकित तन हो
मुकुलित मन हो
हरित-भरित-पूरित जीवन हो !

×

सतत अभ्युदित
जन-जन प्रमुदित
सर्व सुलद सुन्दर समाज हो !
अधर-अधर पर
हास मनहर
सिर-सिर पर अमिताभ ताज हो !

×

मिटे दनुजदल
टूटे अमगल
जल, थल, नभ सर्वत्र शांति हो !

—नागार्जुन

प्रार्थना का-सा गीत भी गाया। अपने स्वप्न को उसने साकार भी देखा। ऐसा हो जाए ! कैसे ! यह तो हुई मार्ग की बात, परंतु कल्पना की सुन्दरता ध्येय का बिंब बनी और पाथेय बना विश्वास।

"शेषनाग ने केंचुल छोड़ी, धरती ने काया पलटी। नाश और निर्माण के दो पग रखकर निर्मति-नटी नाच रही है। सदियों के विषैले अगारे बुझते-बुझते भड़केंगे। बहुत शोर होगा, किंतु कैदी की कठिन हथकड़िया टूटकर ही रहेंगी। देश-देश के जन जागेंगे। वर्ग-स्वार्थ की तलवारें चमकेंगी। विगत युगों के विकृत प्रभावों के विस्फोटक फूटेंगे।"
(नरेन्द्र)

भविष्य में आशा को प्रमुखता दी गई। इसका यही कारण था कि कवि का यथार्थ, लोक के यथार्थ से आगे रहा। दिनकर ने युग-समस्या को 'कुरुक्षेत्र' के पात्रों में रखा। चित्र उभरे। किंतु वह एक बौद्धिक चीज बनकर रही। बौद्धिक-मात्र ही तो व्यापक कविता नहीं है। यदि दिनकर का सत्य और व्यापक बनता, तो सभवत वह भी 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' जैसा काव्य बन जाता, जो अपनी बाह्य वस्तु-परकता के कारण 'कामायनी' जैसे नहीं बन सके, या जिनकी वस्तुपरकता के अभाव में कामायनी उन-सी न बन सकी। नया कवि चिल्लाता रहा -

विद्रोह करो, विद्रोह करो
आओ वीरोचित कर्म करो

भीतर और बाहर की आग एकाकार हो गई है, तभी तो विद्रोह का पूर्ण स्फुरण दिखाई देता है।

"जीवन की हार—सहने की सीमा भी ठोकर खाते-खाते आज अंगार बन गई है, वह अंगार किसी दिन भूमण्डल मे आग लगा देगा। गली-गली मे मर्यादाएं तूफान उठाएगी, जिनके आवर्तों मे लोहे की बुनियादें तिनकों-सी उड जाएगी। लक्ष-लक्ष तलवारें कण-कण मे उग आएगी। अपमानो की घोर घटाए भीषण वज्र गिराएगी, तब भू से नभ तक बोधि-वृक्ष की हरी टहनिया लहराएगी।" (नीलकण्ठ तिवारी)

सहन करने की भी एक सीमा होती है। कब तक आखिर अपमान सहा जाए। लेकिन शोषण से कभी तो मनुष्य ऊबेगा ही और वह प्रतिशोध अवश्य लेगा। कायर अवश्य अपने लिए डरते हैं

जिनकी भुजाओ की शिराएँ फडकीं ही नहीं
जिनके लहू मे नहीं वेग है अनल का।
शिव का पदोदक ही पेय जिनका है रहा
चक्खा ही जिन्होने नहीं स्वाद हलाहल का।
जिनके हृदय मे कभी आग सुलगी ही नहीं
ठेस लगते ही अहकार नहीं छलका,
जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है
बैठते भरोसा किए वे ही आत्म बल का।
उसकी सहिष्णुता, क्षमा का है महत्त्व ही क्या
करना ही आता नहीं जिसको प्रहार है?
करुणा क्षमा को छोड़ और क्या उपाय उसे
ले न सकता जो बैरियो से प्रतिकार है?
सहता प्रहार कोई विवश, कदर्य जीव
जिसकी नसों मे नहीं पौरुष की धार है,
करुणा क्षमा है क्लीव जाति के कलक घोर
क्षमता क्षमा की शूरवीरों का सिगार है।
सहता कहीं भी एक तृण जो शरीर से तो
उठता कराल हो फणीश फुफकार है
सुनता गजेन्द्र की चिंघाड जो वनो मे कहीं
भरता गुहा में ही मृगेन्द्र हुहुकार है
शूल चुभते हैं, छूते आग है जलाती, भू को—
लीलने को देखो गर्जमान पारावार है

उन निर्जीव शून्य श्वासों में आज फूँक दूँ लो नव जीवन
भर दूँ उनमें तूफ़ानों का अगणित भूचालों का कम्पन !
जल-ज्वाला भूकम्प तुम्हारे ही अतुलित बल के परिचायक
आँधी औ' तूफ़ान तुम्हारे शक्तिमान श्वासों के वाहक
उठो - उठो ऐ सोते सागर नई सृष्टि को ले नव कम्पन
क्षीर सिंधु भी, बन्धु, तुम्हीं में जिसमें स्थिति जग-जग का कारण
जागो पहचानो अपने को मानव हो, समझो निज गौरव
अन्तस्तल की आँखें खोलो देखो निज अतुलित बल वैभव
अहंकार औ' स्वाधिकार—
दो पृथक्-पृथक् पथ हैं बड़ी।

—नरेन्द्र

मानव को अपना गौरव पहचानना है। वह तो एक सागर है, किंतु ऐसी नींद में डूबा है कि अपने को भूल गया है। क्रान्ति ही उसे जगा सकती है। क्रान्ति अब आ गई है। "विपथगा की पायल तलवारों की झंकार में झंकार रही है। वह अंगड़ाई लेती है तो भूचाल आते हैं। पायल की पहली झलक में सृष्टि में कोलाहल छा जाता है। जिधर उसके पाँव पड़ते हैं उधर भूगोल दब जाता है। जब दिशाओं में लपट लहराती है तब खलभल कर खगोल अकुला उठता है।" (रामधारीसिंह दिनकर)

दिनकर की क्रान्ति में उत्पात बहुत है। जैसे क्रान्ति न हुई शिव का ताण्डव हो गया। किंतु ये अतिशयोक्तियाँ प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं। सुलभ अभिव्यञ्जना के कारण कवि सम्मेलनों में यह कविता अच्छा असर डालती रही है। यदि अहं को छोड़कर देखा जाए, तब भी इसमें जान है, क्योंकि इसमें एक स्फुरण की झलक अवश्य मिलती है। इस क्रांति के रूप में निर्माण कम है, विध्वंस अधिक है

मुझ विपथगामिनी को न ज्ञात किस रोज़ किधर से आऊँगी
मिट्टी में किस दिन ज्वाल कूट अम्बर से आग लगाऊँगी
आँखें अपनी कर बन्द देश में जब भूकम्प मचाऊँगी
किसका टूटेगा शृंग, न जाने, किसका महल गिराऊँगी
निर्बंध क्रूर, निर्मोह सदा, मेरा कराल नर्तन, गर्जन,
झन - झन
अब की अगस्त्य की बारी है, पापों के पारावार ! सजग
बैठे विसूवियस के मुख पर, भोले, अबोध संसार ! सजग
रेशों का रक्त कृशानु हुआ ओ जुल्मों की तलवार ! सजग

# आत्म और लोकसंवहन

राष्ट्रीयता जब उग्र नहीं होती तब प्रेम मानव-मात्र से होता है।

"पच्छिम में काले और सफेद फूल हैं और पूरब में पीले और लाल। उत्तर में नीले रंग के और हमारे यहां चम्पई सांवले। दुनिया में हरियाली कहां-कहां नहीं है, जहां भी आसमान जरा बादलों में पोंछे जाते हों! आज गुलदस्तों में रंग-रंग के फूल सजे हुए हैं। आसमान इन दुनियों का आईना है।" (शमशेर बहादुरसिंह)

नया कवि देश के लिए पृथ्वी के प्रेम को भी स्वीकार करता है। किंतु अपना देश जब परतन्त्र है तो निश्चय ही ध्यान उसीकी ओर केन्द्रित हो जाता है। उसकी व्यथा भी सिमट आती है।

"ओ मन, तू हंसता है कि रोता है? तू वीणा के मन की हूक नहीं कह पाता, बस खिचे-खिचाए तार छेड़ना चलता है।" (वीरेन्द्र मिश्र)

वह देश के लिए नया स्फुरण चाहता है। देश पिसा हुआ है। विदेशियों का दमन-चक्र उसपर चल रहा है। उसे वह कैसे देखे बिना रह सकता है? और विशेषतया उस समय जबकि सब संघर्ष में लगे हुए हों।

"प्राची में नव जीवन का कवि, रवि निकल रहा है। वह तम के पत्रों पर ज्योति के अक्षर लिख रहा है। किरणों के स्वर से महान मानव अभिनंदित है। अपने नींद-भरे नयन खोल रहा है। कोटि-कोटि कण्ठ एकसाथ मन्त्र बोल उठे—जय महान एशिया! जय महान एशिया!" (शम्भूनाथसिंह)

सारा महाद्वीप ही ललकार रहा है। भारत को जो आज पुनरुत्थान के रूप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मैथिलीशरण गुप्त तक राष्ट्रीय बनी रही थी, वह अब देश की सीमा में ही बद्ध नहीं रहना चाहती। अब वह पुरातनता को लौटाना नहीं चाहता। वह देखता है कि अन्यत्र भी दासता के विरुद्ध संघर्ष हो रहा है।

देश तो मां है। उसका बुरा हाल कैसे देखा जा सकता है। पहले तो स्वदेशी राजा के लिए मांग थी, अब ऐसा नहीं है। अब तो देश की जनता का भी प्रश्न है:

भांज लो पलकें, उघारो नेत्र
अलसाए नयन रणबांकुरे

को अकेला सुलझा तो नहीं सकता। 'मानव' ने सहज रूप से अच्छा चित्र खड़ा किया है.

"मैंने कहा, तू पढ़ती क्यों नहीं ? मीरा चौंककर बोली, बाबू ! हमें कौन पढ़ाएगा ? मैं यह उत्तर सुनकर इस पुण्य देश की गर्हित वर्ण-व्यवस्था पर सोचने लगा। विशिष्टों ने ज्ञान पर अधिकार कर लिया है। दया क्षण को उमड़ी किंतु कगारे पाकर सीमित हो गई, वह नहीं सकी। वह बोली मैं बहुत देर की प्यासी हू। मैंने कहा सुराही सामने रखी है, गिलास से पानी पी ले। उसने कहा मैं तो जात की चमारी हू। मैंने कहा मैं भी चमार हू, चल पी ले पानी। वह पीती जाती थी और रोती हुई मुझे देखती जाती थी।" (विश्वम्भर 'मानव')

इस लड़की को कवि इनाम देता है, परंतु बाद में अफसोस करता है। इसी बीच लड़की अपनी मेहनत के पैसों के अलावा पैसे लेकर वापस करने लौट आती है।

क्रान्ति का सूत्रपात ऐसी ही तीखी मारों में हुआ करता है। हिंदी में क्रान्ति का रंग भावावेश अधिक रहा। उसके पीछे तीखे चित्र कम उभरे। सब कुछ को जैसे सामान्य करके रखा गया

मैं आती हूँ बन नयी सृष्टि
ध्वंसों के प्रलय प्रहारों में
मैं आती हूँ धर कोटि चरण
युग के अगनत हुंकारों में!

मैं आती हूँ ले नव भाषा
मैं आती ले नव अभिलाषा
नव शब्द छंद लय ताल मीड़
नव गमकों की गुञ्जारों में।

चीरती रूढ़ियों की छाती
बिजली बन तमसा को ढाती,
मैं आती हूँ कंधे पर चढ़
मृत्युञ्जय अभय कुमारों में।

जड़ गतानुगतिका हिला-हिला
अधानुकरण पर बनी शिला
आती हूँ कसक कराह लिए
मैं मरती हूँ बेजारों में।

कवि को देती वरदान नये
रवि को देती मैदान नये

सूख गया प्राणों का रस निज पौरुष के निर्माण में,
बाधाओं के मस्तक पर चढ़ अकड़े जो तूफान में।
रेते नहीं समय के फरसे खरबूजे की फाँक में,
जीवन की हल्दीघाटी में मिटे न जो घिस खाक में।
टूट पड़ें उन्चास पवन जो सजकर तीर-कमान में,
पाषाणों ठोकर खा लौटें ठुकराए अरमान में।
रोवे दाब न संघर्षों की डिगे न डगमग-ज्वार में,
फटे नहीं मजबूत कलेजा नियागरा की धार में।
पिघल उठे यदि अन्तर मेरा उद्वेलित अनजान में,
गंगा-जमना फूट बहें तो जग के रेगिस्तान में।

—रामेश्वरलालसिंह 'राकेश'

गंगा और यमुना की धाराएं हिंदी कवि के मन में नया उत्साह उद्वेलित करने लगीं। वह बनाने बढ़के गाने के विरुद्ध हो गया।

प्यारे स्वदेश के हित अंगार मांगता हूँ
चढ़ती जवानियों का शृंगार मांगता हूँ।
तम-भेदिनी किरण का संधान मांगता हूँ
ध्रुव की कठिन घड़ी में पहचान मांगता हूँ।
पंचास्य नाद भीषण विकराल मांगता हूँ
जड़ता विनाश को फिर भूचाल मांगता हूँ।
उन्माद बेकलों का उत्थान मांगता हूँ
विस्फोट मांगता हूँ तूफान मांगता हूँ
विष का सदा लहू में संचार मांगता हूँ
बेचैन ज़िंदगी का मैं प्यार मांगता हूँ।

—दिनकर

देश के लिए बलिदान मांगा जाने लगा। स्वदेश एक वेदी बन गया। जवानों से कहा गया कि आओ बलिदान दो। एक हलचल जाग उठी। बेचैन ज़िंदगी अपने प्यार मांगने लगी।

"आँखें मूंदे, धधके प्रकाश में कब तक पड़े रहोगे! खंडहर तो छोड़ दो! भूगोल और खगोल डोल रहे हैं। निद्रा और तन्द्रा के हाथों बेमोल बिके हुओ! अब जाग उठो!" (जानकीवल्लभ शास्त्री)

पुरातन के प्रति मोह से कुछ लाभ न था। हम क्या थे, क्या हो गए—इसीपर रोने से कोई लाभ नहीं था। वह जो बीत गया, बीत गया। वह लौटकर नहीं आ सकता।

उसके आगे पथ अनंत है, आदिहीन है। उसपर इतनी ही जगह है कि एक ही पाव रखा जा सके। वह पाव उसी विद्रोही का है, यानी 'हम' का है। वह कठोर चरण है जो आततायी को रौंद देगा। अतीत के काले पापो के अधकार मे यहा लाल आग का रथ भावी गौरव का चिह्न बनकर भागता हुआ दिखाई देता है।

परतु दार्शनिक का कहना है कि यह यात्रा तो योही चलती रहेगी। यह रुकेगी नही। सफर बराबर बना ही रहेगा। न जाने कितना समय बीत चुका है। इसकी गणना करना भी एक भ्रम ही है। यह तो अनादि अनत पथ है। इसका भेद असल मे कोई पहचानता नही है

आँधियों को चीरता इन्सान चलता ही रहेगा
हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।
एक युग बया कल्प बीते, कल्प भी भ्रम एक मन का,
है न कोई आदि, कोई अत है इसके सृजन का।
जग इसे निर्मित किसी की कल्पना से जानता है।
पर न कोई ठीक इसके भेद को पहचानता है।
स्वप्न के सौ - सौ भुवन रचता, मिटाता, मुस्कराता,
बादलों पर तैरता, नभ जगमगाता, भू हिलाता—
आँधियों को चीरकर इन्सान चलता ही रहेगा,
हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।

×

फूल - सा इसका हृदय तो शूल - सी इसकी जवानी,
आँसुओं की धार अविरल, है कहीं मीठी कहानी।
दीप - सा जलना इसे भाता, शलभ - सा झूमना भी,
है सुधा प्रिय तो इसे प्रिय है गरल को चूमना भी।

×

ले अटल विश्वास, साथी को जगाता, जगमगाता,
रौंदता काँटे कुसुम, शव यातनाओं के उठाता।
है उगलता आग, आहों से उगलता ही रहेगा
हो न पाएगा सफर लेकिन कभी कम।

—शान्तिस्वरूप 'कुसुम'

परतु मनुष्य की यात्रा नहीं रुकेगी। उसका हृदय कोमल है और यौवन चुभनेवाला तथा साहसिक है। इसका काम है अपना स्नेह जलाकर जलते रहना, आलोक फैलाते रहना। यह अमृत का प्रेमी तो है ही, परतु विष भी पीता रहता है।

तुम्हें जानना है मनुष्य तुम नहीं गुलाम देवताओं के
और न उनके दया पात्र हो, और न उनके ऊपर निर्भर
तुम्हें आत्म अवलब चाहिए !
तुम्हें जानना है मनुष्य तुम और मानवी अधिकारो पर
जबकि खड़े होगे तुम डटकर कोई शक्ति नहीं ऐसी जो
तुम्हें हटा दे तिल-भर पीछे, तुम्हें आत्म विश्वास चाहिए।

४

इसीलिए यह अपनी वाणी तुम्हें भेजता हूँ चदे मे
सभव है तुमको कुछ बल दे और कालिका करे प्रेरणा
निकल पडो तुम सहसा कहकर—
अपनी रोटी अपना राज,
इन्कलाब जिन्दाबाद !

—बच्चन

कवि अब वाणी भेजता है चदे मे। नया ही प्रयोग है। अपनी रोटी और अपना राज ! दो पुकार हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता ! अरे वैभव के मोह ! तू तो बार-बार सता रहा है। कहा गया वह भारत का गौरव !

"तू मवध पूछ कि राम कहा हैं ! वृदा ! बताओ घनश्याम कहा हैं ! ओ मगध ! तेरे अशोक, चद्रगुप्त—वे बलधाम कहा हैं ! मिथिला भिखारिणी-सी पडी है। इसने अपनी सारी मनन निधिया कहा गवा दी। ओ कपिलवस्तु ! बुद्धदेव के वे मगल उपदेश कहा गए ?" (रामधारीसिंह दिनकर)

सब कुछ चला गया !

क्यो ?

अतीत था न ?

हम अपने स्वत्व को सभाल नही सके।

किंतु हम मरे तो नही ?

मरेंगे कैसे ! हमारी तो धरती मे जडे हैं। हम अभी जीवित हैं

वह फूल भला क्या फूल, अरा जिसमे जीवन्त पराग न हो ?
वह यौवन क्या, जिस यौवन मे जीवन की जलती आग न हो ?

—द्विजेन्द्र

यौवन भी है, क्योंकि उसमे मर मिटने की तमन्ना है। कारागार क्या कवि का मन तोड सकता है। भला वह क्या तोडेगा ?

सैकडो-हजारो कारा मे तडप रहे हैं। कवि भी उन्ही मे से एक है। वह भी अपने को दुख मे केवल सुखी रखने के लिए पीछे नही भाग सकता।

जल गए लाखों-करोड़ों मर गए मानव
दीखते चहुँ ओर हत-आहत, असंख्यों शव !
किंतु मरकर दे गए वे मुक्त जीवन-वर !
मुक्ति की परियाँ उतरतीं आज लपटों पर।

—हेमनारायण शाक

मृत्यु का विरोध आरंभ हो गया। लक्ष्य अब सत्ता से ऊपर उठ आया। मृत्यु जीवन को उठाने का माध्यम बन गई। कवि कहता है "गाओ ! आज तुम जय राग गाओ। समस्त विहाग को भैरवी में लीन होने दो। तुम्हारी हृदय वीणा क्यों निस्पंद पड़ी है। आज आत्मा का ज्वलंत सुहाग लुट न जाए। जागरण के गान सुनकर आज मृत भी फिर जाग उठे।" (सुधीन्द्र)

यों विद्रोह चलता रहता है। हृदय की वीणा में फिर झंकार भरी जाती है। सारे-सारे राग मिलाकर उद्‌बोधन के स्वर में लाकर दुवाए जाते हैं। आत्मा का सौंदर्य अक्षुण्ण रखना उसका ध्येय हो गया है।

तो क्या सचमुच सब कुछ सोया हुआ था ? नहीं ! जागरण और सुषुप्ति मन के विश्वास हैं। प्रतीक हैं। पुराने कवि को भी अपने ही सुख-दुःख में प्रकृति को देखने की आदत थी और यह कवि में आज तक वैसी ही चली आ रही है। यहा व्यक्ति मूलत नहीं बदला है। उसको एक आवेश है

मुक्ति की मशाल जल,
लाल-लाल ज्वाल जल !
घोर अंधकार है
चल रही बयार है
वृष्टि दुर्निवार है
देश तिमिर ग्रस्त है
देश क्लेश त्रस्त है
ज्योति यह मिटे नहीं
आग यह बुझे नहीं
मुक्ति की मशाल जल !
आज द्वार - द्वार पर
नगर ग्राम बाट पर
आज घाट - घाट पर
दिव्य ज्योति यह जले

वह जब थक जाती है तो पुराने—अतीत में प्रश्रय खोजती है। अतीत अच्छा लगता है। यह मनुष्य की एक सहज निर्बलता है। क्यों? क्योंकि अतीत पर झिलमिल छाया रहती है!

नालंदा!! "वह मधुमय संसार एक सपना-सा था। आह! वह अनंत छवि-जाल! पुण्य प्राची का स्वर्णिम काल था। हंत! आज उस स्वर्गिक जग का यह दुरंत कंकाल पड़ा है।" (केसरी)

इस कंकाल को अब कब तक वे पुराने गीत सुनाए जाएं! उनसे लाभ क्या है?

कुछ नहीं। इसे तो नयी शक्ति चाहिए।

कवि इसे जानता है।

तभी वह नवीनता की ओर अधिक अग्रसर है। वह बड़ी ईमानदारी से पूछता है कि यदि तुम बलिदान का मोल चाहते हो, तुम स्वतन्त्रता कैसे चाहते हो? संग्राम में सो न जाने कितने अज्ञात बलि-वीर अपने को होम देते हैं, तब जाकर फल प्राप्त होता है।

जो मिटते हैं, वे अकारण नहीं मिट जाते। वे एक नया स्वप्न साकार करके जाते हैं:

मिट्टी वतन की पूछती,
वह कौन है, वह कौन है,
इतिहास जिस पर मौन है!
जिसके लहू की बूंद का टीका हमारे भाल पर
जिसके लहू की लालिमा स्वातन्त्र्य शिशु के गाल पर
जो बुझ गया गिरकर गगन से निमिष में तारा सदृश
बस ओस जितना भी न पाया अश्रु जिसका काल पर
जो दे गया जीवन विजन के फूल-सा हँस नाश को
जिसके लिए दो बूंद भी स्याही नहीं इतिहास को!
वह कौन है?
जिसके मरण के नेह से दीपक नये युग का जला,
काजल नयन के मेह से अरमान मनुज मन का फला।
चुनता गया पद-पद्म से कंटक मनुज की राह का,
विष दासता को, मुक्ति को निज मृत्यु का अमृत पिला,
चुभती न स्मृति जिसकी कभी जो से किसी के शूल-सी
झरते न जिसपर आँख से दो आँसुओं के फूल ही!

—हंसकुमार तिवा

उनकी मृत्यु भी अमृत होती है। शहीद एक आदर्श हो गया। शहीद पर न

व्यक्ति तक सीमित रहे वह हर्ष क्या है
ध्येय जिसका स्वार्थ, वह संघर्ष क्या है
विश्व के अगणित प्रताड़ित मानवों को
दे न जो संतोष, वह उत्कर्ष क्या है,
सृष्टि का कल्याण गति की चेतना है
भूल अपना सुख जगत् का दुःख बटा तू।
सर्वग्रासी द्वेष बन मृदु प्यार जागे
क्रूरता का वार बन गल-हार जागे
नाश जागे सृजन का नव देवता बन
और खण्डित विश्व बन परिवार जागे
मांग भरने शून्य बलि की वेदिका की
बढ़ अकेला, शीश निर्भय हो कटा तू।

—पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

अपना दुःख क्यों सोचा जाए! लोक में क्या कम दुःख है! शायद बुद्ध ने भी ऐसा ही सोचा होगा, परन्तु तब वह विजयी हुआ था। उसने बलिदान दिया था अपने सुखों का। नये युग की समस्या नया बलिदान चाहती है। तभी कवि अब बलिदान की व्याख्या करता है

"अधरों की मुस्कान विजय का पुरस्कार नहीं है, पथ की सीमाओं का ज्ञान कर्म की पूर्ति नहीं है। स्वतन्त्रता दासता से तन की उन्मुक्ति नहीं, आत्मत्याग की शक्ति है। अब इतिहास की देन को वरदान बनाना है। रात बीत गई। विहान हो गया। जहां कल्पना चरम सत्य का तत्त्व पा लेती है, वहां मानवता देवत्व पाने को उत्सुक होती है।"
(विद्यावती मिश्र)

केवल कह जाना काफी नहीं है। हमारी हजारों सीमाएं हैं, परंतु उनका जान लेना ही क्या काफी हल है। तन दासता से छूट गया तो क्या हुआ, मन भी तो साथ ही बदलना चाहिए, क्योंकि उसके बिना दम ही चारों ओर छा जाएगा। जो अधिकार प्राप्त करने को बढ़ रहे हैं, उनका मानसिक स्तर अत्याचारियों से कहीं अधिक ऊंचा होना चाहिए। इसलिए आत्मत्याग की शक्ति होनी चाहिए। भारतीय चिंतन इस सत्य को सदा से ही स्वीकार करता आया है। पहले यह वैयक्तिक रूप में था, अब यह समष्टि रूप में है

जल रहा रक्त की ज्वाला में
कंकाल विषमता का विषाद

ककासों की आहुति पड़ती
यह ऐसी भीषण विकराला !
अब तो रहा नहीं जाता है
अब तो सहा नहीं जाता है
क्यों न क्षार कर दें उसको
जिसने जग क्षार-क्षार कर डाला !
आग धधकती ही जाती है
पर इसपर लज्जा आती है
कैसे बचा अभी तक जिसने
इन मासूमों का घर जाला !

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

अब वह सबसे ऊपर 'जन' को रखता है। वह सत्ता क्यों बनी रहे जोकि सुख में काटे डाल रही है, आग लगा रही है। उसकी सत्ता बची हुई है यह कितनी लज्जा की बात है। उसे तो कभी का नष्ट कर देना चाहिए था। यह कितनी बड़ी कचोट है ? तभी कवि कहता है

"हे कवि ! सब कुछ नवीन देकर भी विधाता ने तुम्हें चिर ज्वलित व्यथा का रोग दिया है। फूलों से गात रचकर, भाग्य में शूलों का भोग लिख दिया। जीवन का रस-पीयूष तुम्हें नित्य जग को दान करना है। तुम नीलकंठ हो ! तुम्हें तो गरलपान ही लिखा था। तुम संतोष करो। शायद खारी लहरों पर किरण आशा का तुम्हें कोक मिल जाए। हे कवि, रोओ ! शायद आंसू के बीच धरणी को नया आलोक मिल जाए।" (दिनकर)

तो क्या कवि का हृदय संवेदनशील होने के कारण ही उसे सब कुछ औरों की तुलना में अधिक व्याकुल करता है ! परन्तु यह सत्य है कि कवि सत्य की तह तक जाता है, क्योंकि वह उसे सोचता-मात्र नहीं, उसका अनुभव भी करता है। बात मस्तिष्क से हृदय पर उतर आती है। उसे इसीलिए यह लगता है कि संभवतः उसकी वेदना से ही मनुष्य के कल्याण को सहारा मिलेगा, वह कहता है

मैं अपनी चेष्टाओं को चील की झपट नहीं बनाऊँगा
कि जहां सड़ा-गला दीखा चोंच मार दी,
विचारों को भूखे भेड़िये की जीभ नहीं बनाऊँगा कि जहां
दुधमुंह गोश्त दीखा दांत मार दिए।
मन जो काई के गड्ढे में धँस गया है
बुद्धि जो अंगारे की तरह रुई के स्तरों में सुलग रही है
सीना जो छटपटाहट हाहाकार से खौल रहा है

मूर्तिमान हो गई जहाँ सुरूप कामना !
देश मे अनेक वर्ग वर्ण जाति धर्म हैं
भाव हैं अनेक बोल हैं अनेक कर्म हैं
कोटि-कोटि रूप मे परन्तु एक प्राण हैं।
मान एक ज्ञान एक, ध्यान एक गान हैं।
एक आज शक्ति है, एक भाव भक्ति है!
कोटि-कोटि प्राण की अभिन्न आज भावना
आज कोटि-कोटि का जिसे कि बाहुबल मिला
कौन कह रहा कि वीरभूमि आज निर्बला
आज जागरण हुआ कि हम सदा स्वतन्त्र हैं
आज लोक के स्वकीय तन्त्र मन्त्र यन्त्र हैं
आज एक कल्पना, आज एक चिंतना
आज भावना यही, समस्त सिद्धि साधना !

—सुधीन्द्र

यह कविता बहुत ही गेय और ऊर्जस्वित गरिमा का प्रतिनिधित्व करती है। स्वर्गीय सुधीन्द्र की अमर कीर्ति की स्थापना के लिए यह एक कविता ही काफी है। यहा हम केवल यशोगान नही पाते, प्रकृति का वरदान भी पाते हैं। जाति-द्वेष हटता हुआ दीखता है और करोड़ो की अपार शक्ति हरहराती हुई सुनाई देती है। यह कवि की एक श्रेष्ठ कविता है, जिसे देश-प्रेम की कविताओ मे अवश्य ही सकलित करना चाहिए।

देश और विश्व का सघर्ष भी एक होता दीखता है

जागे मगल वाणी!
नवयुग की पगध्वनि मे जागे अखिल विश्वकल्याणी!
जागे जन पद-ग्राम-नगर मे
गृह-वन मे सरिता-सागर मे
अथक विहग-सी नीलाम्बर मे
जागे जनगण के अतर मे
स्वप्न-भग-से निर्झर-सी फिर बहे अमर युगवाणी।
महामृत्यु के पथ मे गूंजे कवि की भैरववाणी!
जागे जन पशुहीन नगर मे
नवयुग के उन्नत शिर भर मे
अरुणोदय-से नीलाम्बर मे
ज [illegible] म [illegible] के र मे

यह कड़ी पड़ रही है कि क्षितिज के रक्त सने
ये कड़े दाँत थककर ढीले पड़ते जाते
धरती का लोहू भी विष बनता जाता है
तन सभी दिशाओं के नीले पड़ते जाते।

×

वह रो-रोकर थक गई कि आँसू सूख गए
अब वह निज चरणों में आकाश झुकाएगी
वह खप्पर भरकर शंकर के वक्षस्थल पर
फिर झूमेगी, तब नूतन विश्व बसाएगी।

*वह आज मुक्ति के गाएगी फिर गीत नये*
*परवशता का क्रन्दन इसको स्वीकार नहीं।*

—श्रीहरि

ईश्वर को शोषकों ने अपना साधन बना रखा है, इसलिए कवि पृथ्वी और आकाश का झगड़ा दिखाता है। कालिदास ने भी राजा की तुलना सूर्य से की थी। नया कवि उसी कल्पना को आगे बढ़ाता है और नये तथ्य सामने रखता है। परन्तु केवल गीतों से होता भी क्या है?

"गीत दुःख कम नहीं कर पाते। लिखे भला कोई क्या-क्या किस-किस पर! रूढ़िग्रस्त जड़ हुए विश्व में अपनों के अपनों से नाते!" (शांति)

यों कर्म अलग हो उठता है, उद्बोधन अलग। यह इसलिए कि अनुभूति केवल कहने-सुनने से तो अपनी तृप्ति नहीं कर पाती।

केवल रोने से काम नहीं चलता।

मुक्ति का गीत गाने की अभिलाषा इसीलिए है कि परवशता का क्रन्दन कवि स्वीकार नहीं करना चाहता।

प्रकारांतर से, भिन्न-भिन्न कोणों से समस्या पर कवि लिखते हैं और उसे अधिक से अधिक जनता के पास ले जाने की चेष्टा करते हैं।

जागरण एक ज्वाला है। ज्वाला उस शक्ति का पर्याय है, जिसमें विध्वंस की शक्ति भी है और प्रकाश भी है

ज्वाला है यह ज्वाला!
नन्हें-नन्हें दीन झोंपड़ों में
जो सुलगी धीरे-धीरे
लाल-लाल नटखट लपटों की
माला है यह माला!

मैं अचेतन और उपचेतन सभी पर
वार करता आ रहा हूँ
व्यक्तिवादी सभ्यता को
ध्वस्त बिलकुल कर रहा हूँ।
मैं हिमालय को रगड़कर
रास्ते की धूलि का कण कर रहा हूँ
स्वर्ग में बैठे हुए उस देवता को
मानवों के साथ जीने
और मरने के लिए ललकारता हूँ
सामने आकर उसे धिक्कारता हूँ
और कहता हूँ कि आ,
इन हड्डियों से तौल अपना काव्य कायर !
देवियों के रूप के आराधकों को—
जो बँधे हैं प्रेम के स्वर-तार से ही—
लौह की कटु शृंखला से बाँधकर मैं खींचता हूँ
और जन-संघर्ष में लाकर उन्हें,
फौजी बनाकर छोड़ता हूँ।

—केदारनाथ अग्रवाल

यह 'मैं' एक अतिशयोक्ति बन गया। यह 'मैं' 'हम' नहीं बना, क्योंकि इसमें समय से पहले ही एक 'अहं' का उदय हो गया। वास्तव में यह कवि में एक हीनत्व की भावना हुई, क्योंकि उसे दिन-प्रतिदिन राजनीतिक कार्यकर्ताओं से सामना पड़ता था। वे कर्मठ बनते थे और कवि जो कि उन्हें राह दिखाता था, अब वे कवि को राह दिखाने लगे और तब कवि को अपनी ईमानदारी और वीरता की व्याख्या देनी पड़ी कि—मैं भी लड़ रहा हूँ, तुम सिर्फ मेरे मोर्चे को देखो। नतीजा यह हुआ कि यथार्थ ऊहा बन गया और तनिक ही कोण के बदल जाने से बात भी बदल गई। परंतु फिर भी राजनीतिज्ञों पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। हिंदी कवियों में यह थोड़ा-सा दोष अवश्य रहा कि, राजनीति की बजाय वे राजनीतिज्ञों से दब गए, यद्यपि राजनीतिज्ञों का चेतन स्तर कवि की तुलना में निम्न स्तर का होता है। परंतु सर्वत्र ऐसा नहीं हुआ

आज न जिसने कलम गड़ाई
प्रस्तुत अत्याचारों में
उस कायर कवि की गिनती है
नवयुग के हत्यारों में।

परेशान हो गया, जैसे हिन्दी साहित्य के इतिहासकार परवर्ती रीति कवियो की भीड देखकर होते रहे हैं। युग-विशेष मे जैसे स्वर मे स्वर मिलता ही है, वही बात है, परंतु अधिकाश उसमे नया स्वर है

> ग्राज शत-शत कण्ठ मे फिर स्वरो का वरदान जागा
> ग्राज जन-जन के हृदय मे मुक्ति का सम्मान जागा
> ग्राज जागा शेष कि काँपी धरा नभ डगमगाया
> ज्येष्ठ के मध्याह्न से स्वर-ताप जब मैने चुराया
> कण्ठ मे स्वर नवल जागा हृदय मे बल सबल जागा
> नयन मे नव ज्योति जागी देह पर नव वेश जागा
> ग्राज मेरा देश जागा देश का अभिमान जागा
> ग्राज मेरे देश के अपमान का प्रतिदान जागा
> ग्राज कण-कण के हृदय मे शक्ति का उपमान जागा !
>
> —जगदीश

शत, कोटि, हा आग आनेवाले शब्द है। इतना निश्चित है कि हिन्दी का कवि एक बहुत बडे शिविर मे ग्रा गया था और उसे ग्रतीत की उलझन रोक नही पाती थी।

"ग्रतीत के दिन झेंखने से क्या लाभ ! चिर नवीन के अमर राग से वीणा को मुखरित करो। नियति क्रूर और निर्मम है। उससे भिक्षा मत मागो। जीवन तो वर्तमान ही मे है।" (मनोरजनप्रसाद सिंह)

वर्तमान के प्रति इतनी अधिक ग्रासक्ति देखकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक बार चौंक उठे थे। उन्होने कहा था कि कवि का सदेश राष्ट्रीय परिधि के भीतर बधकर नही रह सकता, क्योकि देश के स्वतत्र हो जाने पर समस्याए बदल जाएगी। किंतु युग की पुकार बहुत सबल थी। उनका भी स्वर डूब गया। राष्ट्रीयता घर-घर का दीपक बन गई। जो भी हो, ग्रावेश को तो एक रूप प्राप्त करना ही था, और उस समय वह जन्मभूमि के नाम पर मूर्त हो उठा। हम देखते है कि भारतीय चेतना की परपरा के कारण ही जन्मभूमि के प्रति ग्रासक्ति वाह्य रूप तक ही सीमित नही रही, उसका ग्रतरूप भी कवियो ने प्रदर्शित करने का यत्न किया क्योकि यहा की सामाजिक व्यवस्था का सैद्धातिक निरूपण पहले निश्चित हो जाने की परपरा हमे वेद के 'विराट पुरुष' मे ही मिल जाती है।

> ग्रयि ! तुम भूतल पर ग्रादि-किरण की माता
> दिव का मस्तक भी जिसे देख झुक जाता
> ले रश्मिलोक का मंगल मुकुट करो मे
> — तेरे पथ्य पगो तक —

आता है तो आने दो घन के अजगर को फन फैलाए,
देखें रक्त-भरे प्याले को उन अधरों से कौन लगाए।
जहरीली उच्छ्वास गरल की जो आगे बढ़कर पीता है,
नई जिंदगी की ताजी घूंटें पी-पीकर जो जीता है।
लाखों कदमों से जख्मी है उसका फन अब सड़ा पड़ा है,
आज लहू से भीगा झण्डा सब को शान अनेगा साथी।

—मृणाल

इसका कारण है जनता में भाषा का अलगाव। हिंदी प्रांत में अनेक बोलियां हैं। यही कविता यदि किसी बोली में होती तो लोक में उतर गई होती। हिंदी के कवि को इसकी बड़ी भारी हानि रही है कि जिस साहित्यिक भाषा में वह लिखता है, वह व्यापक तो बहुत है, परन्तु कहीं भी प्रादेशिक नहीं है। शिक्षा ही इस व्यवधान को दूर कर सकती है। साहित्य की भाषा शिक्षित वर्ग की भाषा है।

शिक्षितों पर इस काव्य ने प्रभाव डाला है, यद्यपि इसकी एकांगिता तब ही तक मोह सकी जब तक कि समस्या अपने बाह्य रूप में प्रखर और ज्वलंत रह सकी। उसका प्रभाव आज भी है अवश्य

जय जय जय जनधारा
जय जन-जीवन-धारा।
प्रथम कल्प के अरुणध्वज-शृंगों से जो गति फूटी,
उस सरिता की धारा शत कल्पों में कभी न टूटी।
महाकाल के जटा-जूट में खोई यह जन गंगा,
खोई कभी युगों के गिरि गह्वर में चपल तरंगा।
मौन मरण ने बार-बार जीवन की गति को घेरा,
प्राण तरंगित ज्योति शिखा को डसने लगा अंधेरा,
नव विकास के व्रती, प्रगति की गंगा के अभिमानी,
जन जीवन के अमर साधकों ने पर हार न मानी!
खुला युग ध्रुव सलिला का उत्स गिरि-शिखर तल से,
ज्योतिर्मय स्वर जल तरंग के उठे धरा अचल से।
जिसे भगीरथ ने विवेक के धरती बीच उतारा,
स्वप्नों के दीपों से जिसका गतिमय रूप सँवारा!
जय जन गंगा धारा—

—शम्भूनाथ सिंह

परन्तु उतना नहीं जितना तब था। इसका कारण यही है कि जहां सैद्धांतिक

सदियों सो हो रहीं, हाय, तुम श्रद्धा-कामकुमारी!
पूर्णकाम देवेन्द्र इन्द्र ने ठगा, तजा गौतम ने
रघुनायक ने निर्वासित कर दिया लोकरंजन में!
लक्ष्मण और बुद्ध ने तप का समझा कब अधिकारी!
नाच नचाता स्वर्ग, बनाकर तुम्हें उर्वशी-रम्भा?
गिरने पर भी नहीं गिरीं तुम रहीं शक्ति जगदम्बा?
सती आज भी दक्ष प्रजापति ब्रह्मन्मन्य अविचारी?
मदोन्मत्त हैं मनुज आज भी स्वामी बन सत्ता के
कर शिव को निर्वासित रचते यज्ञ शक्तिमत्ता के!
शंकर प्रलयंकर की सहचरि बारी पुन तुम्हारी।
युग-युग से इस पुण्य देश पर घन जड़त्व मँडराया
महिषासुरमर्दिनी बनो फिर भुवन-विमोहिनि माया।

×

बनो महालक्ष्मी, अँधियारी—जगती करो उजारी!
सागर का नीलोत्पल, श्यामल शतदल वसुन्धरा का
पदतल पाने को लालायित उदित भानु रँगराता!
प्रज्ञापारमिता दर्शन दो पावन मंगलकारी!—　　नरेन्द्र

उसने अवहेलना भी की, परन्तु भारतीय संस्कृति तो बहुत व्यापक है। अंत में उसे भारतीय परंपरा में ही उपमान मिल गए। वह केवल दृष्टिकोण का भेद चाहता है।

भारत ज्यों-ज्यों देशांतरों के संपर्क में आया और जैसे उसने अपने अतीत को देखा, उसके दृष्टिकोण की संकीर्णता भी कम होती गई। देश के झगड़ों को देखकर कवि समझाता है

×

गंगा किसकी नदी नहीं है भारतवर्ष न किसका है?
आर्य, बौद्ध, हिंदू, ईसाई सभी गोद में खेल चुके,
लहरों के उत्थान पतन को, मुस्लिम जन भी झेल चुके,
सबने इसका फल खाया है स्निग्ध दुग्ध का स्वाद लिया,
इस मिट्टी की हवा रोशनी अन्न और जलपान किया!
भावपूर्ण जीवन का दर्शन शाश्वत हर्ष न किसका है?

×

पृथ्वी का है मुकुट हिमालय भूमण्डल का है सागर
भारत की सीमा क्या कोई? यह क्या किसी जाति का घर?

आह्वान भी है, उससे दूर जाना भी है, परंतु जन-जीवन का वस्तुपरक चित्र नहीं है। आत्मपरक संयोजन ही कविता का प्राण नहीं बन सकता, उससे एकरसता आ जाती है।

'आत्मकला कविता के प्रति' कवि कहता है

"हे सुरसरि! जन-सिंधु की ओर चलो। तुम व्यापक लोक का आधार स्वीकार करो।" (जानकीवल्लभ शास्त्री)

चलो! करो! मरो!

चले! किया! मरे! यह नहीं हुआ।

कहने और करने में भेद आ गया।

किंतु जहां भावभूमि को तैयार करने का प्रश्न था वह हिंदी में ठीक-ठाक हुआ। और अच्छा हुआ, यद्यपि उसका श्रेय किसी एक कवि को नहीं दिया जा सकता। इसका कारण था कि कवि अपने को सैनिक समझते थे, नायकत्व राजनीतिज्ञों के हाथ में था।

अंधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो
सर्वनाश क्या नवल सृष्टि का सपना कभी मिटा पाया है?
क्या न प्रलय के मरुप्रदेश में जीवन-उत्स उमड़ आया है?
क्या न निशा के शून्य अंक में ही जागी ऊषा सुकुमारी?
मधु स्रोत की रेखाओं पर मेरा यह मधुहास जयी हो!
अंधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो!
पतझड़ पर छा जाने वाला मेरा यह मधुमास जयी हो,
अवसादों पर हँसनेवाला मेरा यह उल्लास जयी हो
अंधकार को पीनेवाला मेरा यह निष्कंप निराकुल
अंधकार को पीनेवाला मेरा प्रखर प्रकाश जयी हो!
अंधकार से लड़नेवाला मेरा यह विश्वास जयी हो।

—जिनेन्द्रकुमार

सब कुछ जयी हो, परंतु जयी हो—राजनीतिज्ञ ही, क्योंकि कवि लोककथाओं में नहीं उतरा। इसीलिए आगे चलकर एक ओर कुत्सित समाजशास्त्र की प्रति हुई, दूसरी ओर व्यक्तिपरक प्रयोग प्रारंभ हो गए और जहां काव्य को लोक में उतरना था वहां वह असफल हो गया।

सिद्धांत अपने-आप में अपूर्ण सत्य होता है। वह जन-जीवन के यथार्थ से जब तक मेल नहीं खाता, तब तक वह अपना प्रसार नहीं कर पाता। कवि झुंझला उठता है

"कैसे रहूं यहां? निष्ठुरता सस्ती होती जा रही है। यह अंधेर नगरी है, मूर्ख शासक हैं। उनके भाव जड़वत् हैं।" (दीनानाथ व्यास)

पुलकित तन हो
मुकुलित मन हो
हरित-भरित-पूरित जीवन हो !

×

सतत अभ्युदित
जन-जन प्रमुदित
सर्व सुखद सुन्दर समाज हो !
अधर-अधर पर
हास अनश्वर
सिर-सिर पर अमिताभ ताज हो !

×

मिटे दनुजदल
हटे अमंगल
जल, थल, नभ सर्वत्र शांति हो !

—नागार्जुन

प्रार्थना का-सा गीत भी गाया। अपने स्वप्न को उसमें साकार भी देखा। ऐसा हो जाए! कैसे! यह तो हुई मांग की बात, परंतु कल्पना की सुन्दरता ध्येय का बिंब बनी और आधेय बना विश्वास।

"शेषनाग ने केंचुल छोड़ी, धरती ने काया पलटी। नाश और निर्माण के दो पग रखकर नियति-नटी नाच रही है। सदियों के विषैले अंगारे बुझते-बुझते भड़केंगे। बहुत घोर होगा, किंतु बंदी की कठिन हथकड़िया टूटकर ही रहेंगी। देश-देश के जन जागेंगे। वर्ग-स्वार्थ की तलवारें चमकेंगी। विगत युगों के विकृत अभावों के विस्फोटक फूटेंगे।"

(नरेन्द्र)

मेरे असीम ! सीमा मत बन
तेरी हो पृथ्वी आसमान !
ओ नौजवान !

—सोहनलाल द्विवेदी

इसका कारण है कि कवि आज 'प्रबंधात्मक' नहीं है—'मुक्तक' है। 'प्रबंध' का कौशल अपना एक लोक रचना है—'रचना का लोक' बनाना है। वह उतने बड़े स्वप्न के अभाव में मुक्तक में बदल गया है। तभी कवि का गीत 'बातचीत' बन गया है

"ओ साथी ! बीच राह में थककर मत गिर पड़ना। पथ में उन अमिट रक्त-चिह्नों की शान बनी रहे। पीछे नौजवान मर मिटने को आते हैं। इस वन में जहां अशुभ शृगाल रोते हैं, जनसत्ता की विशाल नगरी निर्मित होगी।" (रामविलास शर्मा)

सभी कवि एक ही बात कहते हैं। इसीलिए सबकी बात में एक-सा जोर है। इसीलिए कोई भी एक-दूसरे से अधिक दूर नहीं है।

यथार्थ का अंकन युग का प्रभाव है। ऐसा सदैव होना है। केवल नयेपन के लिए नयापन भी इसीकी प्रतिक्रिया बनकर प्रयोग बनी। किंतु दोनों ही ओर से अभी 'महाप्राण कवि' जन्म नहीं ले सका। आज भी वैसे विविध चित्र तो सामने आते हैं

देह समर्पित करती पत्नी, नारी करती प्राण
वह भर्ता को सुख देती, यह करती प्रिय कल्याण।

×

पुरुष दीप यदि ज्योति प्रसारक पत्नी वर्ति समान
दीप्त उभय को करनेवाला घृत नारी को जान।
काम-मोह का मुग्ध शलभ पड़ जिनमें होते क्षार,
स्नेह चुका, जल गई वर्तिका, दीप हुआ बेकार।

—गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'—'सावित्री' से

परंतु हमें कहीं भी संपूर्ण 'भाव' का चित्र नहीं मिला। इस युग में कविता को शृंगार, करुणा, वीभत्स, वीर तथा रौद्र रस मिले। परंतु वे एक ही धुरी में बंधे रहे और उनकी गति चक्रवत् इतनी तेज रही कि पाठक उनको घूमना ही देख सका। यह है नयी कविता का अभाव। आज दूर से देखने पर ही मैं इसे देख सका हूं। फिर वही कहता कि संतुलित स्वर ने इसकी भी व्याख्या की है

"व्यर्थ ही स्वर्ण अतीत याद आता है। हम हार को ही जीत कहते रहे हैं। हम वृत्तियों के क्रीत दास बने हैं। हम न वैर समझ पाए न प्रीति। स्वार्थ का संकल्प पूर्ण करने को हम महा आक्रोश लड़ते रहे हैं। संधि-विग्रह की घिसी-सी बात दिन-रात मन

गा मंगल के गीत सुहागिन ! चौमुख दियरा बाल के !
आज शरद की साँझ, अमा के इस जगमग त्यौहार मे
दीपावली जलाती फिरती नभ के तिमिरागार मे
चली होड करने तू लेकिन भूल न—यह ससार है,
भर जीवन की थाल दीप से रखना पाँव सँभाल के !
सम्मुख इच्छा बुला रही पीछे संयम-स्वर रोकते,
धर्म - कर्म भी बायें-दायें रुको देखकर टोकते,
अग-जग की ये चार दिशाएँ तम से धुंधली दीखतीं,
चतुर्मुखी आलोक जला ले स्नेह सत्य का डाल के !
दीप-दीप भावो के झिलमिल और शिखाएँ प्रीति की
गति-मति के पथ पर चलना है ज्योति लिए नवरीति की,
यह प्रकाश का पर्व अमर हो तम के दुर्गम देश मे,
चमके मिट्टी की उजियाली नभ का कुहरा टाल के।

—राजेन्द्रप्रसाद सिंह

यह कविता बहुत ही श्रेष्ठ रचना है जिसे बहुत ही अच्छी तरह गाया जा सकता है। प्रकाश का पर्व मनाने की घोषणा गूंज उठती है और फिर आती है अद्भुत कल्पना

यह सध्या एक शमा-सी है
दिन के पर जलते जाते हैं—

—शिवबहादुर सिंह

और मनुष्य प्रेम को अब भी सर्वोच्च आसन देकर कहता है :

किसी भक्त ने देव की आरती हित बड़े भाव से दीप मठ का जलाया
दूर हट, यह नहीं अर्चना प्रेम की कूक लौ ने शलभ ने यती को बुलाया
प्रणय के नगर मे सफल प्रेमियो को जलन हो अधर और चुबन अंगारा।

—शिवबहादुर सिंह

उदात्ततम हो जाना आज भी मनुष्य की चेतना का एक लक्ष्य है। और इसे वह प्रकृति से निरन्तर सीख रहा है। तभी कवि-हृदय कहता है

अबर के आँगन मे जगते रहे सितारे रात-भर
चुप-चुप इगित मे कहा ने निशि से निशि-भर बात को,
आँखों मे आकुल शका थी आनेवाले प्रात की,
रहे खेलते आँख-मिचौनी घन कजरारे रात-भर।
मिट्टी मे मिल गई जवानी भोले-भाले फूलो की
आँखों मे रह गई सिसकती शेष कहानी धूल की

तुम्हें जानना है मनुष्य तुम नहीं गुलाम देवताओं के
और न उनके दया पात्र हो, और न उनके ऊपर निर्भर
तुम्हें आत्म अवलंब चाहिए !
तुम्हें जानना है मनुष्य तुम और मानवी अधिकारों पर
जबकि खड़े होगे तुम डटकर कोई शक्ति नहीं ऐसी जो
तुम्हें हटा दे तिल-भर पीछे, तुम्हें आत्म विश्वास चाहिए।

४

इसीलिए यह अपनी वाणी तुम्हें भेजता हूँ चंदे मे
संभव है तुमको कुछ बल दे और कालिका करे प्रेरणा
निकल पड़ो तुम सहसा कहकर—
अपनी रोटी अपना राज,
इन्कलाब जिन्दाबाद ! —बच्चन

कवि मय वाणी भेजता है चंदे में। नया ही प्रयोग है। अपनी रोटी और अपना राज ! दो पुकार हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता ! अरे वैभव के मोह ! तू तो बार-बार सता रहा है। कहा गया वह भारत का गौरव ?

"तू अवध पूछ कि राम कहा हैं ! वृंदा ! बताओ घनश्याम कहा हैं ! ओ मगध ! तेरे अशोक, चंद्रगुप्त—वे बलधाम कहा हैं ! मिथिला भिखारिणी-सी पड़ी है। इसने अपनी सारी मनन निधिया कहा गवा दी। ओ कपिलवस्तु ! बुद्धदेव के वे मंगल उपदेश कहा गए ?" (रामधारीसिंह दिनकर)

सब कुछ चला गया !
क्यो ?
अतीत था न ?
हम अपने स्वत्व को संभाल नही सके।
किंतु हम मरे तो नही ?
मरेंगे कैसे ! हमारी तो धरती मे जड़े हैं। हम अभी जीवित हैं

वह फूल भला क्या फूल, भरा जिसमे जीवन्त पराग न हो ?
वह यौवन क्या, जिस यौवन मे जीवन की अलसी आग न हो ?

—द्विजेन्द्र

यौवन भी है, क्योंकि उसमें मर मिटने की तमन्ना है। कारागार क्या कवि का मन तोड सकता है। भला वह क्या तोडेगा ?

सैंकड़ों-हज़ारों कारा मे तडप रहे हैं। कवि भी उन्हीं मे से एक है। वह भी अपने को दुःख में केवल सुखी रखने के लिए पीछे नहीं भाग सकता।

जब - जब पवन संदेसा लावे
दीये की लौ - सी बल खावे
झाला दे - दे पास बुलावे
उझक देख मैं जानूं मेरे
आए राजकुमार !

देखूँ जगत में पटबिजना
गगन बीच तारों का खिलना
मैं जानूं यह केवल छलना,
कौन कहे सचमुच आवेंगे
मेरे राजकुमार !

×

छीज रही तन-मन की बाती
खोये-सी ही रात सिराती
जीती तो फिर रात जलाती
कह भर देता कोई—मेरे
आते राजकुमार !

—नरेन्द्र शर्मा

राजकुमार उसकी कल्पना का सुंदर काम्य है। इसीलिए कवि का हृदय उसका वरण करने को स्त्री की कोमलता का अनुभव कर उठता है और कहता है कि आयु समाप्त हो जाती है। सकल सृष्टि इस दीप की भांति ही यत्न से अपने को घुलाती रहती है। लोकगीत जैसी यह कविता उमंग का परिचय देती है। प्रश्न उठता है क्या यह पलायन का बिंब नहीं देती ? मैं समझता हूं नहीं। प्राचीन काल से ही मनुष्य अपने दार्शनिक चिंतन को सहज बनाने को लौकिक कार्यों में अवतरित करता रहा है। उसने पशु-पक्षियों तक की बातें करते दिखाया है। इसे उसने 'रति' में सबसे अधिक निकट से अनुभव किया है। उर्दू काव्य में तो साम्राज्यों के पतन भी प्रिया से विरह-निवेदन के रूप में प्रकट हुए हैं। यह तो एक कामना है कि व्यक्ति का आंतरिक जीवन भी अपनी सांत्वना पाता चले। कवि कहता है

दीप जल रहा गल - गलकर
ले तेरा ही विश्वास सहारा
कल ठुकराया जाता था
पाषाण आज भगवान हो गया।

×

वह जब थक जाती है तो पुराने—अतीत में प्रश्रय खोजती है। अतीत अच्छा लगता है। यह मनुष्य की एक सहज निर्बलता है। क्यों? क्योंकि अतीत पर झिलमिल छाया रहती है।

नालंदा!! "वह मधुमय संसार एक सपना-सा था। आह! वह अनंत छवि-जाल! पुण्य प्राची का स्वर्णिम काल था। हाय! आज उस स्वर्गिक जग का यह दुरंत कंकाल पड़ा है।" (केसरी)

इस कंकाल को अब कब तक वे पुराने गीत सुनाए जाएं! उनसे लाभ क्या है?

कुछ नहीं। इसे तो नयी शक्ति चाहिए।

यदि इसे जानना है।

तभी यह नवीनता की ओर अधिक अग्रसर है। वह बड़ी ईमानदारी से पूछता है कि यदि तुम बलिदान का मोल चाहते हो, तुम स्वतन्त्रता कैसे चाहते हो? संग्राम में तो न जाने कितने अज्ञात वीर-धीर अपने को होम देते हैं, तब जाकर फल प्राप्त होता है।

जो मिटते हैं, वे अकारण नहीं मिट जाते। वे एक नया स्वप्न साकार करके जाते हैं:

मिट्टी वतन की पूछती,
वह कौन है, वह कौन है,
इतिहास जिसपर मौन है!
जिसके लहू की बूंद का टीका हमारे भाल पर
जिसके लहू की लालिमा स्वातन्त्र्य शिशु के भाल पर
जो बुझ गया गिरकर गगन से निमिष में तारा सदृश
बस ओस जितना भी न पाया आयु जिसका काल पर
जो दे गया जीवन विजन के फूल-सा हँस नाश को
जिसके लिए दो बूंद भी स्याही नहीं इतिहास को!
वह कौन है?
जिसके मरण के नेह में दीपक नये युग का जला,
कोमल नयन के मेह से मरुथल मनुज मन का फला।
चुनता गया पद-पद्म से कंटक मनुज की राह का,
विष दासता को, मुक्ति को निज मृत्यु का अमृत पिला,
चुभती न स्मृति जिसकी कभी जी में किसी के शूल-सी
झरते न जिसपर आँख से दो आँसुओं के फूल ही!

—हंसकुमार तिवा

उनकी मृत्यु भी अमृत होती है। शहीद एक आदर्श हो गया। शहीद पर

हाय धनी-गरीब ऐसे भेद रच डाले।
यहां नेह अभेद ऐसी एक बेला है।
जानता हूं रात बीते प्रात होना है
प्रात होते तेज से अस्तित्व खोना है।

—भवानीप्रसाद तिवारी

हम एक ओर बड़े सत्य के पास पहुचने के लिए जीवित हैं। वहा हमारी मान्यताएं भी क्षुद्र पड जायेंगी, किंतु तब तक का उनके द्वारा दिया साथ अपनी सार्थकता पूरी कर चुकेगा। वह उसको लोकहित में सर्वत्र चाहता है .

द्वार-द्वार पर अमन्द यह दिया जले
मुक्त द्वार हो न बन्द यह दिया जले।
सत्य बन असत् प्रवाह मे,
बन प्रकाश तिमिर राह मे
अमृतधार—मृत्युदाह मे,
नव-नव रस रूप गंध स्पर्श शब्द ले
प्राण-प्राण बीच यह अमर प्रभा जले !

×

तम की दीवार तोड़कर,
भय दुर्निवार तोड़कर
मुक्त ज्योति की उठे लहर
गृह वन गिरि सिंधु पार मे गगन तले
देशकाल से अखण्ड यह दिया जले !

—शम्भूनाथ सिंह

यह दीपक आकाश और सकल लोक मे प्रज्वलित होकर रहे। इसलिए कवि-हृदय इतनी भी स्पर्धा करता है कि प्रकाश के लिए भीख भी नहीं चाहता। स्वयं पर ही विश्वास है

मुझे राह मे रोशनी मत दिखाना
मैं अपना ही दीपक जलाती चलूंगी।
किधर मेरी मंजिल किधर है किनारा
नहीं मुझको लेना किसीसे सहारा
तड़प कर मेरे दिल ने मुझको पुकारा
बताया है चुपके से मुझको इशारा

महुआ रात को गृहस्थिन के दुःख देखकर रोता है।

किंतु लोक-मंगल की भावना यहां न जाने कब से जीवित चली आई है। अश्वत्थ भारतीय अध्यात्म-चिंतन में अपना बहुत पुराना स्थान रखता है। कवि के लिए वह बुद्धत्व का प्रतीक है, करुणा का प्रतिनिधि है। उसको याद करके कवि उसी लोक-मंगल की भावना को जाग्रत् करता है

धन्य है अश्वत्थ जो आश्वस्त करता रहा
पीड़ितों मनुजता को।

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

मंगल राग और विद्रोह का गर्जन, दोनों ही हिंदी में साथ-साथ चलते हैं। अंगरेज हिंदी नहीं पढ़ते थे, न देश के नियन्ता नेता ही, अन्यथा वे भी इस तड़पन का अनुभव करते। और यह तमाम उस भाषा का गौरव है, जिसके प्रति विशेष प्रेम यहां के शिक्षितों के मन में भी नहीं था। इतने अपमानों में रहकर भी यह भाषा कितनी प्रचण्ड बन सकी है। यही है वह स्वर जिसने कहा था

कौन रोक सकता टोली आगे बढ़ते दीवानों की
आज चली है सेना फिर से धीर वीर मस्तानों की
वे कल चले आज हम जाते परसों उनकी बारी है
दर-दर में उत्सव जुलूस हैं घर-घर में तैयारी है
मिला सुयोग युगों में हमको माँ के पद का पूजन है
कितने शीश चढ़ें चरणों में आज वृहद आयोजन है
अम्बर में ध्वनि गूंज रही जननी के जयजय गानों की।
बलिवेदी पर भीड़ लगी है आज अमर बलिदानों की।

—सोहनलाल द्विवेदी

कितना प्रभावशाली चित्र है। बलिवेदी पर अमर बलिदानों की भीड़ लगी है। आकाश में मां के जयगानों की ध्वनि गूंज रही है।

कवि "भविष्य के खंडहर की गहराई नाप रहा है। वह पर्वत से राई की ऊंचाई नापता है। रूठे दिन लौटकर नहीं आते, यह वह जानता है। ध्वनि से सबकी उसकी परछाईं पड़ती है। वह मंजिल पर पहुंचकर पथ की लंबाई नाप रहा है।"

(नर्मदेश्वर उपाध्याय)

कवि बड़ा कौशल जानता है।

युग से बड़ा वह कभी-कभी दिखाई तो देता है। आज सारा वह कोलाहल डूब चुका है। इतिहास बदल चुका है। यदि कहीं अब वह सब जीवित है तो कविता में। दुर्भाग्य से उसका अभी अध्ययन विस्तार से नहीं हो सका है। हम तो अकेले सबके साथ

फिर उसमें विश्वास जागता है और इस प्रकार सामाजिक कुरीति भी उसी चेतना का रूप आकर ग्रहण करती है। दीप हमारे सामने फिर आता है, क्योंकि वह प्रकृति की अक्षय ज्योति का प्रतीक जो है। उसका आदर्श बनाकर मानव ने अपने कष्टों को झेल लेने का एक साधन बना लिया है

मैं न बुझूँगी, अमर दीप की ज्वाला हूँ, बाला हूँ,
पल-भर किसी कण्ठ से लगकर छिन्न हुई माला हूँ,
प्रखर धार मे पड़ी तरी हूँ टूट गई पतवार,
मैं जाग्रत् भारत की विधवा, कुण्ठित प्रति की धार!
चिता भूमि की कुसुमित लतिका, लज्जित सौरभ भार वृथा।
किसे सुनाऊँ करुण कथा ?

—जानकीवल्लभ शास्त्री

यह दीपक जब बुझ जाता है तब वह कवि को कोई प्रेरणा नहीं देता। केवल जड भौतिक मे उसे सांत्वना नहीं होती। सभ्यता यदि निष्प्राण है तो वह संस्कृति का निर्माण करने मे असमर्थ है। अतः वह त्याज्य है। प्रकृति का वही रूप मानव को पसंद है जो उसे आगे का मार्ग दिखा सके, सब अवस्थाओं मे उसके हृदय को एक शक्ति दे सके

यह बुझा दीपक, घिनौना मृत्तिका का पात्र!
दग्ध उर मे रह गई है स्नेह की दो चार बूँदें मात्र!
रात्रि-भर जलकर किया पथ का अँधेरा दूर
धूम्र बनकर इसीपर सब छा गया वह क्रूर
भिक्षुकी के ठीकरे-सा हो गया यह दीन
सतम-नभ-सा करुण काले बादलों मे लीन
बुझ चुकी है प्राण-वाली चेतना इसमे नहीं अणु मात्र!

—देवनारायण [illegible]

किंतु क्या इसका जीवन व्यर्थ चला गया? नहीं। कवि यह भी कह जाता है कि इसके कार्य को स्नेह दो, इसकी जडता को नहीं, क्योंकि अब यह काम नहीं आ सकता। यह दीप हमारी वेदना से जल रहा है। कवि कहता है

हमारी व्यथा की जलन से
दिया की शिखा जल रही है।

×

हमारी चिता की लपट से
प्रभा की शिखा बल रही है।
पिघल ढल रहे नर्म मरमीं हृदय के

मूर्तिमान हो गई जहां सुरूप कामना!
देश में अनेक वर्ग वर्ण जाति धर्म हैं
भाव हैं अनेक बोल हैं अनेक कर्म हैं
कोटि-कोटि रूप में परंतु एक प्राण हैं।
मान एक ज्ञान एक, ध्यान एक गान हैं।
एक आज शक्ति है, एक भाव भक्ति है!
कोटि-कोटि प्राण की अभिन्न आज भावना
आज कोटि-कोटि का जिसे कि बाहुबल मिला
कौन कह रहा कि वीरभूमि आज निर्बला
आज जागरण हुआ कि हम सदा स्वतन्त्र हैं
आज लोक के स्वकीय तंत्र मंत्र यंत्र हैं
आज एक कल्पना, आज एक चिंतना
आज भावना यही, समस्त सिद्धि साधना!

—सुधीन्द्र

यह कविता बहुत ही गेय और ऊर्जस्वित गरिमा का प्रतिनिधित्व करती है। स्वर्गीय सुधीन्द्र की अमर कीर्ति की स्थापना के लिए यह एक कविता ही काफी है। यहां हम केवल यशोगान नहीं पाते, प्रकृति का वरदान भी पाते हैं। जाति-द्वेष हटता हुआ दीखता है और करोड़ों की अपार शक्ति हरहराती हुई सुनाई देती है। यह कवि की एक श्रेष्ठ कविता है, जिसे देश-प्रेम की कविताओं में अवश्य ही सकलित करना चाहिए।

देश और विश्व का संघर्ष भी एक होता दीखता है

जागे मंगल वाणी!
नवयुग की पगध्वनि में जागे अखिल विश्वकल्याणी!
जागे जन पद-ग्राम-नगर में
गृह-वन में सरिता-सागर में
अथक विहग-सी नीलाम्बर में
जागे जनगण के अंतर में
स्वप्न-भंग-से निर्झर-सी फिर बहे अमर युगवाणी।
महामृत्यु के पथ में गूंजे कवि की भैरववाणी!
जागे जन पशुहीन नगर में
नवयुग के उन्नत शिर भर में
अरुणोदय-से नीलाम्बर में
जागे मुक्त राष्ट्र के स्वर में

तो भूखी शृगार - भावना
दीवाली त्योहार मनाती।

—विद्यावती कोकिल

अधकार को मिटाकर घर-घर आनद होता, तब ही शृगार की भूखी भावना दीवाली का त्योहार मनाती। अन्यथा आनद मिले भी कैसे ? दूसरे पक्ष मे जब परमात्म वेला का स्पर्श होता है तब मनुष्य सर्वात्म के आलोक पर न्योछावर होना भी श्रेयस्कर समझता है

तुम दीपक हो, मैं लघु पतंग,
हे देव ! तुम्हारे जलने मे है कर्मयोग की मृदु उमग।
तुम जलते मिलती उजियाली, मैं जलता होती अंधियाली,
पागल प्राणी मैं कहलाया, प्रभु ! जला तुम्हारे सग-सग !

—तारा पाण्डे

कितनी करुणा से मनुष्य कहता है कि उसे अपनी सत्ता, अपनी वासना और अह की इतनी स्वीकृति नही चाहिए, जितनी इसकी कि उसकी वेदना पहचान ली जाए। वह अपनी वेदना को बहुत प्यार करता है

देव मुझको भूलकर इन आँसुओ को जान पाते।

—तारा पाण्डे

करुणा अपने आचल मे न जाने कितने सुख-स्वप्न लिए आती है। सुख-दुख के दोनो पक्ष उसमे अतर्निहित होते हैं। वह आनद हो, या वेदना, दोनो मे ही एक-सा सान्निध्य प्राप्त करने का इच्छुक बना रहता है। जलना और बुझना एक आनद भी देते हैं। अपने 'प्रथम मिलन' मे कवि अपने स्नेह की अभिव्यक्ति के लिए भी इसी समर्पण की शब्दावली का प्रयोग करके कहता है

दिये को लजा कर बुझाया गया है
शलभ मुस्करा कर बुलाया गया है—

—रामकुमार चतुर्वेदी

प्रेमी का इस प्रकार बुलाना और फिर दीप को बुझा देना—दीप यानी कुतूहल का रूप।

प्रेम की प्रतीक्षा भी इसी प्रकार आज अभिव्यक्ति पाती है, और वह इतनी गूढ है कि उसे हम दर्शन की गहराइया अपने मे समेटे देखते हैं।

'जुगनू' मे बच्चन ने इन दोनो भावो को मिला दिया है। अनत विस्तार मे वह प्रकाश का एक कण उसके लिए अस्तित्व का प्रतीक बन जाता है। कवि कहता है

अँधेरी रात मे दीपक जलाए कौन बैठा है ?

तो ईट देहों की नस-नस का, कस कहीं रक्त ना उबल पड़े
हम भारत पर बलिहार वीर!

—चन्द्रभूषण त्रिवेदी

अपने पूर्वजों के प्रति उसे बड़ा अभिमान है। ऐसे पूर्वजों की धरती का कोई क्या बिगाड़ सकता है। किसका रक्त उसकी रक्षा के लिए नहीं उमड़ पड़ेगा। वे सारे इस भारत पर बलिहारी हैं।

वैसे दशा देखी जाए तो कवि के पास क्या है?

"न स्वर्ण की तरी पास है, न पर्ण की तरी है। मानचान यहाँ समुद्र की तरी भी नहीं दीखती। किन्तु असीम शक्ति अपनी बाहु में रखनेवाले अनन्त स्वप्न के धनी! तुम हार न मानना। तुम्हें लहर पुकार रही है। सामने विनष्ट विश्व है किन्तु हार न मान लेना, क्योंकि लहर नवीन सृष्टि का स्वप्न लेकर तुम्हें निहार रही है।"

(जमुनाप्रसिंह)

सारा देश ही दरिद्र है। केवल एक स्वप्न है। शक्ति है तो भुजाओं की। समष्टि ही शक्ति है।

अरुणोदय में गाने योग्य एक सुंदर गीत यह है

जगा है फिर से भारत देश
पूर्व क्षितिज पर अरुणिम आभा का नूतन उन्मेष
कीर्ति धवल हिमवान मुकुट है
विस्तृत शाद्वल सुख सम्पुट है
गंगा-यमुना की धाराएँ
जिसके अधर को सरसाएँ
शीतल रस से सोंधभीन है जिसकी भूमि अशेष
सिंधु तरंगित है चरणों में
अनुस्तित है जो उपकरणों में
ऊँचा जिसका अमर पताका
जो शाश्वत आधार विभा का
सदा सर्वहित और समन्वित जिसका सन्देश
श्री-शोभा है जिसकी रानी
क्षमा-शान्ति का जो विश्वासी
युग-युग के उत्थान-पतन का
साक्षी है जो जन-जीवन का,

और आशा अपने प्रिय को पहचान गई है। उसके लिए सारा जीवन एक धारा के समान बहने को तत्पर हो गया है। वह धारा ऐसी है जिसका पथ कोई नहीं रोक सकता :

आशा का दीप जला है पाकर अब मृदुल इशारा
छूने चरण हृदय वन, मैं बहती हूं बन धारा।
उन्मत्त हृदय ने बंधन अब तोड़ दिये हैं सारे,
अब छिप न सकोगे तुम भी 'मेरी आंखों के तारे।'
वह टूट चुकी है कुटिया, वह टूट गई फुलवारी,
थीं जहां बहुत-सी कलियां मुझपर वारी-बलिहारी।
थी जहां कोकिला गाती मृदु गाया प्यारी-प्यारी
बहती थी निकट कुटी के निरिबाला शुचि सुकुमारी।
थी कल-कल, छल-छल, अविरल, चलती बल खाती धारा,
गाती थी, इठलाती थी, जाती थी चूम किनारा।
मिल मलिन सलिल अवनी का जिसमें हो जाता निर्मल,
था नहीं कलंकित छल से वह दुग्ध-धवल शुचि अचल।

×

ऊंचे पर्वत भी जिसका पथ रोक नहीं पाते थे
उस पानी की धारा से कट रज-कण बन जाते थे।

—हरिकृष्ण प्रेमी

परंतु विनाश बहुत ही विकराल सत्य है। वह भी अंधकार ही है। उसके सामने किसीकी नहीं चलती। प्रकृति के कार्य-व्यापार में मनुष्य की पीड़ा का मूल्य कुछ भी नहीं है। कर्म और पुनर्जन्म के विचार इसी प्राकृतिक निर्ममता के लिए व्याख्यास्वरूप थे। आज का कवि मानता नहीं इसे पूर्णतः। अतः मानव की सत्ता की लघुता उसे बहुत अधिक कचोटने लगती है। कवि कहता है

अरी पगली ! न यम के राज में आंसू पहुंचता है
अरी पगली, व्यर्थ ही प्रीति का पक्षी कुहुकता है
किसीके प्यार का दीपक जला, जलकर बुझा जग में
जला दे देह का दीपक किसीके प्यार के मग में
युगों से टूटते जलते गगन में चांद के दीपक !
अतुल अवसाद के दीपक !

—रघुवीरशरण मित्र

एक ही सांत्वना है। यह जीवन प्यार के हित दीप-सा जले, बस यही काफी है। आकाश का चंद्रमा भी न जाने कितनी बार जलकर बुझ चुका है। इससे भी अधिक

परेशान हो गया, जैसे हिन्दी साहित्य के इतिहासकार परवर्ती रीति कवियों की भीड देखकर होते रहे हैं। युग-विशेष मे जैसे स्वर मे स्वर मिलता ही है, वही बात है, परतु अधिकाश उसमे नया स्वर है

> ग्राज शत-शत कण्ठ मे फिर स्वरों का वरदान जागा
> ग्राज जन-जन के हृदय मे मुक्ति का सम्मान जागा
> ग्राज जागा शेष कि कॉपी धरा नभ डगमगाया
> ज्येष्ठ के मध्याह्न से स्वर-ताप जब मैने चुराया
> कण्ठ मे स्वर नवल जागा हृदय मे बन सबल जागा
> नयन मे नव ज्योति जागी देह पर नव वेश जागा
> ग्राज मेरा देश जागा देश का अभिमान जागा
> ग्राज मेरे देश के अपमान का प्रतिशोध जागा
> ग्राज कण-कण के हृदय मे शक्ति का उपमान जागा !
>
> —जगदीश

शत, कोटि, ही आगे आनेवाले शब्द है। इतना निश्चित है कि हिन्दी का कवि एक बहुत बडे शिविर मे आ गया था और उसे अतीत की उलझन रोक नही पाती थी।

"अतीत के हिम झॅखने से क्या लाभ ! चिर नवीन के अमर राग से वीणा को मुखरित करो। नियति क्रूर और निर्मम है। उससे भिक्षा मत मागो। जीवन तो वर्तमान ही मे है।" (मनोरजनप्रसाद सिंह)

वर्तमान के प्रति इतनी अधिक आसक्ति देखकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक बार चौंक उठे थे। उन्होंने कहा था कि कवि का सदेश राष्ट्रीय परिधि के भीतर बधकर नही रह सकता, क्योकि देश के स्वतत्र हो जाने पर समस्याए बदल जाएगी। किंतु युग की पुकार बहुत सबल थी। उनका भी स्वर डूब गया। राष्ट्रीयता घर-घर का दीपक बन गई। जो भी हो, आवेश को तो एक रूप प्राप्त करना ही था, और उस समय वह जन्मभूमि के नाम पर मूर्त हो उठा। हम देखते हैं कि भारतीय चेतना की परपरा के कारण ही जन्मभूमि के प्रति आसक्ति बाह्य रूप तक ही सीमित नही रही, उसका अतस्थ भी कवियो ने प्रदर्शित करने का यत्न किया क्योंकि यहा की सामाजिक व्यवस्था का सैद्धातिक निरूपण प [illegible] निश्चित हो जाने की परपरा हमे वेद के 'विराट पुरुष' मे ही मिल जाती है।

> अयि ! तुम भूतल पर आदि-किरण की माता
> दिव का मस्तक भी जिसे देख झुक जाता
> ले रश्मिलोक का मंगल मुकुट करो मे
> वह तेरे पुण्य पगो तक बढता आता

है। यह है वह मानव की अतीन्द्रिय चेतना जो माटी में से उजागर हो उठी है। कवि उसका वर्णन करता है

> इस मिट्टी के दीप, चेतना की बत्ती को, स्नेह मिला जब
> कहा विरोधी तत्त्वो ने, बस और चाहिए एक जलन अब!
> तुमने लपटों की उँगली से मेरा स्नेह-दीप जब बाला।
> सहसा ज्योति जगी अन्तर में अन्धकार बन गया उजाला।
>
> ×
>
> आँधी आई, पानी बरसा, राख धूल ढँक-ढँककर हारी
> पर न बुझी उल्टी भड़की ही,मूल शक्ति-सी यह चिनगारी!
>
> —शिवमंगलसिंह सुमन

यह दीप केवल स्नेह के बल पर जीवित रहता है। किंतु उसे विरोधी तत्त्वों ने जलन भी दे दी है। यह मूल शक्ति की चिनगारी है। यह व्यक्ति में भी है, समाज में भी। यह युग में है। युग हमारा एक नया पात्र है।

युग और दीप दोनों परस्पर एक-दूसरे के लिए लालायित-से हमें नयी कविता में दिखाई देते हैं। युग जिस चेतना का अमूर्त व्यक्तिकृत चेतन है, दीप उसीकी सुंदरता की अभिव्यक्ति है। मनुष्य का निर्माण ही इस समस्त के मूल में है। पहले का मनुष्य अपनी निर्माण-शक्ति पर गर्व नहीं करता था। आज का मनुष्य करता है। आज उसे अपनी सामर्थ्य के प्रति एक विश्वास-सा हो चला है। पुराना व्यक्ति प्रलय को स्वीकार कर चुका था, नया मनुष्य विनाश-काल समीप आता जानकर इस पृथ्वी ग्रह को छोड़कर महाशून्य में निकल जाने की योजना बना रहा है। तभी उसमें गतिरोध पैदा हुआ है। सामर्थ्य से पूर्व ही उसका मन आगे बढ़ गया है। वह महानाश को बंदी कर देना चाहता है, क्योंकि उसे लग रहा है कि वह मंजिल के बहुत पास आ चुका है

> युग के धुधमारे मंदिर में
> फिर से रश्मों के दीप जले।
> लो मैं उजियाले के घेरे
> फिर आस्मान की ओर चले।
> हम पीछे बंदी कर आये
> उस महानाश की छाँह श्याम,
> चलकर आये हैं अग्नि-पथ—
> इस युग के दृढ़ निष्कंप चरण—
> अब दूर नहीं मंजिल विराम
>
> ×

सदियों सो ही रहीं, हाय, तुम श्रद्धा-कामकुमारी!
पूर्णकाम देवेन्द्र इन्द्र ने ठगा, तजा गौतम ने
रघुनायक ने निर्वासित कर दिया लोकरंजन में!
लक्ष्मण और बुद्ध ने तप का समझा कब अधिकारी!
नाच नचाता स्वर्ग, बनाकर तुम्हें उर्वशी-रम्भा?
गिरने पर भी नहीं गिरीं तुम रहीं शक्ति जगदम्बा?
सती आज भी दक्ष प्रजापति अहम्मन्य अविचारी?
मदोन्मत्त हैं मनुज आज भी स्वामी बन सत्ता के
कर शिव को निर्वासित रचते यज्ञ शक्तिमत्ता के!
शंकर प्रलयंकर की सहचरि बनो पुनः तुम्हारी।
युग-युग से इस पुण्य देश पर घन जड़त्व मँडराया
महिषासुरमर्दिनी बनो फिर भुवन-विमोहिनि माया।

×

बनो महालक्ष्मी, अँधियारी—जगती करो उजारी!
सागर का नीलोत्पल, श्यामल शतदल वसुन्धरा का
पदतल पाने को लालायित उदित भानु रँगराता!
प्रज्ञापारमिता दर्शन दो पावन मंगलकारी!—   नरेन्द्र

उसने अवहेलना भी की, परन्तु भारतीय संस्कृति तो बहुत व्यापक है। अंत में उसे भारतीय परंपरा में ही उपमान मिल गए। वह केवल दृष्टिकोण का भेद चाहता है।

भारत ज्यों-ज्यों देशांतरों के संपर्क में आया और जैसे उसने अपने अतीत को देखा, उसके दृष्टिकोण की संकीर्णता भी कम होती गई। देश के झगड़ों को देखकर कवि समझाता है

×

गंगा किसकी नदी नहीं है भारतवर्ष न किसका है?
आर्य, बौद्ध, हिंदू, ईसाई सभी गोद में खेल चुके,
लहरों के उत्थान पतन को, मुस्लिम जन भी झेल चुके,
सबने इसका फल खाया है स्निग्ध दुग्ध का स्वाद लिया,
इस मिट्टी की हवा रोशनी अन्न और जलपान किया!
भावपूर्ण जीवन का दर्शन शाश्वत हर्ष न किसका है?

×

पृथ्वी का है मुकुट हिमालय भूमण्डल का है सागर
भारत की सीमा क्या कोई? यह क्या किसी जाति का घर?

भोग-लिप्सा आज भी लहरा रही उद्दाम
बह रही असहाय नर की भावना निष्काम,
भीष्म हों अथवा युधिष्ठिर, या कि हों भगवान
बुद्ध हों कि अशोक, गांधी हों कि ईसु महान,
सिर झुका सबको, सभीको श्रेष्ठ निज से मान,
मात्र - वाचिक ही उन्हें देता हुआ सम्मान,
दग्ध कर पर को, स्वयं भी भोगता दुख-दाह
जा रहा मानव चला अब भी पुरानी राह।
अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभियान
खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान
शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार
दौड़ना रह - रह उठा उन्माद की तलवार
द्रोह से अब भी वही अनुराग
प्राण में अब भी वही फुंकार भरता नाग।

—दिनकर

कब आएगा वह दिन, जब कुछ व्यक्ति ही नहीं, सारे संसार में मन के भीतर उजियाला फैलेगा। उसकी संस्कृति वास्तव में जागेगी ? कब वह महान ज्योति में अपनी ज्योति मिलाने के योग्य हो जाएगा। उसने जो चेतन प्रतीक बनाए हैं, उनके प्रति कुछ ही बलिदानी क्यों सब कुछ त्यागते हैं। क्यों नहीं सारा लोक ही सन्नद्ध हो जाता। क्या ऐसा हो जाने पर मनुष्य का अपार कल्याण समीपतम नहीं आ जाएगा ? दिनकर ने बहुत गहरा प्रश्न उठाया है। इसका अब तक केवल यही उत्तर मिल सका है

*अमा की निशा में, मधुर स्नेह दीपक जले, छा गया पथ पर नव उजेला !*

विहँसती दिशाएँ सुधी के दियों से
सरसती दिशाएँ नई रश्मियों से
कहीं भी नहीं नाम है शेष तम का—
कहीं भी नहीं नाम है शेष भ्रम का—
नई भावना से भरा आज जीवन, धरा पर सरस हास का मुग्ध मेला !
लिये हाथ में आरती भव्य वीणा
रही गा युगों बाद फिर से प्रवीणा
सुहाने स्वरों से महा मौन मुखरित
सुहाने स्वनों से विजन - वीन झंकृत
नई कामना से भरे प्राण तन-मन रहा अब न पथी डगर पर अकेला !

कविता में पुराने काल से यह भेद है। पहले कालों में अतीत का मोह अधिक था, नये काल में निर्माण के प्रति उत्कट लालसा है और अब पीछे मुड़कर देखने की बजाय, वह सारी परंपरा को समेटकर आगे बढ़ता हुआ मिलता है

जय जय भारत, जाग्रत भारत !
किरणों का पहिने अरुण मुकुट
जिसका हिमाद्रि-सा उच्च भाल !
शत-शत स्वर्णिम सौंदर्य मंजुल
गंगामयि मंगल कण्ठमाल !
पूजित करते पद तल
रत्नाकर धरता उर अंचल
लहराता दिशि-दिशि हरा-भरा
कोमल श्यामल चंचल अचल
अभिषेक कर रहा अरुण कलश
ले ढाल सुधा अम्बर विशाल !
वितरित कर प्रतिपल सुर अविरत !
भूषित भारत ! जीवित भारत !
जय जय भारत, जाग्रत भारत !

—सुधीन्द्र

भारत वस्तुतः एक दुःखी और शोषित मानव है। इस प्रकार जो चित्रीकरण हुआ है, उसमें भारत अपनी समस्त प्राकृतिक छवियों के साथ भी एक नर-रूप में आता है, या जननी-रूप में। फलतोमत्वा यह भी काव्य का एक नया 'पात्र' है। इसी बिंब में कवि कहता है "मानव ! तुम मृत्युञ्जय, अविनश्वर हो। अमर-अमर क्या मर सकते हैं ? जब तुम स्वयं ही महा अनल के पिण्ड हो तो फिर चिनगारी से क्या डरते हो ? तुम्हारे स्पर्श कर अंक पर ब्रह्माण्ड डोल उठता है। क्रांति स्वयं तुम्हारी सहचरी है। प्रलय तुम्हारा चिर अनुचर है। विजय स्वयं उपहार लिए तुम्हारा अभिनंदन करने को विह्वल है।" (सुधीन्द्र)

भारत में मानवता का विकास हुआ है। इस सत्य को इतिहास भी दुहराता है। इससे कवि प्रेरणा भी पाते हैं। महानता तो भारत में तब भी थी जब वह दासत्व की शृंखलाओं में बंधा रहा। यह सत्य इसी से प्रमाणित होता है कि भारत में सदैव ही महापुरुष जन्म लेते रहे। यह भारतीय संस्कृति में व्यक्ति को महत्त्व देने का ही परिणाम रहा है, जिसने सभ्यता को बाह्य और संस्कृति को शीलपरक माना है

शान्ति, प्रेम, संयम की जननी भरत-भूमि यह

परंपरा में उनको ढूंढता है जिन्होंने जनता के सुख के लिए संघर्ष किया था और स्वतंत्रता के वातायनों को खोला था। यह स्वतंत्रता राजनीतिक हो, या बौद्धिक, सब ही कवि के लिए अब अपना महत्त्व रखती है, क्योंकि वह उन सबसे स्फुरण प्राप्त करता है। इसीसे कवि उसे वंदनीय मानता है, क्योंकि उसमें जनता का हित निहित है। वह अंत में देश की शक्ति के सच्चे रूप की वंदना करता है

जन-बल तेरी
जय हो! जय हो! जय हो!
भारत भू पर
स्वयं प्रभु पर
और दास्य का
दमन राज्य का
क्षय हो! क्षय हो! क्षय हो!
मानव पशु को
क्रूर दनुज को
रक्तपात का
बंधु घात का
भय हो, भय हो, भय हो!
युद्ध क्रान्ति का
हिंसा भ्रान्ति का
सत्य अहिंसा
प्रेम शांति में
लय हो, लय हो, लय हो।
जाति-जाति में
देश-देश में
मुक्ति क्षेम का
विश्व प्रेम का
जय हो, जय हो, जय हो!

—नेत्रनारायण नाक

बात जाति-जाति, देश-देश के प्रेम में जाकर समाप्त होती है। जनता का अर्थ बनता है देश-प्रेम! किंतु जनता सुखी कैसे हो! तब विश्व की आर्थिक व्यवस्था पर कवि की दृष्टि जाती है और वह वर्ग-संघर्ष को देखता है।

मे मानव भटक रहा है।" (बच्चन) किंतु उसके सामने आज तूफान है

लहराता तूफानी सागर
अक्षय निधि वारापार नहीं
इसका कोई आकार नहीं
इस पार किनारा यह इसका
उस पार कहाँ रुकता जाकर
छोटे नद-नदियो से हारा
हो गया रुदन से जल खारा
जल भरने यहाँ नहीं आती
वह नवल सलोनी ले गागर
आकाश चूमने को जाता
पर जल्दी लौट तभी आता
खारे पानी को छूते ही
गल जायें न तारे घबराकर

—देवराज दिनेश

"कभी जब कविता वन मे रहती थी तब कवि दर्शन मे डूबे रहते थे। फिर वे सामंती सुरासुन्दरी मे फस गए। भक्ति की लहर के बाद शृगार की व्यभिचार-भरी उन्मत्तता आई। फिर कवि स्वप्नो मे डूब गया। परतु वन मे आग लग गई। तब वह बस्ती मे आ गया। और कवि की जीभ पर जहर उतर आया, क्योकि बस्ती मे आग लगी हुई थी।" (तेजनारायण काक) अब "प्रेम की मदिरा को गगाजल माननेवाला, धर्म का उपहास करनेवाला, सौंदर्य मे डूबा हुआ कवि, जो स्वय ही साकी और स्वय ही पीनेवाला था।" (बच्चन) "हर कदम पर जीवन की चुनौती देखने लगा। अतिम मजिल तो कही नही दीखती। केवल धूमिलप्राय तन मे विश्वास बचा रहा। सितारो ने आशा का एक भी सदेश नही दिया। प्रकृति ने पथ मे एक भी मगल शकुन नही किया। अब उसे उस पार का भी भय नही रहा। मृत्यु-पथ पर वह बढ चला निर्भय। वह तो किसीके हाथ का साधन-मात्र था। मानो उसके द्वारा केवल सृष्टि की कोई माग पूरी हो रही थी। आकाश की भुजाओ मे रजनी खिच गई और निरुपम रुपहरा चाद छोर पर टिक गया। उसने बार-बार अपना प्यार दिया।" (बच्चन) "ज्ञानी ने मानस-मथन करके इस ससृति को मृगमरीचिका माया कहा, समाधिरत साधक योगी ने इसे भोग-छाया। वे सब जीवन से भाग गए। प्रेमी ही मरण के आगे चल सका।" (सुधीन्द्र) "धूल मे मिलने से डर हट गया, क्योकि फिर दीपक बनने की सभावना जाग गई। अगले जन्म मे दीप बनकर डगर मे जलने की कामना ने उसे नया विश्वास दे दिया।" (रामकुमार चतुर्वेदी)

ओ मिट्टी के पुतलो, जागो, युग-युग की तन्द्रा त्यागो
सुनो कि वसुधा के कण-कण में गूँज नया संगीत गया!
मिट्टी का विश्वास सजग हो गीत प्रगति के गाओ तुम,
अपनी नित नूतन रचना से भू को स्वर्ग बनाओ तुम,
अब न अदृष्ट की डोर पकडकर भटको मत सूनेपन मे,
पौरुष का प्रदीप ले जग को अभिनव पथ दिखलाओ तुम!

—धर्मेन्द्र शर्मा 'कमलेश'

विनाश में से उसे सृजन मिला है। अथवा कहा जाए कि उसने उसे अधिक महत्त्व दिया है। अपनी नूतनता को उसने प्रकृति के भीतर भी देखा है। युग-युग की तन्द्रा मनुष्य की टूटी है। प्रकृति का नयापन सदैव ही उपस्थित था। पहले माटी में विश्वास नहीं था। उसे त्याज्य और जड समझा जाता था। अब उसे विश्वास मे सजोया जा रहा है। शेक्सपियर ने चेतन एरियल के संपर्क में आने पर यह स्वीकार किया है कि धरती का तत्त्व कलुष कैलीबन ही प्रमुख है। नया कवि इसे स्वीकार नही करता। उसने अपने पौरुष का दीप उठाया है और वह पथ दिखाना चाहता है।

मनुष्य की बनाई सारी सुन्दरता का प्रतीक 'दीप' है और उसने उसे बहुत प्रेरणा दी है। उसमे ऊहापोह भी है

वह भली आसक्ति है जो भक्ति मे घुल-घुल रही,
भक्ति है जो भोग के सौंदर्य मे खिल-खिल रही,
बुद्धि है जो अब विकसकर भव्यता में मिल रही,
मेरी सब वृत्तियो की एक ही पुकार है,
एक ही अधार मेरे एक ही अधार है

—विद्यावती कोकिल

एकदम विद्रोह के स्थान पर आसक्ति भली है क्योंकि वह भक्ति का सहारा ले सकती है। भोग तो जीवन मे आवश्यक है, किंतु भोग अपनी स्थूलता में असुंदर होता है। उसे सुंदर तो भक्ति ही बनाती है। बुद्धि का अहकार भी उचित नहीं है क्योंकि वह अन्त मे कहीं न कहीं कुण्ठित हो ही जाती है। इसलिए उस आधार को मत छोडो जोकि इस जीवन का आधार है।

देखने में लगता है कि यह पराजय है। परंतु ऐसा नहीं है। यह केवल विद्रोह करने की आतुरता नहीं है, इसमें गंभीरता है। तारतम्य है। चिंतन है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें अस्तित्व को साधार माना गया है। वृत्तियों की एक पुकार होना प्रकट करता है, सारी सत्ता का निर्वाह अपने आधार को खोज चुका है। वह है प्रकृति का अपना मूल स्वरूप, जोकि मनुष्य में चेतना के रूप में प्रकट हुआ है। यह वह दूसरे पर

"यह मनुष्य अनंत जीवधार का एक तथ्य है।" (सुधीन्द्र) "अम्बर का अधिवासी तो उसकी पुकार सुनकर नही बोलता।" (आरसीप्रसाद सिंह)

"एक किरण के लिए जीवन का जलजात विकल है।" (जितेन्द्रकुमार) किंतु "इस धरती मे स्वर्ग है, मिट्टी मे अमृत तरुवर का मूल है। यह जीवन विरह का जलजात है।" (हंसकुमार तिवारी) "तन्मय हो प्राण तो फिर विरह-द्रोह कुछ नही रहता।" (शकुंतला रेणु)

नया कवि इसी चिंतन मे जब समाज की ओर देखता है तो वह अपने भीतर के परिवर्तन को वहा भी उतार लाना चाहता है। वह कह उठता है

तमाम नींव लुट चुकी, तमाम भीति गिर चुकी
समाज जीर्ण-शीर्ण आखिरी उसांस भर रहा
परम्परा बिगड़ चुकी, प्रतीत-रीति सड़ चुकी
सड़ा-गला समाज—कोढ़ फूट-फूट गिर रहा।
बदल रहा जहान है, उदय नया विहान है
नवीन अंतरिक्ष मे नया विहग विचर रहा।
प्रतीत भीति तोड़ता, नया प्रवाह मोड़ता
सजग सतर्क इन्किलाब विश्व मे बिखर रहा।
मशाल झिलमिला उठी, कि रूढ़ि तिलमिला उठी
प्रगाढ़ अंधकार—मुक्ति का चमक निखर रहा।
नया गगन, नयी धरा, समूल नव परम्परा
नयी दिशा, नयी उषा, समुद्र नव लहर रहा।
प्रकाशमय भविष्य है, सजग सबल मनुष्य है
उठा भुजा सशक्त—आज शंखनाद कर रहा।

—घनश्याम अस्थाना

प्रकृति का आज वह नया रूप देख रहा है। सब कुछ बदल देना चाहता है। अपने सबल पौरुष का उसे इतना विश्वास हो गया है। वह जानता है कि "रात को सूरज नहीं उगता, पत्थरो पर फूल नही खिल सकते। रेत से प्यास नही बुझती। मुर्दे गा नही सकते। किंतु वह सारी बाधाएं तोड़कर प्राण का संगीत गा रहा है।" (श्यामसुन्दर प्रधान) वह "संघर्षों के उद्गम मे आरम्भ हुआ है और आदर्शों के संगम तक उसे जाना है। वह अपना माथा अभिमानो के आगे झुकाने को तैयार नही, वह तो स्नेह के लिए सिर कटा सकता है। संस्कृति के नगर से दूर जाकर वह मरना नही चाहता। रुकने से निर्माण नही होता।" (वीरेन्द्र मिश्र) वह "नही चाहता कि सत्य का सपना स्वप्न के सत्य के लिए टूट जाए। जरा दुनिया कुछ ऊची उठ सके ऐसा सोटी का पत्थर उसे बनाना है। अपनी मंजिल का

बीच में मात्र छोटा-सा है। मंदिर भी श्रद्धा का स्थान है, इतना प्राचीन है यह धर्म का प्रतिनिधि कि जीवन में समा-सा गया। उसमें दीप जल रहा है। दीप है मनुष्य की धर्म-ज्वाला।

इस प्रकार मनुष्य ने जो कुछ विकास किया है वह ग्राम में चमत्कृत करनेवाला नहीं है, इतना पुराना है कि सहज हो गया है। सहज ही है मनुष्य का अपनी चेतना में विश्वास भी। तभी वह अपनी चेतना के आलोक में कहता है

जल रहे हो तुम युगों से रात तो फिर भी अंधेरी
जल चुकीं अब कामनाएँ प्रलय की पातें घनेरी
प्रलय झंझावात फिर भी ज्योति तो अवशेष तुममें
जगत में क्षण-क्षण मिटाए पर अटल विश्वास मन में
जल उठो तुम साधना में हो उठे संसार भासित
टक लगी रह जाय, पुलकें जल हृदय औ' प्राण विगलित।
जगमगाओ दीप मेरे।

—कैलाश शर्मा

तुम्हारी ज्योति कभी नहीं बुझी। उसने अनेक विपत्तियां सहन की हैं, परन्तु फिर भी ज्योति तो अवशिष्ट है। इसका कारण है मन का अटल विश्वास। यदि तुम साधना में लगकर अपने को उद्भासित कर दो, सारे संसार में आलोक छा जाए। जो दुखी हैं वे भी पुलक उठें।

यह है मनुष्य का दीप।

दीप चेतना का प्रतिनिधि है।

चेतना मनुष्यनिर्मित संसार की सूक्ष्म आत्मा है।

उस सूक्ष्म आत्मा को मनुष्य का विश्वास कहना उचित है।

यदि हम यह स्वीकार नहीं करते तो यह समझ में ही नहीं आता कि दीप साहित्य में इतना प्रमुख कैसे हो उठा। पहले कालों में दीप की इतनी महत्ता क्यों नहीं मिलती? दीप क्योंकि एक प्रतीक है, जिसमें मनुष्य की बनाई सुंदरता नैसर्गिक सुंदरता के तादात्म्य में रहती है, इसीलिए दीप इस युग में इतना अधिक प्रभाव डालने योग्य हो गया है।

विज्ञान कहता है कि अणु में कई परमाणु होते हैं। वे अननोस्कन्वा लहर हैं। लहर के रूप में वे शक्ति हैं। शक्ति प्रकाश है। यानी अन्न में प्रकाश है। इस प्रकाश की ही अभिव्यक्ति हमें कई प्रकार से साहित्य में मिलती है।

इसे हम दैनंदिन जीवन में विभिन्न कार्यरूपों में देखना ही अब उचित समझते हैं।

सन्ध्या हो गई है। दीप जल चुके हैं। मनुष्य अन्धकार को चुनौती दे चुका है। कवि

गा मंगल के गीत सुहागिन! चौमुख दियरा बाल के!
आज शरद की सांझ, अमा के इस जगमग त्यौहार मे
दीपावली जलाती फिरती नभ के तिमिरागार मे
चली होड करने तू लेकिन भूल न—यह ससार है,
भर जीवन की थाल दीप से रखना पाँव सँभाल के!
सम्मुख इच्छा बुला रही पीछे संयम-स्वर रोकते,
धर्म-कर्म भी बायें-दायें रुको देखकर टोकते,
जग-जग की ये चार दिशाएं तम से धुंधली दीखतीं,
चतुर्मुखी आलोक जला ले स्नेह सत्य का डाल के!
दीप-दीप भावो के झिलमिल और शिखाएं प्रीति की
गति-मति के पथ पर चलना है ज्योति लिए नवरीति की,
यह प्रकाश का पर्व अमर हो तम के दुर्गम देश मे,
चमके मिट्टी की उजियाली नभ का कुहरा टाल के।

—राजेन्द्रप्रसाद सिंह

यह कविता बहुत ही श्रेष्ठ रचना है जिसे बहुत ही अच्छी तरह गाया जा सकता है। प्रकाश का पर्व मनाने की घोषणा गूंज उठती है और फिर आती है अद्भुत कल्पना·

यह सध्या एक शमा-सी है
दिन के पर जलते जाते हैं—

—शिवबहादुर सिंह

और मनुष्य प्रेम को अब भी सर्वोच्च आसन देकर कहता है:

किसी भक्त ने देव की आरती हित बडे भाव से दीप मठ का जलाया
दूर हट, यह नहीं अर्चना प्रेम की कूक दी ने शलभ ने यती को भुलाया
प्रणय के नगर मे सफल प्रेमियो को जलन ही अधर और चुबन अंगारा।

—शिवबहादुर सिंह

उदात्ततम हो जाना आज भी मनुष्य की चेतना का एक लक्ष्य है। और इसे वह प्रकृति से निरन्तर सीख रहा है। तभी कवि-हृदय कहता है

अबर के आंगन मे जगते रहे सितारे रात-भर
चुप-चुप इगित मे चदा ने निशि से निशि-भर बात की,
आंखों मे आकुल शका थी आनेवाले प्रात की,
रहे खेलते आंख-मिचौनी घन कजरारे रात-भर।
मिट्टी मे मिल गई जवानी भोले-भाले फूलो की
आंखों मे रह गई सिसकती शेष कहानी भूल की

प्रस्तुत करता है कि उसे देखते ही बन पड़ता है। प्रायः ही कवि ने सब नयी कल्पनाएं की हैं

प्रात के पट पर किसी ने तूलिका से
बादलों के, लालिमा के औ' क्षितिज के
आंक डाले चित्र
जैसे नाट्यशाला में
किसीने दिये लटका नये पर्दे,
और सूरज ने किसी ऊंचे शिखर पर चढ़
कि अपनी बालसी उजली सुनहली धूप को
रथ से उतारा
लगा किरनों की नर्तनी,
और चंपा की कली के
खुल गये हैं नयन
जैसे नयी दुलहिन हरित अंचल
औ' हरी सलवार की कुरती सलवटें ठीक,
सुघड़ माटल ने लगाई है मिठाई की दुकान
कि भूले 'क्लासिक-प्रेमियों' की तरह दूदे भ्रमर
साधना में लीन भावुक की तरह सूरजमुखी ने
अर्घ्य देने युगल बाहों को पसारा
ओस के कन पहिन कर परिधान सतरंगी-अनूठे
एन० सी० सी० के जवानों की तरह
फौजी सलामी दे रहे हैं प्रात को।

—कन्हैयालाल मत्तदांक

इनमें दैनिक जीवन में देखे हुए चित्र हैं।

प्रभात में अब कवि ने "वे पन्ने फाड़ दिए हैं जिनमें उसकी स्मृतियां संगृहीत थीं। यौवन क्योंकि आगे देखता है इसीलिए वह हतभाग्य होकर रोना नहीं चाहता। उसे अपना भविष्य प्रिय है, वह अतीत को नहीं चाहता। वह अपने पथ पर बाधाओं से ही विजय-गीत सुनना चाहता है।" (श्रीराम शर्मा प्रेम) "यह धरा स्वर्ग मृत्युञ्जय स्वर्ग पा गई है। सदियों के तिमिर को मानवता ने पार कर लिया है।" (गिरिजाकुमार माथुर) "नये स्वरों में जवानियां शिंजिनी बजा रही हैं। वे लहू में तैर-तैरकर नहा रही हैं।" (दिनकर) तभी एकदम नई भूमि को हमारे सामने पसार देता है नया कवि

धरती में गड्ढा कर चिड़ियां धूल नहातीं,
और दुपेरों के उजाड़ को

जब - जब पवन संदेसा लावे
दीये की लौ - सी बल खावे
भाला दे - दे पास बुलावे
उफक देख मैं जानूँ मेरे
आए राजकुमार !
देखूँ जगल मे पटबिजना
गगन बीच तारो का खिलना
मैं जानूँ यह केवल छलना,
कौन कहे सचमुच आवेंगे
मेरे राजकुमार !

×

छीज रही तन-मन की बाती
दीये-सी हो रात सिराती
जीती तो फिर रात जलाती
कह भर देता कोई—मेरे
आते राजकुमार !

—नरेन्द्र शर्मा

राजकुमार उसकी कल्पना का सुंदर काम्य है। इसीलिए कवि का हृदय उसका वरण करने को स्त्री की कोमलता का अनुभव कर उठता है और कहता है कि आयु समाप्त हो जाती है। सकल सृष्टि इस दीप की भांति ही यत्न से अपने को घुलाती रहती है। लोकगीत जैसी यह कविता उमग का परिचय देती है। प्रश्न उठता है क्या यह पलायन का बिंब नही देती ? मैं समझता हू नही। प्राचीन काल से ही मनुष्य अपने दार्शनिक चिंतन को सहज बनाने को लौकिक कार्यों मे अवतरित करता रहा है। उसने पशु-पक्षियो तक की बातें करते दिखाया है। इसे उसने 'रति' मे सबसे अधिक निकट से अनुभव किया है। उर्दू काव्य मे तो साम्राज्यो के पतन भी प्रिया से विरह-निवेदन के रूप मे प्रकट हुए हैं। यह तो एक कामना है कि व्यक्ति का आतरिक जीवन भी अपनी सांत्वना पाता चले। कवि कहता है

दीप जल रहा गल-गलकर
ले तेरा ही विश्वास सहारा
कल ठुकराया जाता था
पाषाण आज भगवान हो गया।

×

बुर्ज घास की मृदु झाड़ियाँ
गोले के से घाव सोचते दह जाने को।
पंख और डाढ़ोंवाले
उन शेरों की ये शिला मूर्त्तियाँ
पानी-भरे धान खेतों में
खड़ी हुई हैं देती पहरा,
राजमंदिरों के खम्भों पर बने हुए
ये तेज हाँत के उड़ते ड्रैगन
रंग छोड़कर हाँफ रहे हैं
बुढ़िया पागल जैसी मध
हवाएँ चीख रही हैं रक्त सनी वे
इन-सत्ता घूरों के ऊपर
धुँए जला इतिहास खड़ा है
ज्वालाओं के जिसके केश बिछा कंधों पर
जली घास में लहर रहे हैं
सदियों के कोड़ों में खींची रक्त नदियाँ
महाकाश के नील कांस पर
महामनुज वह रक्त सना
बेहोश आज फिर जाग उठा है।

—नरेश मेहता

हाय धनी-गरीब ऐसे भेद रच डाले।
जहाँ नेह अभेद ऐसी एक बेला है।
जानता हूँ रात बीते प्रात होना है
प्रात होते तेज से अस्तित्व खोना है।

—भवानीप्रसाद तिवारी

हम एक और बड़े सत्य के पास पहुंचने के लिए जीवित हैं। वहां हमारी मान्यताएं भी क्षुद्र पड़ जायेंगी, किंतु तब तक का उनके द्वारा दिया साथ अपनी सार्थकता पूरी कर चुकेगा। वह उसको लोकहित में सर्वत्र चाहता है .

द्वार-द्वार पर अमन्द यह दिया जले
मुक्त द्वार हो न बन्द यह दिया जले!

सत्य बन असत् प्रवाह में,
बन प्रकाश तिमिर राह में
अमृतधार—मृत्युदाह में,

नव-नव रस रूप गंध स्पर्श शब्द ले
प्राण-प्राण बीच यह अमर प्रभा जले!

×

भ्रम की दीवार तोड़कर,
भय दुर्निवार तोड़कर
मुक्त ज्योति की उठे लहर

गृह वन गिरि सिंधु पार में गगन तले
देशकाल से अखण्ड यह दिया जले!

—शम्भूनाथ सिंह

यह दीपक आकाश और सकल लोक में प्रज्वलित होकर रहे। इसलिए कवि-हृदय इतनी भी स्पर्धा करता है कि प्रकाश के लिए भीख भी नहीं चाहता। स्वयं पर ही जो विश्वास है

मुझे राह में रोशनी मत दिखाना
मैं अपना ही दीपक जलाती चलूँगी।

किधर मेरी मंजिल किधर है किनारा
नहीं मुझको लेना किसीसे सहारा
तड़प कर मेरे दिल ने मुझको पुकारा
बताया है चुपके से मुझको इशारा

तिब्बत तक आते-आते
वे गोरी, उजली, लाल—

—नरेश मेहता

एक के बाद एक आपको एक नयापन मिलता चला जाता है। यह सच है कि प्रति से चमत्कार भी जन्म ले सकता है, किंतु वह तब होता है, जब कवि के पास कोई उदात्त संदेश नहीं होता। यहां वह है और पूर्ण जागरित है। उसे मानवता से प्यार है। प्रकृति उसके लिए मानव की चेतना को परिस्फुल करनेवाली है। वह सकल भूमा को एक मानकर कहता है

सुनो पृथिवीवासियो।
माता हमारी, महापृथ्वी
अग्नि है, धन-धान्य है,
रूपायनी सवर्णशीला है
यह सभी को लिए भी आकाश से
रूप पाने के लिये
इसलिये संघर्ष
जन की शक्ति है
हैं चरण, मस्तक और भुजाएं
'साम्यवादी' काल में
और जन का शत्रु वह
कीटाणुओं के बम गिराता है
असुर है, वृत्र है,
धूल इसके वसन हैं, मृत्यु इसका भाग्य ही है
हम विधाता भाग्य के इसके
पृथ्वीकृत हैं, श्रमिक हैं
और यह जन-शत्रु है।

—नरेश मेहता

सत् और असत् के संघर्ष के रूप में कवि ने लोक को दो वर्गों में बांटा है। परंतु वर्गों के विभाजन से भी बढ़कर है यहां उसका पृथ्वी के निवासियों को एक करने का प्रयत्न, जिसमें वह मधुमन्त जीवन की कल्पना करता है।

अब 'कल्पना होती जा रही है और जिंदगी पास आती जा रही है। डगमगाती जा रही है वह। केवल प्रणय नहीं, साथ में संघर्ष भी चाहिए क्योंकि तूफान चांदनी से नहीं थमते। पहले कभी उसका स्वप्न से संबंध था, किंतु तब वह मद था और वह बात

फिर उसमें विश्वास जागता है और इस प्रकार सामाजिक कुरीति भी उसी चेतना का रूप आकर ग्रहण करती है। दीप हमारे सामने फिर आता है, क्योंकि वह प्रकृति की अक्षय ज्योति का प्रतीक जो है। उसका आदर्श बनाकर मानव ने अपने कष्टों को झेल लेने का एक साधन बना लिया है

में न बुझूंगी, अमर दीप की ज्वाला हूं, बाला हूं,
पल-भर किसी कण्ठ से लगकर छिन्न हुई माला हूं,
प्रखर धार मे पड़ी तरी हूं टूट गई पतवार,
मैं जाग्रत भारत की विधवा, कुण्ठित शक्ति की धार!
चिता भूमि की कुसुमित लतिका, लज्जित सौरभ भार वृथा।
किसे सुनाऊं करुण कथा ?

—जानकीवल्लभ शास्त्री

यह दीपक जब बुझ जाता है तब वह कवि को कोई प्रेरणा नहीं देता। केवल जड भौतिक मे उसे सात्वना नहीं होती। सभ्यता यदि निष्प्राण है तो वह संस्कृति का निर्माण करने मे असमर्थ है। अत वह त्याज्य है। प्रकृति का वही रूप मानव को पसंद है जो उसे आगे का मार्ग दिखा सके, सब अवस्थाओं में उसके हृदय को एक शक्ति दे सके

यह बुझा दीपक, घिनौना मृत्तिका का पात्र!
दग्ध उर मे रह गई हैं स्नेह की दो चार बूंदें मात्र!
रात्रि-भर जलकर किया पथ का अंधेरा दूर
धूम्र बनकर इसीपर अब छा गया वह क्रूर
भिक्षुकी के ठीकरे-सा हो गया यह दीन
सतम-नभ-सा करुण काले बादलों में लीन
बुझ चुकी है प्राण-वाली चेतना इसमें नहीं अणु मात्र!

—देवनारायण शाक

किंतु क्या इसका जीवन व्यर्थ चला गया ? नहीं। कवि यह भी कह जाता है कि इसके कार्य को स्नेह दो, इसकी जड़ता को नहीं, क्योंकि अब यह काम नहीं आ सकता। यह दीप हमारी वेदना से जल रहा है। कवि कहता है

हमारी व्यथा की जलन से
दिये की शिखा जल रही है।
×
हमारी चिता की लपट से
प्रभा की निशा ढल रही है।
पिघल ढल रहे नर्म अरमां हृदय के

के लिए तो कुछ नये पग उठाने ही होंगे।" (महेन्द्र जोशी)

"चारों ओर खंडित मान्यताएं हैं। रूढ़ियां चीन की दीवार की तरह फैली हैं। विज्ञान के अनुसन्धान, नये आविष्कार, गर्वोन्मत्त। जगत् की छत पामीर को चुनौती दे रहे हैं।" (महेन्द्र भटनागर)

इसलिए नया कवि रात के ढलान में दूसरा ही सौंदर्य देखता है, क्योंकि इस समय वह दुःख से व्यंग्य पर उतर आया है:

इस सुबह के चाँद की मृदु चांदनी में
चल दिये टट्टू लिए टूटे हुए इक्के
(रथों के रूप बिगड़े)
सब पुराने कर्मयोगी
सिर घुटाकर आज उनमें हैं सुशोभित।
वे कुचलकर भी पुराने देवगृह को
जाएंगे वन्दन बजाने
क्योंकि सुंदर पर्व यह वरदान है भगवान का।

×

आज ऊंची चिमनियां भी
धूम्र उगलेंगी मगर, लोहबान का
आज मन्दिर की फिज़ां में
ऊदबत्ती की महक
चन्दन सुगंधित व्याप्त होगी
और पाटल गंध से अभिसिक्त जल की
अब वहां बरसात होगी।
क्यों सुनें वे दर्द की आवाज़ तेरी
स्वस्तिवाचन के क्षणों में ?

—हरिव्यास

आज का कवि "एक बार जी रहा है, एक बार मर रहा है, वह अपनी जान का सौदा एक बार कर रहा है। इसलिए अपनी जवानी के चिराग का एक बार तूफान में घर रहा है। कल काली रात चीरकर सवेरा आएगा। सितारों के देश से उसका सूरज आएगा। वह सोने की जवानियां साथ में लाएगा, वह अपने साथ फूलों की कहानियां लाएगा। इसीलिए वह इस रात की खामोशी और सुनसान में, सितारों के मकान आसमान में एक बार गीतों की रागिनी भर रहा है।" (गोपालसिंह नेपाली) "अश्वत्थ आज भी खड़ा है। मन स्थिर होता है, भ्रम मिट जाता है, माया टूट जाती है। अश्वत्थ के तले किसको ज्ञान

तो भूखी शृंगार - भावना
दीवाली त्योहार मनाती।

—विद्यावती कोकिल

अंधकार को मिटाकर घर-घर आनंद होता, तब ही शृंगार की भूखी भावना दीवाली का त्योहार मनाती। अन्यथा आनन्द मिले भी कैसे ? दूसरे पक्ष मे जब परमात्म बेला का स्पर्श होता है तब मनुष्य सर्वात्म के आलोक पर न्यौछावर होना भी श्रेयस्कर समझता है

तुम दीपक हो, मैं लघु पतंग,
हे देव ! तुम्हारे जलने मे है कर्मयोग की मृदु उमग।
तुम जलते मिलती उजियाली, मैं जलता होती अँधियाली,
पागल प्राणी मैं कहलाया, प्रभु ! जला तुम्हारे सग-सग !

—तारा पाण्डे

कितनी करुणा से मनुष्य कहता है कि उसे अपनी सत्ता, अपनी वासना और अह की इतनी स्वीकृति नहीं चाहिए, जितनी इसकी कि उसकी वेदना पहचान ली जाए। वह अपनी वेदना को बहुत प्यार करता है

देव मुझको भूलकर इन आँसुओं को जान पाते।

—तारा पाण्डे

करुणा अपने आचल मे न जाने कितने सुख-स्वप्न लिए आती है। सुख-दुःख के दोनो पक्ष उसमे अंतर्निहित होते हैं। वह आनंद हो, या वेदना, दोनो मे ही एक-सा सान्निध्य प्राप्त करने का इच्छुक बना रहता है। जलना और बुझना एक आनद भी देते हैं। अपने 'प्रथम मिलन' मे कवि अपने स्नेह की अभिव्यक्ति के लिए भी इसी समर्पण की शब्दावली का प्रयोग करके कहता है

दिये को सजा कर बुलाया गया है
शलभ मुस्करा कर बुलाया गया है—

—रामकुमार चतुर्वेदी

प्रेमी का इस प्रकार बुलाना और फिर दीप को बुझा देना—दीप यानी कुतूहल का रूप।

प्रेम की प्रतीक्षा भी इसी प्रकार आज अभिव्यक्ति पाती है, और वह इतनी गूढ है कि उसे हम दर्शन की गहराइया अपने मे समेटे देखते हैं।

'जुगनू' मे बच्चन ने इन दोनो भावो को मिला दिया है। अनत विस्तार मे वह प्रकाश का एक कण उसके लिए अस्तित्व का प्रतीक बन जाता है। कवि कहता है

अँधेरी रात मे दीपक जलाए कौन बैठा है ?

नया विषय है, तभी उसके विषय की कविता भी नयी है। वह एक दीप है। दीप में आलोक है। वह आलोक है, दिया नहीं। आलोक सर्वत्र पूज्य है, अतः मानव पूज्य है। एक कवि कहता है कि वह आलोक कभी बुझता नहीं

बुझी न दीप की शिखा अनन्त में समा गई!
अमन्द ज्योति प्राण-प्राण बीच जगमगा गई!
अकम्प ज्योति-स्तम्भ वह पुरुष बना
कि जड़ प्रकृति बनी विकासी चेतना
न सत्य बीज मृत्तिका छिपा सकी
उगी, बढ़ी, फली अरूप कल्पना,
न बँध सका असत् प्रमाद पाश में प्रकाश तन
विमुक्त सत् प्रभा दिगंत बीच मुस्करा गई!
मरा न कामरूप कवि बना अमर
कि कोटि-कोटि कण्ठ में हुआ मुखर
मिटा न काल का प्रवाह बन घिरा
असीम अन्तरिक्ष में अनन्त स्वर
न मन्त्र स्वर अमूर्त सँभाल मृण्मयी धरा सकी,
त्रिकाल रागिनी अनन्त सृष्टि बीच छा गई।

×

जिसे न पाश तन बना, न छू सका मरण चरण
विराट चेतना अरूप बन स्वरूप पा गई
बुझी न दीप की शिखा, असीम में समा गई।

और आशा अपने प्रिय को पहचान गई है। उसके लिए सारा जीवन एक धारा के समान बहने को तत्पर हो गया है। वह धारा ऐसी है जिसका पथ कोई नहीं रोक सकता '

आशा का दीप जला है पाकर अब मृदुल इशारा
छूने चरण हृदय बन, मैं बहती हूं बन धारा।
उन्मत्त हृदय ने बंधन अब तोड़ दिये हैं सारे,
अब छिप न सकोगे तुम भी 'मेरी आंखों के तारे।'
वह टूट चुकी है कुटिया, वह टूट गई फुलवारी,
थीं जहां बहुत-सी कलियां मुझपर वारी-बलिहारी।
थी जहां कोकिला गाती मृदु गाया प्यारी-प्यारी
बहती थी निकट कुटी के गिरिबाला शुचि सुकुमारी।
थी कल-कल, छल-छल, अविरल, चलती बल खाती धारा,
गाती थी, इठलाती थी, जाती थी चूम किनारा।
मिल मलिन सलिल अवनी का जिसमें हो जाता निर्मल,
था नहीं कलंकित छल से वह दुग्ध-धवल शुचि अचल।

×

ऊंचे पर्वत भी जिसका पथ रोक नहीं पाते थे
उस पानी की धारा से कट रज-कण बन जाते थे।

—हरिकृष्ण प्रेमी

परन्तु विनाश बहुत ही विकराल सत्य है। वह भी अधकार ही है। उसके सामने किसीकी नहीं चलती। प्रकृति के कार्य-व्यापार में मनुष्य की पीड़ा का मूल्य कुछ भी नहीं है। कर्म और पुनर्जन्म के विचार इसी प्राकृतिक निर्ममता के लिए व्याख्यास्वरूप थे। आज का कवि मानता नहीं इसे पूर्णतः। अतः मानव की सत्ता की लघुता उसे बहुत अधिक कचोटने लगती है। कवि कहता है

अरी पगली! न नभ के राज में आंसू पहुंचता है
अरी पगली, व्यर्थ ही प्रीति का पंछी कुहुकता है
किसीके प्यार का दीपक जला, जलकर बुझा जग में
जला दे देह का दीपक किसीके प्यार के पथ में
युगों से टूटते जलते गगन में चांद के दीपक!
अतुल अवसाद के दीपक!

—रघुवीरशरण मित्र

एक ही सान्त्वना है। यह जीवन प्यार के हित दीप-सा जले, बस यही काफी है। आकाश का चन्द्रमा भी न जाने कितनी बार जलकर बुझ चुका है। इससे भी अधिक

है। यह है वह मानव की अतीन्द्रिय चेतना जो माटी में से उजागर हो उठी है। कवि उसका वर्णन करता है

> इस मिट्टी के दीप, चेतना की बत्ती को, स्नेह मिला जब
> कहा विरोधी तत्त्वों ने, बस और चाहिए एक जलन अब!
> तुमने लपटों की उँगली से मेरा स्नेह-दीप जब बाला।
> सहसा ज्योति जगी अन्तर में अन्धकार बन गया उजाला।
>
> ×
>
> आँधी आई, पानी बरसा, रात धूल ढँक-ढँककर हारी
> पर न बुझी उल्टी भड़की ही, मूल शक्ति-सी यह चिनगारी!
>
> —शिवमंगलसिंह सुमन

यह दीप केवल स्नेह के बल पर जीवित रहता है। किंतु उसे विरोधी तत्त्वों ने जलन भी दे दी है। यह मूल शक्ति की चिनगारी है। यह व्यक्ति में भी है, समाज में भी। यह युग में है। युग हमारा एक नया पात्र है।

युग और दीप दोनों परस्पर एक-दूसरे के लिए लालायित-से हमें नयी कविता में दिखाई देते हैं। युग जिस चेतना का समूर्त व्यक्तिकृत चेतन है, दीप उसीकी सुंदरता की अभिव्यक्ति है। मनुष्य का निर्माण ही इस समस्त के मूल में है। पहले का मनुष्य अपनी निर्माण-शक्ति पर गर्व नहीं करता था। आज का मनुष्य करता है। आज उसे अपनी सामर्थ्य के प्रति एक विश्वास-सा हो चला है। पुराना व्यक्ति प्रलय को स्वीकार कर चुका था, नया मनुष्य विनाश-काल समीप आता जानकर इस पृथ्वी ग्रह को छोड़कर महाशून्य में निकल जाने की योजना बना रहा है। तभी उसमें गतिरोध पैदा हुआ है। सामर्थ्य से पूर्व ही उसका मन आगे बढ़ गया है। वह महानाश को बंदी कर देना चाहता है, क्योंकि उसे लग रहा है कि वह मंजिल के बहुत पास आ चुका है

> युग के धुँधमारे मंदिर में
> फिर से रत्नों के दीप जले।
> लो ये उजियाले के घेरे
> फिर आसमान की ओर चले।
> हम पीछे बंदी कर आये
> उस महानाश की छाँह श्याम,
> चलकर आये हैं अग्नि-पथ—
> इस युग के दृढ़ निष्कंप चरण—
> अब दूर नहीं मंजिल विराम
>
> ×

जो अपना है, जो अपने श्रम और स्नेह का आधार लेकर पलता है। उसे हम बुझने से बचा सकते हैं। और वह हमारा सबल बन सकता है।

विश्वास के बिना कुछ नहीं हो सकता। पत्थर के दिल में जाग्रति का पाठ पढ़ा जा सकता है। किंतु जब विश्वास डांवाडोल होता है, वह पहली ही मंजिल में डिग जाता है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। जो है सो यही है। इसका ही अन्त अभी तक कोई नहीं जान सका है। पांवों में ममता का बन्धन और सिर पर वियोग का भार, दोनों इधर ही सध सकते हैं।

यहां कवि अपनी व्यष्टि और समष्टि दोनों का मिलान करके देखता है और वह अपने द्वन्द्व से निकलने का प्रयत्न करता है। वह कहता है

लेकर अक्षय विश्वास अरे!
उस दिन जब पत्थर के दिल में
मैंने जागृति का पाठ पढ़ा
सोनेवालों की महफ़िल में

'भेदन करना है अन्धकार!'
तब पागल-सा मैं बोल उठा।
कब सोचा था, डिग जाऊंगा
मैं बस पहली ही मंजिल में?
उस पार! अरे उस पार कहां
है अन्तहीन इस पार प्रिये,
पैरों में ममता का बन्धन
सिर पर वियोग का भार प्रिये।

—भगवतीचरण वर्मा

'प्रिये' का युग भी एक विद्रोह बनकर ही साहित्य में आया था। इस देश में पति भी पत्नी का मुंह दिन में नहीं देख पाता था। उपयोगितावादियों और विशुद्धतावादियों ने स्त्री के प्रति दुरूह बन्धन बांध दिए थे। वह समय चला गया। नया कवि और आगे आ गया। वह कहता है—"जहां उस पार उदधि और आकाश दृष्टि में एकाकार-से लगते हैं, उज्ज्वलता का विहग अरुणिमा के पंखों को खोल मनरिक्ष के श्याम निकुंजों में छिपता जा रहा है। अपने गीतों में आकाश बांध लो। भूगोल बांध लो। गीत का लक्ष्य, प्रीति का मिलन है। इसलिए रवि से भी कवि दिव्य है।" (पोद्दार श्री रामावतार अरुण)

कवि ने अपना दायित्व समझ लिया और वह संकुचित प्रेम से व्यापक प्रेम पर आ गया। इसका यह अर्थ नहीं कि 'प्रिया' के प्रति लिखना कोई पाप है या कोई अपमानजनक बात है। किंतु केवल वासना की तृप्ति या शरीर विरह की संकुचित कचोट श्रेय-

भोग-लिप्सा आज भी लहरा रही उद्दाम
बह रही असहाय नर की भावना निष्काम,
भीष्म हो अथवा युधिष्ठिर, या कि हों भगवान
बुद्ध हो कि अशोक, गांधी हो कि ईसु महान,
सिर झुका सबको, सभीको श्रेष्ठ निज से मान,
मात्र - वाचिक ही उन्हें देता हुआ सम्मान,
दग्ध कर पर को, स्वयं भी भोगता दुख-दाह
जा रहा मानव चला अब भी पुरानी राह।
अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभियान
खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान
शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार
दौड़ना रह-रह उठा उन्माद की तलवार
द्रोह से अब भी वही अनुराग
प्राण में अब भी वही फुंकार भरता नाग।

—दिनकर

कब आएगा वह दिन, जब कुछ व्यक्ति ही नहीं, सारे संसार में मन के भीतर उजियाला फैलेगा। उसकी संस्कृति वास्तव में जागेगी? कब वह महान ज्योति में अपनी ज्योति मिलाने के योग्य हो जाएगा। उसने जो चेतन प्रतीक बनाए है, उनके प्रति कुछ ही बलिदानी क्यों सब कुछ त्यागते हैं। क्यों नहीं सारा लोक ही सन्नद्ध हो जाता। क्या ऐसा हो जाने पर मनुष्य का अपार कल्याण समीपतम नहीं आ जाएगा? दिनकर ने बहुत गहरा प्रश्न उठाया है। इसका अब तक केवल यही उत्तर मिल सका है

अमा की निशा में, मधुर स्नेह दीपक जले, छा गया पथ पर नव उजेला!
विहँसती दिशाएँ खुशी के दियों से
सरसती दिशाएँ नई रश्मियों से
कहीं भी नहीं नाम है शेष तम का—
कहीं भी नहीं नाम है शेष ग़म का—
नई भावना से भरा आज जीवन, धरा पर सरस हास का मुग्ध मेला!
लिये हाथ में भारती भव्य वीणा
रही गा युगों बाद फिर से प्रवीणा
सुहाने स्वरों से महा मौन मुखरित
सुहाने स्वनों से विजन-कोन झंकृत
नई कामना से भरे प्राण तन-मन रहा अब न पथी डगर पर अकेला!

आकाश हंस उठा। दिशाएं मुस्करा दीं। कली, कुसुम कोंपल दल उद्यान में साकार काम छा गया। नदी की जवानी जलन बुझा रही है, गगन बरस रहा है। नर के लिए यह मंत्र सृष्टि जीवन है। सभी से उसे प्राण का धन मिल रहा है। फूलों में ही नर मुस्कराना सीख-कर हार को विजय में बदल रहा है।" (उदयशंकर भट्ट)

मनुष्य की सुन्दरता मनुष्य के लिए सबसे अधिक आकर्षक है। विस्मय और अवाक् करनेवाला बोधन मनुष्य के व्यवहार में सबसे अधिक दिखाई देता है।

दिनकर ने इसे भी अपनी इसी प्रसिद्ध कविता में दिखाया है। बाद में 'कलिंग विजय' में हमें चेतना का प्रसार मिलता है। जब मन की आंख खुल जाती है, तब चेतना अपनी पांखें खोल देती है

खुल गई है शुभ्र मन की आंख
खुल गई है चेतना की पांख
प्राण की प्रत शिला पर आज पहली बार
जागकर करुणा उठी है कर मृदुल झनकार।
आंसुओं में गल रहे हैं प्राण
खिल रहा मन में कमल अम्लान।
गिर गया हत्‌बुद्धि-सा थककर पुरुष दुर्जेय
प्राण से निकली अनामय नारि एक अमेय
अर्ध - नारीश्वर अशोक महीप;
नर पराजित, नारि सजती है विजय का दीप!
पायलों की सुन मृदुल झनकार
गिर गई कर से स्वयं तलवार
वज्र का उर हो गया दो टूक
जग उठी कोई हृदय में हूक।

विजय का दुर्जेय ग्रह मानवी ज्योति से दब जाता है और अर्ध-नारीश्वर हो जाता है। यह व्यक्ति-पूर्णत्व का रूप, हृदय में जिसके अम्लान कमल खिलता है। ऐसी कविताएं सचमुच बहुत कम लिखी जाती हैं। कवि फिर अभय देता है

शत्रु हो कोई नहीं, हो आत्मवत् संसार
पुत्र-सा पशु-पक्षियों को भी सकूं कर प्यार।
मिट नहीं जाए किसीका चरण-चिह्न पुनीत
राह में भी मैं चलूं पग-पग सजग-सभीत।
हो नहीं मुझको किसी पर रोष
धर्म का गूंजे जगत में घोष!

ऐसा है, जिसकी प्यास नहीं बुझती, काया समाप्त हो जाती है। क्या यह व्यक्ति ही है, या मनुष्य !

यह तो मनुष्य है। व्यवस्थाएं इसकी तृष्णा को नहीं रोक सकतीं। यह समाज में रहता है। अहं को इसे काटना पड़ता है लोक के कल्याण के लिए। यह कल्याण है उसके अहं का परिमार्जित और उदात्तरूप। कवि कहता है

गीत का दीपक संजो दो दीप्त जागृति के स्वरों से !
उर-जलद-पट पर लिखो फिर दामिनी के अक्षरों से !
युगों के अवसाद में आह्लाद-जल-उत्पल खिला दो
बहुत दिन बिछुड़े रहे जो भिन्न बहिरन्तर मिला दो !
किरण-कलियों की करो बरसात फिर मधुराधरों से !
कल्पना कलहंसिनी फिर खोलकर उन्मुक्त विहरे !
कर परस मधु छंद का फिर भावुक अनुभूति सिहरे !
फिर झरें नन्हीं फुहारें चेतना के निर्झरों से !

—नरेन्द्र

प्रतिनिधि है, वह समष्टि की चेतना का प्रतीक है। इसके साथ ही प्रकृति के वाह्य रूप भी इसी 'पात्र' के अन्तर्बाहर के साथ ही उपस्थित हुए हैं। अत दुरूहता उन्हे ही सताती है, जो इसे पुराने मानदण्डों को बदले बिना ही बिठा लेना चाहते हैं। मैं अध्यापक वर्ग की बात तो कहू ही क्यो, जो कि कोर्स मे आने पर ही नया साहित्य पढते हैं।

अतीत के प्रति तो नये कवि ने बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे बहुत ही सुन्दर कहा है जो हम यहा देखना चाहते हैं। नये कवि ने अपनी साधना को सामने करके कहा है

'जय हो!' खोलो अजिर द्वार मेरे अतीत ओ अभिमानी।
बाहर खडी लिये नीराजन कब से भावो की रानी!
बहुत बार भग्नावशेष पर अक्षत फूल बिखेर चुकी
खंडहर मे आरती जलाकर रो रो तुमको टेर चुकी।
वर्तमान का आज निमत्रण देह धरो, आगे आओ
ग्रहण करो आकार देवता! यह पूजा-प्रसाद पाओ।
शिला नहीं, चैतन्यमूर्त्ति पर तिलक लगाने मैं आई
वर्त्तमान की समर-वृतिका तुम्हें जगाने मे आई।
कह दो उनसे जगा, कि उनकी
ध्वजा धूल मे सोती है
सिंहासन है शून्य, सिद्धि
उनकी, विधवा-सी रोती है
अर्घ्य सकल बुद्धि ने पाई हृदय मनुज का भूखा है
बढी सभ्यता बहुत, किन्तु अतसर अब तक सूखा है

×

जग मे भीषण अन्धकार है जगो तिमिर-नाशक जागो
जगो मन्त्रद्रष्टा, जगती के गौरव, गुरु, शासक, जागो।
जय हो खोलो द्वार अमृत दो, हे जग के पहले दानी
यह कोलाहल शमित करेगी किसी बुद्ध की ही वाणी!

—दिनकर

सचमुच इतना दर्शन, चिंतन, विवेचन करके भी अतीत मे मानव की समस्या नही सुलझी है। मैं यह नहीं कहूगा कि आज के लोगो ने उसे सुलझा दिया है, क्योकि इस वाक्य को लिखने का समय मेरे देखते ही देखते अतीत हुआ जा रहा है। परन्तु इतना अवश्य मुझे कहना है कि युग बदलते हैं। जिस प्रकार भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य को एक ही मानदण्ड से नहीं परखा जा सकता, उसी प्रकार आज की कविता के लिए आज की परिस्थितिया भी देखनी आवश्यक हैं। केवल राजनीतिक घटनाओ को देख लेना ही

मे मानव भटक रहा है।" (बच्चन) किंतु उसके सामने आज तूफान है

लहराता तूफानी सागर
अक्षय निधि वारापार नहीं
इसका कोई आकार नहीं
इस पार किनारा यह इसका
उस पार कहाँ रुकता जाकर
छोटे नद-नदियों से हारा
हो गया दमन से जल खारा
जल भरने यहाँ नहीं आती
वह नवल सलोनी गागर
आकाश चूमने को जाता
पर जल्दी लौट तभी आता
खारे पानी को छूते ही
गल जायें न तारे घबराकर

—देवराज दिनेश

"कभी जब कविता वन मे रहती थी तब कवि दर्शन मे डूबे रहते थे। फिर वे सामंती सुरासुन्दरी मे फस गए। भक्ति की लहर के बाद शृगार की व्यभिचार-भरी उन्मत्तता आई। फिर कवि स्वप्नो मे डूब गया। परन्तु वन मे आग लग गई। तब वह बस्ती मे आ गया। और कवि की जीभ पर जहर उतर आया, क्योंकि बस्ती मे आग लगी हुई थी।" (तेजनारायण काक) अब "प्रेम की मदिरा को गगाजल माननेवाला, धर्म का उपहास करनेवाला, सौंदर्य मे डूबा हुआ कवि, जो स्वय ही साकी और स्वय ही पीनेवाला था।" (बच्चन) "हर कदम पर जीवन की चुनौती देखने लगा। अतिम मजिल तो यही नही दीखती। केवल धूमिलप्राय तम मे विश्वास बना रहा। सितारो ने आशा का एक भी सदेश नही दिया। प्रकृति ने पथ मे एक भी मगल शकुन नही किया। अब उसे उस पार का भी भय नही रहा। मृत्यु-पथ पर वह बढ चला निर्भय। वह तो किसीके हाथ का साधन-मात्र था। मानो उसके द्वारा केवल सृष्टि की कोई माग पूरी हो रही थी। आकाश की भुजाओ मे रजनी खिच गई और निरुपम रुपहरा चाद शीश पर टिक गया। उसने बार-बार अपना प्यार दिया।" (बच्चन) "ज्ञानी ने मानस-मथन करके इस सस्मृति को मृगमरीचिका माया कहा, समाधिरत साधक योगी ने इसे भोग-छाया। वे सब जीवन से भाग गए। प्रेमी ही मरण के आगे चल सका।" (सुधीन्द्र) "धूल मे मिलने से डर हट गया, क्योंकि फिर दीपक बनने की सभावना जाग गई। अगले जन्म मे दीप बनकर डगर मे जलने की कामना ने उसे नया विश्वास दे दिया।" (रामकुमार चतुर्वेदी)

माटी का विकास हुआ है इस युग के काव्य में। इसे किस नाम से पुकारा जाए? मैं इसे मानव-युग ही कह सकता हूं। किंतु इतना संकुचित क्यों बने यह हृदय कि इस छोटे-से काल-खण्ड को भी एक नाम दिया जाए? क्यों तो इस संघर्ष के खंड-काल से एक उत्कर्ष पाने को है, जिसके लक्षण बुरे नहीं हैं, बल्कि आशाप्रद ही दिखाई दे रहे हैं। वादों के गर्हित नामों में कविता को बांटना कवि का अपमान करना है। संस्कृति का नाश करना है। यह तो आचार्य शुक्ल ही का काम था कि तुलसी का काव्य देखकर, हृदयराम जैसे टुटपूंजिए को जोड़कर वे 'रामभक्ति शाखा' को चला गए। हमें संस्कृति का नया मनन करना है

> ये पहिये हैं भास्वर सभ्यता संस्कृति के
> आदिम-युग से जो ले आए हैं एटम तक
> यह दुनिया का कारवां अमर
> ये रुके नहीं पथ के ऊपर
> मिट्टी को विकसित कर लाए
> आने वाले जन-युग के सुन्दर फूलों में।
> ये गतिमान जनता की बांहों के प्रतीक
> उन कलों, भारी हाथों के गतिमान चित्र
> जो रूप दे रहे हैं श्रम को,
> कर रहे मूर्त मन के सपने,
> लेते हैं स्वर्ग उतार विचारों के नभ से।

—गिरिजाकुमार माथुर

स्वर्ग विचारों के नभ से उतर रहा है। हम आदिम युग से एटम युग तक चल-कर आ गए हैं। मिट्टी को विकसित करके लाए हैं। भविष्य में बननेवाले जन-युग के सुन्दर फूल के रूप में। श्रम का भी सौंदर्य आया है, जिसके कारण प्रत्येक सर्जन से हमें प्रेम है।

विश्व भले ही इसे वासना कह ले, किंतु नये युग का सूत्रपात करनेवाला मानव जानता है कि उसीने यह यात्रा की है। वह जानता है कि "सृष्टि के प्रारम्भ में उसने उषा के गाल चूमे थे। बालरवि के भाग्यवाले दीप्त विशाल भाल को चूमा था। प्रथम सन्ध्या के अरुण दृग उसीने चूमकर सुलाए थे, तारों की कलियों से सुसज्जित नव-निशा के नाम चूमे थे। सबसे पहले उसीके होंठों ने वायु के रसमय अधर छुए थे। वह माटी की पुतलियों से ही क्या अभिसार करे?" (बच्चन)

वह माटी की पुतली मध्यकालीन वासना है। नये कवि की वासना उससे ऊपर उठ चुकी है, इसलिए वह श्लाघ्य है। वह सर्वत्र ही सूक्ष्म हो गया है। क्योंकि वह सर्वांगीण रूप में सुसंस्कृत होना चाहता है।

"यह मनुष्य अनंत जीवधार का एक तथ्य है।" (सुधीन्द्र) "अम्बर का अधिवासी तो उसकी पुकार सुनकर नही बोलता।" (आरसीप्रसाद सिंह)

"एक किरण के लिए जीवन का जलजात विकल है।" (जितेन्द्रकुमार) किंतु "इस धरती में स्वर्ग है, मिट्टी में अमृत तरुवर का मूल है। यह जीवन विरह का जलजात है।" (हंसकुमार तिवारी) "तन्मय हो प्राण तो फिर विरह-द्रोह कुछ नही रहता।" (शकुंतला रेणु)

नया कवि इसी चिंतन में जब समाज की ओर देखता है तो वह अपने भीतर के परिवर्तन को वहा भी उतार लाना चाहता है। वह कह उठता है

तमाम नींव खुद चुकी, तमाम भीति गिर चुकी
समाज जीर्ण-शीर्ण आखिरी उसांस भर रहा
परम्परा बिगड़ चुकी, अतीत-रीति सड़ चुकी
सड़ा-गला समाज—कोढ़ फूट-फूट गिर रहा!
बदल रहा जहान है, उदय नया विहान है
नवीन अंतरिक्ष में नया विहग विचर रहा!
अतीत भीति तोड़ता, नया प्रवाह मोड़ता
सजग सतर्क इन्किलाब विश्व में निखर रहा!
मशाल झिलमिला उठी, कि रूढ़ि तिलमिला उठी
प्रगाढ़ अन्धकार—मुक्ति का चमक निखर रहा!
नया गगन, नयी धरा, समूल नव परम्परा
नयी दिशा, नयी उषा, समुद्र नव लहर रहा!
प्रकाशमय भविष्य है, सजग सशक्त मनुष्य है
उठा भुजा सशक्त—आज शंखनाद कर रहा!

—घनश्याम अस्थाना

प्रकृति का भाव यह नया रूप देख रहा है। सब कुछ बदल देना चाहता है। अपने सबल पौरुष का उसे इतना विश्वास हो गया है। वह जानता है कि "रात को सूरज नहीं उगता, पत्थरों पर फूल नहीं खिल सकते। रेत से प्यास नही बुझती। मुर्दे गा नही सकते। किंतु वह सारी बाधाएं तोड़कर प्राण का संगीत गा रहा है।" (श्यामसुन्दर प्रधान) वह "संघर्षों के उद्गम में आरम्भ हुआ है और आदर्शों के संगम तक उसे जाना है। वह अपना माथा अभिमानी के आगे झुकाने को तैयार नहीं, वह तो स्नेह के लिए सिर कटा सकता है। संस्कृति के नगर से दूर जाकर वह मरना नही चाहता। रुकने से निर्माण नही होता।" (वीरेन्द्र मिश्र) वह "नही चाहता कि सत्य का सपना स्वप्न के सत्य के लिए टूट जाए। जरा दुनिया कुछ ऊंची उठ सके ऐसा सीढ़ी का पत्थर उसे बनाना है। अपनी मंजिल का

मैं देख रहा यह मानवता कितनी निर्बल कितनी अनित्य !
मैं जग को सुख देनेवाले जग के क्रन्दन को देख रहा !

—भगवतीचरण वर्मा

किंतु कवि पूर्णतया पराजित नहीं है। वह कहता है—"साथी ! उसे भी देख, जो भीतर अंगार भरा है। उसी को एक तेरी आग का ही आधार है।" (दिनकर)

विषमता का कारण है धन। वह कहीं अधिक है कहीं उसका अभाव है। अभाव में दारिद्र्य है, तड़पन है। तभी वैभववालों को देखकर कवि कहता है

उनके मस्तक पर खेल रहा था अहम्मन्यता का पिशाच
उनके प्यालों के साथ-साथ थीं जग की आहें रहीं नाच।

—भगवतीचरण वर्मा

परन्तु वैभव अकेला क्या करेगा। कवि तो जाग्रत है। वह पुकारता है—"कायर ऊंचे फूल झरोखे से नीचे झांका करते हैं, वीर सदा आंधी के हर झोंके से ऊपर उठते हैं। वीर तो जगत् की आहों से अपने घाव पिरोते हैं। वे अन्यायों की धूल उड़ाकर मिट्टी में दफनाते हैं और सत्य शिव सुन्दर के मंदिर की गहरी नींव जमाते हैं।" (नीलकंठ तिवारी)। इसी उत्साह में कवि देखता है कि "ज्योति की तरंग उठी, दूर-दूर तक छा गई। सदियों का तिमिर पार करके मानवता आ गई। युग के विराट चरण जनपथ पर गूंज रहे हैं। धरती के महान स्वर अंबर को चूम रहे हैं। धन-बल के दीपों की रेख भांवरी पड़ गई है। भयद कारा-सी सावरी काल रात्रि मिट गई है। मृत्यु के निदाघ पर जिंदगी जीत गई है। तप्तदग्ध भूमि हरित, पीत और मदभी हो गई है।" (गिरिजाकुमार माथुर)

कवि को विश्वास है कि शोषितों को—"प्रगति का वरदान मिला है। उन्हें दुर्दम शक्ति का अभिमान होना चाहिए। पुरानी जिंदगी के तार तोड़ने होंगे।"

(महेंद्र भटनागर)

नगर में साहूकार और लुटेरे हैं। दानवता है। साम्राज्य के "रक्तपात से मानवता की गति नहीं रुक सकती। पशुता लड़ती है। जड़ता की जड़ कटती जाती है।"

(नरेन्द्र)

उफ् ! कैसा कठोर दारिद्र्य छाया हुआ है इस देश में

चांदी के टुकड़ों को मैंने
प्रतिदिन पिसकर, भूखों मरकर
भंसागाड़ी पर लदा हुआ
जा रहा चला मानव जर्जर !
है उसे चुकाना सूद-कर्ज
है उसे चुकाना अपना कर

दिक् में सीमित कर सके ? असीमित है वह, उसे कौन बांध सकता है ?' (बालकृष्ण शर्मा नवीन) "वह चलता है तो उसके साथ-साथ साहस, हृदय का रस, निराशा-आशा, सृजन की माया, प्रहृत सर्जन, जाति-संस्कृति, संचिता स्मृति, कुसुम-स्मय, विश्व-विस्मय सब चलते हैं।" (उदयशंकर भट्ट) "आग को वह व्यर्थ नहीं जाने देगा। जिनका कोई नहीं है, उन्हें वह अपना लेगा। वह संक्रमण युग में व्यग्र है, किंतु उसके पास आग है। जितना ही वह जन-जीवन ज्योति-दीप को उकसाता है, उतना ही उपकृत होता जाता है। इससे बढ़कर जीवन का उपयोग वह नहीं जानता। (शिवमंगलसिंह सुमन) और वह प्रकृति में मानव की कलुषकालिमा को धो डालना चाहता है

तू गा कोकिल! गा चिर किशोर!
गंधर्वकुंवर तू चिर सुन्दर मानव की दुनिया है कठोर
कोकिल! गा, तूने चैत्ररथी वन के मीठे फल हैं खाये
स्वर्गंगा की उल्लोल उर्मियों में स्वर सप्तक सरसाये
प्रकृति रमणी की महती की जो गगन-गुफाओं में बिखरी—
सुरपति के वैजयन्त से जो उठती मादक पावन लहरी
इन चञ्चुपुटों में जब समस्त भर लाया अमरावती, सखे
तब दीपित क्यों न बने दिगंत में यह वसंत वसुमती, सखे
ओ उड़नेवाले, ओ कोकिल-मानव-कवि की क्या कथा कहूँ
किस अलका की प्रेयसी रूपसी से विरही की व्यथा कहूँ?

—केसरी

मानव-कवि की कथा भी विचित्र है! वह मानव की कठोरता नहीं सह सकता। वह तो पूर्ण ज्योति चाहता है। उसका तो "उन्मुक्त विहग मयंक हो गया है। उसके वासना के मोह-बंध छूट गए हैं। कारातम के वासी ने उष्ण श्वास देखा है। वह गगन में आतुर पंख खोलकर उड़ चला है। वह अंबर का अनंत उर चीर देगा। युग युग की जड़ता का अंत कर देगा। वैषम्य शृंखलाएं चूर-चूर कर देगा। सुदूर समता की स्वर्ण रेखाएं उग रही हैं। अभावन क्रंदनता के दिन बीत गए हैं। वह आज पुनीत-सा प्रभु चरणों में विसर्जित हो गया है। उसका पथ प्रशस्त फैला है।" (नेमिचंद्र जैन) "समय के तीव्र पृष्ठों पर वह हृदय के रक्त से अपनी कहानी लिख रहा है। सिंधु की अरुण उमड़ी रवानी को लिख रहा है।" (रामकुमार चतुर्वेदी) "दीपक जला दो, कहीं अंधेरा पृथ्वी पर न रह जाए! जब स्वयं मनुष्य दीप बन जाएगा तभी यह अंधेरी कटेगी।" (नीरज)

यह जीवन हास-विलास के साथ किसी वासना को लिए है और इसके कितने विविध रूप हैं

किसी मूर्ख को हो परिणीता
निज घर-बार बसाइए।
होयें कँटीली, आँखें गीली
लकडी सीली, तबियत ढीली
घर की सबसे बडी पतीली
भरकर भात पसाइए।

—रघुवीर सहाय

अब प्रेम गया। अब वह झिलमिल खो गई। व्यग्य आया, गहरी कचोट भरा। बल्कि जब कवि पुकारता है कि—'हे अमृत' अन्धो! देवता राह देख रहे हैं!" (दिनकर) तब मोह मे डावाडोल हृदय सहमा चैतन्य हो उठता है और दृढ होकर कह उठता है—"बताओ, यह कैसे संभव है कि तुमको अपनाकर सबको ठुकरा दू? एक तुम्हारे पीछे जग की आशाओ मे आग लगा दू? मैं अपना भी नही हू। मैं तो विश्व की थाती बनकर चलता फिरता हू। अपने ऊपर से मैं सबका सम अधिकार कैसे उठा दू?"

(राजेश दीक्षित)

क्योंकि "एक ओर नाशक अस्त्रो की पशुता के बल के अभिमानी है, दूसरी ओर मनुजता के रक्षक नि शस्त्र सिपाही खडे हैं। जो पशुता का समर्थन करे वह निश्चय ही पशु है चाहे वह धनी हो या धर्मध्वज। न्याय ही पशु और मनुज की एकमात्र सच्ची कसौटी रहा है।" (पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश')। अब तो एक नया स्वप्न भी आखो के सामने जाग रहा है। शीघ्र ही सूर्य-चद्र, ग्रह-नक्षत्रो के ऊपर कल इसान के जायो की गर्वीली जय-यात्रा होगी। अधभाग्य, अधप्रकृति, पाप-पुण्य, देव और कर्मफल के मिथ्या स्वार्थी शोषक नियम-विधान अब मानव का अधिक शोषण न कर सकेंगे। अपनी सत्ता का सर्वतन्त्र स्वामी बनकर मनुज अवनी और अबर पर अपना राज्य करेगा।"

(वीरेन्द्रकुमार जैन)

ऐसे समय मे पीछे हटने का क्या काम! कहा से प्रारभ हुआ यह सघर्ष, कहा आ गया। वह कितनी स्फूर्ति का अनुभव कर रहा है अब! "मनुज को आकाश से पाताल तक सब कुछ श्रेय है। बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत उसका वास्तविक श्रेय है। श्रेय तो मानव को मानवो मे असीमित प्रीति है।" (दिनकर)

विद्रोही कहता है—"हमने फ्रास मे भयकर क्रांति की ज्वाला जगाई। स्पेन मे स्वाधीनता की आग लगाई। रूस मे हमने जारशाही का जनाज़ा निकाला। हम जग से जुल्म करने का इरादा भी निकाल देंगे। हम विश्व मे सब मानवो के एक-से अधिकार है।" (निरकारदेव सेवक)

"एक बार फिर अन्यायी का राजसिंहासन डोल उठा है। युगो की सोई आधी

प्रस्तुत करता है कि उसे देखते ही बन पड़ता है। प्रायः ही कवि ने सब नयी कल्पनाएं की हैं

> प्रात के पट पर किसी ने तूलिका से
> बादलों के, लालिमा के औ' क्षितिज के
> आंक डाले चित्र
> जैसे नाट्यशाला में
> किसीने दिये लटका नये पर्दे,
> और सूरज ने किसी ऊंचे शिखर पर चढ़
> कि अपनी प्रारमजा उजली सुनहली धूप को
> रथ से उतारा
> लगा किरनों की नर्तनी,
> और चंपा की रूसी के
> खुल गये हैं नयन
> जैसे नयी दुलहिन हरित पल्लव
> औ' हरी सलवार की करती सलवटें ठीक,
> सुघड़ पाटल ने लगाई है मिठाई की दुकान
> कि भूखे 'श्रमिक-श्रमिकों' की तरह दूटे भ्रमर
> साधना में लीन भावतन की तरह सूरजमुखी ने
> अर्घ्य देने युगल बाहों को पसारा
> ओस के कन पहिन कर परिधान सतरंगी-अनूठे
> एन० सी० सी० के जवानों की तरह
> फौजी सलामी दे रहे हैं प्रात को।

—[illegible]

इसमें दैनिक जीवन में देखे हुए चित्र हैं।

असल में अब कवि ने "वे पन्ने फाड़ दिए हैं जिनमें उसकी स्मृतियां संगृहीत थीं, यौवन क्योंकि आगे देखता है इसीलिए वह हतभाग होकर रोना नहीं चाहता। उसे अपना भविष्य प्रिय है, वह अतीत को नहीं चाहता। वह अपने पथ पर बाधाओं से ही विजय-गीत सुनना चाहता है।" (श्रीराम शर्मा प्रेम) "यह धरा स्वर्ग मृत्युञ्जय स्वर्ग पा गई है। सदियों के तिमिर को मानवता ने पार कर लिया है।" (गिरिजाकुमार माथुर) 'स्वरों में जवानियां किंकिनी बजा रही हैं। वे लहू में तैर-तैरकर नहा रही हैं।" (दिनकर) तभी एकदम नई भूमि को हमारे सामने पसार देता है नया कवि

> धरती में गड्ढा कर चिड़ियां धूल नहातीं,
> और दुपेरों के उजाड़ को

क्या करेगा प्यार वह भगवान को
क्या करेगा प्यार वह ईमान को
जन्म लेकर गोद में इन्सान की
प्यार कर पाया न जो इन्सान को।

—नीरज

सारे धर्मों का मूल कवि ने सहज पा लिया है। वह मनुष्य को प्यार करता है। क्योंकि अब बंधन नहीं रहा। "आज नई चेतना आयी है। वर्ग के बंधन बिखर रहे हैं। जातियों के बंधन धूल में मिलकर धूल बन रहे हैं। आज जन-जन के गले से जीत के नारे उमड़ रहे हैं।" (जगदीश)

हम एक परिवार देखते हैं।

नवयुग का कवि कितना आत्मविभोर है। वह सारी क्षुद्रताओं से परे हो गया

कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है।
मैं न बँधा हूँ देश-काल की जंग लगी जंजीर में,
मैं न खड़ा हूँ जाति पाँति की ऊँची-नीची भीड़ में,
मेरा धर्म न कुछ स्याही शब्दों का सिर्फ गुलाम है
मैं बस कहता हूँ कि प्यार है तो घट-घट में राम है,
मुझसे तुम न कहो मंदिर-मस्जिद पर मैं सर टेक दूँ
मेरा तो आराध्य आदमी, देवालय हर द्वार है।
कोई नहीं पराया मेरा घर सारा संसार है।

—नीरज

यह मधुशाला की एकता नहीं, बिना किसी शर्त की एकता है। इसमें सबको सहज स्थान है। क्योंकि परिवर्तन हो गया है। अब "धर्म बदला, देवता बदले। समय बदला हुआ है। हम इस नये युग के विधाता, क्रांति के अवतार हैं। हम धरा पर सर्व-जन-सुख-सुंदर स्वर्ग बसाएंगे। हम मनुष्य को देवताओं पर न्योछावर करेंगे। संसार में कुछ भी नहीं है जिसके सामने हम नतशीश हों। विश्व में सब कुछ हमारे लिए हैं। हम सब बराबर हैं। आज जो दुनिया के लिए स्वप्न है, वह कल सत्य होगा। हम एक नूतन सृष्टि के निर्माण के आधार हैं।" (निरंकारदेव सेवक)

समानता की प्रतिध्वनि उठ रही है। आज कवि ने क्रांति का अनुभव किया है।

"आज दहाड़ता की उठती भारी की मुकाठों कौन बन गया है? आज महाक्रांति का चिरज्वलत वैतालिक चारण बोल उठा है।" (चंचल)

इस प्रकार यह विश्वान्वित स्वर शक्ति भरता जा रहा है। वह प्रतिक्रिया-

बुर्जे घास की बढ़ा डाढ़ियाँ
गोले के से घाव सोचते दह जाने की।
पंख और डाकोंवाले
उन वीरों की ये शिला मूर्त्तियाँ
पानी-भरे धान खेतों में
खड़ी हुई हैं देती पहरा,
राजमंदिरों के खम्भों पर बने हुए
ये तेज दाँत के उड़ते ड्रैगन
दम तोड़कर हाँफ रहे हैं
बुढ़िया पागल जैसी अब
हवाएँ चीख रही हैं रक्त सनी वे
इन-सत्ता घूरों के ऊपर
धुँए जला इतिहास खड़ा है
ज्वालाओं के जिसके केश बिछा कंधों पर
जली घास से लहर रहे हैं
सदियों के कोड़ों से खींचो रक्त नदियाँ
महाकाश के नील कांस पर
महामनुज वह रक्त सना
बेहोश आज फिर जाग उठा है।

—नरेश मेहता

नरेश ने कितनी सशक्त कविता लिखी है। महामनुज ही इसका अंतिम नायक हो सकता था। एकदम नयी उपमाएँ, नया रचना-विधान! नरेश से बहुत आशा करना भी असंगत नहीं है। उसने प्रकृति और मनुष्य, इतिहास और संस्कृति को कैसा मिला दिया है! 'रक्त की नदियों का सदियों के कोड़ों से निकलना' कितनी गहरी दृष्टि है। और फिर उसने देशों की बाधाएँ मिटाई हैं। सारी वसुधरा उसके लिए एक है। इतने नये रचना-विधान के दर्शन इधर नहीं हुए। उसकी एक-एक पंक्ति में प्राण हैं, किंतु एक कमी है अवश्य, वह है ताल और लय की। बातचीत का ढंग है, सो तो आकर्षक है, परंतु थोड़ी-सी गति और अधिक होती, तो निस्संदेह कविता और भी सुन्दर बन पड़ती। प्रश्न उठ सकता है कि भावपक्ष में यह कविता किधर अपना प्रभाव डाल सकती है? मैं पूछता हूँ कि भक्ति की कविता किस ओर ले जाती है। विश्वास और आस्था के रूप बदलते रहते हैं। अतः उसपर विवाद करना व्यर्थ ही है। मान्यताएँ काव्य में प्रभुत्व पाने पर प्रभाव नहीं छोड़तीं, हृदय का स्पर्श छोड़ता है। नरेश परिपाटी का कवि नहीं है।

तिब्बत के दक्षिण मेरा वृद्ध देश है—
क्षीर सिंधु-सा महाहिमालय
बरफ केंचुली मारे जैसे शेषनाग हों
नीलगगन लेटा है जिस पर स्वयं विष्णु बन
ब्रह्मपुत्र वह नाभिनाल है जिस पर
तिब्बत और कमल-सा खिला हुआ है,
पीला चीवर धारण कर
ब्रह्मा के जैसा चीन सुशोभित
नये वेद के सामगान का पाठ कर रहा—
बर्मा, हिन्दचीन की शतशत
जनता, लक्ष्मी जैसी
जीवन के देवाधिदेव के
चरणों मे नतमस्तक बैठी—
तीस वर्ष तक नयी सृष्टि हित
ब्रह्मा ने संघर्ष किया है
उसके नयनों मे आलोक लोक है
चमकीले पत्तों के सूरज खेतो के हित
सृजन कमण्डल मे जलवाले
मेघ हमारे नदियों के हित
चावल के फूलों की माला पहने ब्रह्मा—
पीत बालियों वाले स्वर्णिम
अन्न सिंधु पर
उजले शांति हंस पर उड़ते
मानव मंगल गान सुनाते।

—नरेश मेहता

इस मंगलमय स्वप्न को अभी विश्व ने पूर्णतया साकार नही पाया है। आएगा एक दिन जब ऐसा भी होगा।

एक दिन इतना भी नहीं था। गांवो मे अब भी जीवन कितना विषम और दरिद्र है। वहा लघुता को ही महान मान लिया गया है। अध्यात्म का सर्वस्व संतोष है, परन्तु संतोष अभाव की कचोटों से उपजा पराजय नही। समर्थ जब उग्र होकर दूसरे पर आक्रमण न करे, तब वह संतोष है। कवि ने ग्राम का एक चित्र देकर देश मे खेतिहर व्यवस्था की निर्बलता का कैसा हृदयग्राही वर्णन किया है :

तिब्बत तक आते-आते
ये गोरी, उजली, लाल—

—नरेश मेहता

एक के बाद एक आपको एक नयापन मिलता चला जाता है। यह सच है कि प्रति से चमत्कार भी जन्म ले सकता है, किंतु वह तब होता है, जब कवि के पास कोई उदात्त संदेश नहीं होता। यहां वह है और पूर्ण जागरित है। उसे मानवता से प्यार है। प्रकृति उसके लिए मानव की चेतना को परिष्कृत करनेवाली है। वह सकल भूमा को एक मानकर कहता है

सुनो पृथिवीवासियो।
माता हमारी, महापृथ्वी
धनि है, धन-धान्य है,
उपायनी संघर्षशीला है
यह खड़ी भी लिए भौं आकाश से
रूप पाने के लिये
इसलिये संघर्ष
जन की शक्ति है
हैं चरण, मस्तक और भुजाएं
'साम्यवादी' काल में
और जन का शत्रु वह
कीटाणुओं के घन गिराता है
असुर है, वृत्र है,
धूल इसके वसन हैं, मृत्यु इसका भाग्य ही है
हम विधाता भाग्य के इसके
पृथ्वीकृत हैं, श्रमिक हैं
और यह जन-शत्रु है।

—नरेश मेहता

सत् और असत् के संघर्ष के रूप में कवि ने लोक को दो वर्गों में बांटा है। परन्तु वर्गों के विभाजन से भी बढ़कर है यहां उसका पृथ्वी के निवासियों को एक करने का प्रयत्न, जिसमें वह मधुमत्त जीवन की कल्पना करता है।

अब 'कल्पना होती जा रही है और जिंदगी पास आती जा रही है। डगमगाती जा रही है वह। केवल प्रणय नहीं, साथ में संघर्ष भी चाहिए क्योंकि तूफान चांदनी से नहीं थमते। पहले कभी उसका स्वप्न से संबंध था, किंतु तब वह मंद था और वह बात

तब अपने-आपसे लड़ लथपथ बहने पर
न जाने कहाँ से चौड़ का वही पुरातन टुकड़ा
जिसे मैंने घने वनों, बीहड़ों,
आग के समन्दरों, ओलों के ज्वालामुखी से लड़कर ढूँढा है
मन की आत्मा के कठोर लेकिन सार्थक
हाथों में आकर जकड़ जाता है।[1]

कवि का अन्तर्द्वन्द्व और समाज की कठोरता, आर्थिक विषमता, सब में घोर उलझन-सी पड़ गई है। इसका मूल है दरिद्रता। कवि उसे पहले समाप्त करना चाहता है।

एक दिन कवि ने कहा था—"कि उधर श्वानों को दूध-वस्त्र मिलता है, इधर भूखे बालक अकुलाते हैं। वे मा की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं। युवती के लज्जावसन बेचकर ब्याज चुकाए जाते हैं। मालिक उस समय तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं। पापी महलों का अहंकार ही क्रान्ति को आमन्त्रण देता है। क्रान्ति निर्भय का तेज है। वह युगों के मूक मौन की वाणी है। वह दिलजले शासितों के दिल की जलती हुई कहानी है। सदियों की जंजीरें तोड़कर जागनेवाली ज्वाला की रानी क्रान्ति विषभरी जवानी की भाँति जहर उगलती फिरती है। वह आहत भुजंगिनी के दशन जैसी है। वह भूखी बाघिन की क्रूर घात है।" (दिनकर)

आज भी वह समस्या उसके सामने बनी हुई है। किंतु वह उसकी 'जिजीविषा' का दर्शन बन गई है अब।

"यदि जीना तुम सजग धर्म मानो, तो मरना भी महाकर्म बन जाएगा। निर्माण करो! निर्माण करो!" (भवानीप्रसाद तिवारी)

'रिरिसा' के लिए निर्माण है। इन दो के मिलन में अमर शान्ति है। इसीलिए वह बर्बरता और युद्ध का प्रचंड विरोधी हो गया है

जिसकी छाती से फूटा है मातृत्व अभी,
वह माँ क्या दफनायेगी दूध मजारों में!
क्या गोली की बौछार मिलेगी सावन को,
क्या डालेगा विनाश झूला अमराई में?
क्या उपवन की डालों में फूलेंगे अंगार,
क्या घृणा बजेगी भौंरों की शहनाई में?
असहाय बुढ़ापा तड़पेगा क्या मरघट में
बारूद करेगी क्या शृंगार जवानी का?

---

१ दाड़-मास की संस्कृति—शिवनारायणसिंह 'मुकेश'

के लिए तो कुछ नये पग उठाने ही होंगे।" (महेन्द्र जोशी)

"चारों ओर खंडित मान्यताएं हैं। रूढ़ियां चीन की दीवार की तरह फैली हैं। विज्ञान के अनुसन्धान, नये आविष्कार, गर्वोन्मत्त। जगत् की छत पामीर को चुनौती दे रहे हैं।" (महेन्द्र भटनागर)

इसलिए नया कवि रात के ढलान में दूसरा ही सौंदर्य देखता है, क्योंकि इस समय वह दु:ख से व्यंग्य पर उतर आया है

इस सुबह के चाँद की मृदु चाँदनी में
चल दिये टट्टू लिए टूटे हुए इक्के
(रथों के रूप बिगड़े)
सब पुराने कर्मयोगी
सिर घुटाकर आज उनमें हैं सुशोभित।
वे कुचलकर भी पुराने देवगृह को
जाएँगे घन्टा बजाने
क्योंकि सुंदर पर्व यह वरदान है भगवान का।

×

आज ऊँची चिमनियाँ भी
धूम्र उगलेंगी अगर, लोहयान का
आज मन्दिर की फिज़ां में
ऊदबत्ती की महक
चन्दन सुगंधित व्याप्त होगी
और पाटल गंध से अभिसिक्त जल की
अब वहाँ बरसात होगी।
क्यों सुनें वे दर्द की आवाज़ तेरी
स्वस्तिवाचन के क्षणों में ?

—हरिव्यास

आज का कवि "एक बार जी रहा है, एक बार मर रहा है, वह अपनी जान का सौदा एक बार कर रहा है। इसलिए अपनी जवानी के चिराग का एक बार तूफान में धर रहा है। कल काली रात चीरकर सवेरा आएगा। सितारों के देश से उसका सूरज आएगा। वह सोने की जवानियां साथ में लाएगा, वह अपने साथ फूलों की कहानियां लाएगा। इसीलिए वह इस रात की खामोशी और सुनसान में, सितारों के मकान आसमान में एक बार गीतों की रागिनी भर रहा है।" (गोपालसिंह नेपाली) "अश्वत्थ आज भी खड़ा है। मन स्थिर होता है, भ्रम मिट जाता है, माया टूट जाती है। अश्वत्थ के तले जिसको ज्ञान

हो सावधान! संभलो ओ ताजतख्तवालो !
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है।

×

तुम कफन चुराकर बैठ गए जा महलो मे
देखो ! गाधी की अर्थी नगी जाती है,
इस रामराज्य के सुघर रेशमी दामन मे
देखो सीता की लाज उतारी जाती है,
उस ओर श्याम की राधा वह वृन्दावन में
आलिगन-चुबन बेच पेट भर पाती है।
हो सावधान! संभलो ओ ताज तख्त वालो!
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है।

—नीरव

क्या सधा हुआ तीर है! अचूक! वह अब बिल्कुल निर्भय है। कैसी मार्मिकता है इन शब्दो मे।

"मानव का रोदन-क्रदन सुनकर मेरे कवि की वाणी मुखरित हो जाती है। मैं मानव के हित ममता की रसधार खोजता हू।" (देवराज दिनेश)

जो कुछ है मनुष्य के सुख के लिए है। मनुष्य सुखी हो जाए। उसकी सुन्दरता और निखर उठे। असतोष मिट जाए। दीनता दूर हो जाए

सृष्टि हो जाये सुरभिमय इसलिए
कटको मे फूल मुस्काता रहा।

—नीरज

यह है उसकी कल्पना! वह जानता है कि इस ससार मे—"जो आग औरो को जलाती है, वह पहले खुद जलकर अपने तन को राख बनाती है। जो नदी गावो को बहाती है, वह खुद पहले अपने कगार खा जाती है। हर नफरत को एक मुहब्बत का घूसा दो। मरतो को जीने का पैगाम दिए जाओ।" (विश्वम्भरप्रसाद तिवारी)

नफरत उसकी जिंदगी का सहारा नही बन सकती।

जीवित रहना है तो उसका आनन्द लेकर।

"जीवन में मस्ती से मुस्कराकर जीना है। सचमुच वही जवान है, जिसकी जवानी जग मे सघर्षों का विष पीकर भी मुस्करानी है।" (देवराज दिनेश)

किन्तु दर्शन की उडान मे भी वह विषमताओ को नही भूलता। वह उसे हर पल याद बनी रहती है। एक दिन वह भूख से व्याकुल होकर कहता है

जहाँ कहीं से एक अठन्नी लानी होगी

नया विषय है, तभी उसके विषय की कविता भी नयी है। वह एक दीप है। दीप में आलोक है। वह आलोक है, दिया नहीं। आलोक सर्वत्र पूज्य है, अतः मानव पूज्य है। एक कवि कहता है कि वह आलोक कभी बुझता नहीं

बुझी न दीप की शिखा अनन्त में समा गई !
अमन्द ज्योति प्राण-प्राण बीच जगमगा गई !
अकम्प ज्योति-स्तम्भ वह पुरुष बना
कि जड़ प्रकृति बनी विकास चेतना
न सत्य बीज मृत्तिका छिपा सकी
उगी, बढ़ी, फली अरूप कल्पना,
न बँध सका असत् प्रमाद पाश में प्रकाश तन
विमुक्त सत् प्रभा दिगन्त बीच मुस्करा गई !
मरा न कामरूप कवि बना अमर
कि कोटि-कोटि कण्ठ में हुआ मुखर
मिटा न काल का प्रवाह बन घिरा
असीम अन्तरिक्ष में अनन्त स्वर
न मन्त्र स्वर अमन्द सँभाल मृण्मयी धरा सकी,
त्रिकाल रागिनी अनन्त सृष्टि बीच छा गई।

×

जिसे न पाश तन बना, न छू सका मरण चरण
विराट चेतना अरूप बन स्वरूप पा गई
बुझी न दीप की शिखा, असीम में समा गई।

—शम्भूनाथसिंह

पुरुष ही ज्योति-स्तम्भ बना। जड़ प्रकृति में ही विकास की चेतना आई। माटी में से ही अरूप कल्पना निकली है। प्रकाश असत् में नहीं बध सका। सत् ही विमुक्त होकर सबपर छाए जा रहा है।

*यही मनुष्य हारा है। वह मनुष्य माया का खिलौना है, परन्तु माया भी मनुष्य* का खिलौना। कवि दोनों ही पक्षों को स्वीकार करता है। मानव प्रकृति का अंग है। वह उसका किसी सीमा तक नियता भी है। पहले मानव प्रकृति से लड़कर भी डरता था, आज का मानव डरकर भी लड़ता है। यह वह असली बात है जिसके कारण उसमें इतनी उलझन भर आई है। प्रकृति का क्रम निरंतर चलता रहता है, वह रुकता नहीं। सुख-दुःख की अनुभूति प्रकृति देती ही रहती है। सब कुछ यहीं है, इसलिए कवि ग्लानि और दुःख नहीं करता। वह इसीमें छलना भी देखता है और इसीमें संपूर्ण आनन्द भी। प्रकृति

शरमीले नभ के सूरज-चाँद-सितारों को
पानी का यह घूँघट उघारना ही होगा।

—नीरज

पुरानी कला जो इस सत्य को नहीं देखना चाहती कवि उसका स्वरूप उघारकर सामने रखता हुआ कहता है कि—"बेशर्म बाँसुरी लाशों में बहुत बज चुकी है, बहुत बज चुकी है, उसे बन्द करो।" (वीरेश्वरसिंह)

पुराने शृंगार के भी रूप बदल गए हैं। अब उसके सामने एक नई नैतिकता आ गई है।

"चिर दिन व्यापी प्रेम का अवसान हो गया है। अब तो एक प्रेम में सभी प्रेम की स्मृति के तार समा गए हैं।" (श्यामसुन्दर खत्री)

इस प्रेम के लिए संसार को शान्ति चाहिए। बर्बरता इसको समाप्त कर देती है

फूलों की लाशों पर खाते भौंरे पछाड़
मुरदा तितलियाँ कफन ओढ़े हैं कलियों का
चढ आया मलय समीरन को काला बुखार
सब खून तपेदिक चूस गई पथ-गलियों का।

—नीरज

इसलिए अब तो जो शोषितों से छीन लिया गया है, वह उन्हें वापस मिलना ही होगा। उसे कोई कब तक छिपाकर रख सकता है

आने दे शीघ्र धरा पर सावन की फुहार
अन्यथा समय की प्यास सिंधु बन जाएगी
यदि जल न मिला तो सत्य मान श्रो आसमान
यह मिट्टी शोणित के सैलाब बुलाएगी।
नीची हो जाती हैं चोटियाँ पहाड़ों की
जब प्यास तड़पकर अपना शीश उठाती है
धोने को पाँव विकल हो उठते हैं सागर
जब वह निज रेगिस्तानी नजर घुमाती है।

—नीरज

बर्बरता का अन्त होगा तो नया उल्लास जागेगा। कवि उस उल्लास से परिचित है। वह कहता है

"आज मरघट पर सृजन ने मद स्वर में सृष्टि की मधुरतम मुरली फूँक दी है। मौन की छाया तले सोई हुई बेहोश नजरें फिर उठ रही हैं। आज इस बलवान क्षण ने पर्वत को अपनी भुजा में बाँधकर चूर कर डाला है।" (हरिव्यास)

जो अपना है, जो अपने श्रम और स्नेह का आधार लेकर पलता है। उसे हम बुझने से बचा सकते हैं। और वह हमारा सबल बन सकता है।

विश्वास के बिना कुछ नही हो सकता। पत्थर के दिल मे जागृति का पाठ पढा जा सकता है। किंतु जब विश्वास डावाडोल होता है, वह पहली ही मजिल मे डिग जाता है। दूर जाने की आवश्यकता नही है। जो है सो यही है। इसका ही अन्त अभी तक कोई नही जान सका है। पावो मे ममता का बन्धन और सिर पर वियोग का भार, दोनो इधर ही सध सकते हैं।

यहा कवि अपनी व्यष्टि और समष्टि दोनो का मिलान करके देखता है और वह अपने द्वन्द्व से निकलने का प्रयत्न करता है। वह कहता है

लेकर अक्षय विश्वास अरे!
उस दिन जब पत्थर के दिल मे
मैंने जागृति का पाठ पढ़ा
सोनेवालो की महफिल मे

'भेदन करना है अन्धकार!'
तब पागल-सा मैं बोल उठा।
कब सोचा था, डिग जाऊँगा
मैं बस पहली ही मजिल मे?
उस पार! अरे उस पार कहाँ
है अन्तहीन इस पार प्रिये,
पैरो मे ममता का बन्धन
सिर पर वियोग का भार प्रिये।

—भगवतीचरण वर्मा

'प्रिये' का युग भी एक विद्रोह बनकर ही साहित्य मे आया था। इस देश मे पति भी पत्नी का मुह दिन मे नहीं देख पाता था। उपयोगितावादियो और विशुद्धतावादियो ने स्त्री के प्रति दुरूह बन्धन बाध दिए थे। वह समय चला गया। नया कवि और आगे आ गया। वह कहता है—"जहा उस पार उदधि और आकाश दृष्टि मे एकाकार-से लगते हैं, उज्ज्वलता का विहग अरुणिमा के पखो को खोल अतरिक्ष के श्याम निकुजो मे छिपता जा रहा है। अपने गीतो मे आकाश बाध लो। भूगोल बाध लो। गीत का लक्ष्य, प्रीति का मिलन है। इसलिए रवि से भी कवि दिव्य है।" (पोद्दार श्री रामावतार अरुण)

कवि ने अपना दायित्व समझ लिया और वह सकुचित प्रेम से व्यापक प्रेम पर आ गया। इसका यह अर्थ नहीं कि 'प्रिया' के प्रति लिखना कोई पाप है या कोई अपमान-जनक बात है। किंतु केवल वासना की तृप्ति या शरीर विरह की सकुचित कचोट श्रेय-

तू नवल सृष्टि की ऊषा की नव द्युति अपने अंगों में भर
बड़वाग्नि-विलोड़ित अंबुधि की उत्तुंग तरंगों से गति ले
रययुत रवि-शशि को बंदी कर दृग-कोयों का रच बन्दीघर
कौंधती तड़ित को जिह्वा-सी विष-मधुमय दांतों में दाबे
तू प्रकट हुई सहसा कैसे मेरी जगती में, जीवन में?
तू मनोमोहिनी रमा-सी, तू रूपवती रतिरानी-सी
तू मोहमयी उर्वशी सदृश तू मानमयी इंद्राणी-सी,
तू श्यामयी जगदम्बा-सी, तू मृत्यु सदृश कटु, क्रूर, निठुर
तू लयकरी कालिका सदृश, तू भयकरी रुद्राणी-सी
तू प्रीति, भीति, आसक्ति, घृणा की एक विषम सत्ता बनकर,
परिवर्तित होने को आई मेरे आगे क्षण-प्रतिक्षण में।

—बच्चन

नागिन का 'कैनवास' बहुत ही बड़ा है।

"तू अपने फन में फुफकार लिए चंचल फिरकी-सी फिरती है। तेरी भीषण हुंकार से दिग्गज भी कांप उठते हैं। पल-भर में तेरा स्वर और मुद्रा बदल जाती हैं। तेरी हर चितवन में स्वर्ग-नरक के द्वार खुलते-मुंदते हैं।" (बच्चन)

किंतु यह गाम्भीर्य हमें सर्वत्र नयी कविता में ऊभ-चूभ करता हुआ नहीं मिलता। हम जिस व्यापक भूमि में पहुंचे हैं, वहां विकृति भी कम नहीं है, जिससे कवि डावांडोल हो उठता है।

"जिंदगी पीले गले कागज पर लिखी, कटी-पिटी, पिटी सतरों की तरह है। वह मकड़ी के जाले, प्लास्टर के चपाड़, खाली कनस्तर, चीकट बिछौने और उधार के समान है। चिनिया बादाम के छिलके, बुझा 'स्टार' यही जिंदगी है।" (सैयद सैफुद्दीन)

जिंदगी के लिए कितनी कचोट-भरी बात कही है कवि ने। आज का जीवन कितना उलझ गया है। तभी वह कहता है कि विज्ञान का विकास सब कुछ हिलाए दे रहा है। फिर भी वह परिवर्तन को स्वीकार करने को विवश है, "पथ में पत्थर, कंकड़, कांटे तो बहुधा मिलते हैं। यदा-कदा ही मुस्काता हुआ फूल मिला करता है। नये जनम के लिए कफन का प्यार मिला करता है।" (शकुन्तला सिरोठिया)

पुराने विषय भी फिर से बार-बार लिए जाते हैं। नारी को विभिन्न रूपों में देखा गया है। परन्तु बहुधा नारी-सम्बन्ध में व्यक्तिगत कुंठा प्रकट होती है। कहीं-कहीं सुंदर चित्र भी मिल जाते हैं। भारत की विधवा की अवस्था कैसी दयनीय है:

चलती धीमे,
मग ठहर-ठहर,

आकाश हँस उठा। दिशाएं मुस्करा दीं। कली, कुसुम कोंपल दल उद्यान में साकार काम छा गया। नदी की जवानी जलन बुझा रही है, गगन बरस रहा है। नर के लिए यह मंत्र सृष्टि जीवन है। सभी से उसे प्राण का धन मिल रहा है। फूलों में ही नर मुस्कराना सीखकर हार को विजय में बदल रहा है।'' (उदयशंकर भट्ट)

मनुष्य की सुन्दरता मनुष्य के लिए सबसे अधिक आकर्षक है। विस्मय और प्रवाक् करनेवाला सौंदर्य मनुष्य के व्यवहार में सबसे अधिक दिखाई देता है।

दिनकर ने इसे भी अपनी इसी प्रसिद्ध कविता में दिखाया है। बाद में 'कलिंग विजय' में हमें चेतना का प्रसार मिलता है। जब मन की आंख खुल जाती है, तब चेतना अपनी पांखें खोल देती है

खुल गई है शुभ्र मन की आंख
खुल गई है चेतना की पांख
प्राण की प्रस्तर शिला पर आज पहली बार
जागकर करुणा उठी है कर मृदुल झनकार।
आंसुओं में गल रहे हैं प्राण
खिल रहा मन में कमल अम्लान।
गिर गया हत्बुद्धि-सा थककर पुरुष दुर्जेय
प्राण से निकली प्रनामय नारि एक अमेय
अर्ध - नारीश्वर अशोक महीप;
नर पराजित, नारि सजती है विजय का दीप!
पायलों की सुन मृदुल झनकार
गिर गई कर से स्वयं तलवार
वज्र का उर हो गया दो टूक
जग उठी कोई हृदय में हूक।

विजय का दुर्जेय ग्रह मानवी ज्योति से दब जाता है और अर्ध-नारीश्वर हो जाता है। यह व्यक्ति-पूर्णत्व का रूप, हृदय में जिसके अम्लान कमल खिला है। ऐसी कविताएं सचमुच बहुत कम लिखी जाती हैं। कवि फिर अभय देता है

शत्रु हो कोई नहीं, हो आत्मवत् संसार
पुत्र-सा पशु-पक्षियों को भी सकूं कर प्यार।
मिट नहीं जाए किसीका चरण-चिह्न पुनीत
राह में भी मैं चलूं पग-पग सजग-सभीत।
हो नहीं मुझको किसी पर रोष
धर्म का गूंजे जगत में घोष!

—दिनकर

जाता है। अब भी कवियों की दृष्टि विविध विषयों की ओर जाती है। 'कोरे कागज से' ऐसी ही एक बहुत सुंदर कविता है, इसमें कागज बहुत-से प्रतीकों का एक प्रतीक बन जाता है। ऐसी कविताएं अंगरेज़ी साहित्य में तो बहुत मिलती हैं, किन्तु हिंदी में कवि-सम्मेलनवाद के कारण प्रायः सस्ती भावुकता काम में आती है। कविता यों है

अभी हिमानी के टुकड़े-सा यह जीवन है श्वेत
कुन्द कुसुम-सा धवल हृदय,नत उज्ज्वल गंगा-रेत!
मृदुल सचीला मात पवन से उड़ता सौ-सौ बार
जैसे मोड़ खोजता कोई पक्षी पंख पसार
अभी न छू पाई तुमको है जग की काली स्याही
काट-छांट बंधन की तुमपर आई नहीं तबाही
अभी तुम्हारे जीवन का है छंद बड़ा स्वच्छन्द
अभी नहीं देखे तुमने हैं कठिन दुखों के फन्द!
अभी विरहिणी के न विरह का तुमपर अंकित लेख
अभी न आंसू-शोक विरस का तुमने पाया देख
अभी न अपने को समेट तुम भेद कर सके वर
अभी न तुमपर लिखा गया है मधुर मिलन का छंद!
चित्रकार ने अभी न चित्रित किए बसन्ती कुञ्ज
मूर्तिमान मृदुस्वप्न सदृश जिनपर बिखरे अलिपुंज
अभी लतायित कबरी में मृदु गूथ-गूथकर फूल
किसी सुन्दरी ने न तुम्हें छूने की की है भूल।
पूर्ण तृप्ति की भांति अभी तो तुम हो बिल्कुल मूक
किसी वियोगी के न हृदय से किए गए दो टूक।
पृथ्वी को मानव ने लिख-लिख कितना दिया बिगाड़
तुम कोरे ही ठीक! करें-करते जो तिल का ताड़

—हरिश्चन्द्रदेव वर्मा 'चातक'

इसमें बहुत ही कोमल व्यंजना है और सांकेतिकता बड़ी गहरी है। इसी प्रकार नये कवि ने कोयले पर जीवन की गहरी अनुभूति उतार दी है। कोयला काला है। कल्पना की सूझ ने उसे जीवन की मर्यादा दी है।

'कोयला' में कवि कहता है

"मैं कालिमा में कैद उज्ज्वल ज्योति हूं। मैं अंधेरे का कफन ओढ़े हुए पावन सवेरा हूं।" (मोहनलाल श्रीवास्तव)

'कामायनी' एक बहुत ही गहरी अनुभूति का ज्वलंत प्रमाण है। ऐसी कविताएं

प्रतिनिधि है, वह समष्टि की चेतना का प्रतीक है। इसके साथ ही प्रकृति के वाह्य रूप भी इसी 'पात्र' के अतर्वाहर के साथ ही उपस्थित हुए हैं। अत दुरूहता उन्हे ही सताती है, जो इसे पुराने मानदण्डों को बदले बिना ही बिठा लेना चाहते हैं। मैं अध्यापक वर्ग की बात तो कहू ही क्यो, जो कि कोर्स मे आने पर ही नया साहित्य पढते हैं।

अतीत के प्रति तो नये कवि ने बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे बहुत ही सुन्दर कहा है जो हम यहा देखना चाहते हैं। नये कवि ने अपनी साधना को सामने करके कहा है

'जय हो!' खोलो अजिर द्वार मेरे अतीत ओ अभिमानी!
बाहर खडी लिये नीराजन कब से भावो की रानी!
बहुत बार भग्नावशेष पर अक्षत फूल बिखेर चुकी
खँडहर मे आरती जलाकर रो रो तुमको टेर चुकी।
वर्तमान का आज निमत्रण देह धरो, आगे आओ
ग्रहण करो आकार देवता! यह पूजा-प्रसाद पाओ।
शिला नहीं, चैतन्यमूर्त्ति पर तिलक लगाने मैं आई
वर्त्तमान की समर-दूतिका तुम्हें जगाने मे आई।
कह दो उनसे जगा, कि उनकी
ध्वजा धूल मे सोती है
सिंहासन है शून्य, सिद्धि
उनकी, विधवा-सो रोती है
अर्पा सकल बुद्धि ने पाई हृदय मनुज का भूखा है
बढी सभ्यता बहुत, किन्तु अतसर अब तक सूखा है
×
जग मे भीषण अन्धकार है जगो तिमिर-नाशक जागो
जगो मत्रद्रष्टा, जगती के गौरव, गुरु, शासक, जागो।
जय हो खोलो द्वार अमृत दो, हे जग के पहले दानी
यह कोलाहल शमित करेगी किसी बुद्ध की ही बानी!

—दिनकर

सचमुच इतना दर्शन, चिंतन, विवेचन करके भी अतीत मे मानव की समस्या नही सुलभी है। मैं यह नहीं कहूगा कि आज के लोगों ने उसे सुलभा दिया है, क्योंकि इस वाक्य को लिखने का समय मेरे देखते ही देखते अतीत हुआ जा रहा है। परन्तु इतना अवश्य मुझे कहना है कि युग बदलते हैं। जिस प्रकार भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य को एक ही मानदण्ड से नहीं परखा जा सकता, उसी प्रकार आज की कविता के लिए आज की परिस्थितिया भी देखनी आवश्यक हैं। केवल राजनीतिक घटनाओं को देख लेना ही

भी प्रेम प्राप्त कर रहा है। और कवि ने कहीं भी प्रचार का सहारा नहीं लिया। इसी तरह कवि ने बहुत ही साधारण-सी वस्तु ली है—'दियासलाई की तीली' और कहा है

मुझे विश्वास है अमा की वेला मे
सूरज, सितारे औ' चन्दा जब किरनों का वैभव खो
अम्बर के चुल्लू-भर पानी मे डूब, मर जाएँगे—तब भी मैं
शांत कोकिल-पक्षी कमरे मे
वसंत की पलाश-पताका फहराऊँगी !

×

प्रकाश के गीत अँधेरे के अधरों पर गाऊँगी।

×

आकाश मे चमकते-दमकते विशाल सूरज की
धरती पर उतरी हुई प्राणवान थाती हूँ।

—श्रीराम वर्मा

माटी का विकास हुआ है इस युग के काव्य में। इसे किस नाम से पुकारा जाए? मैं इसे मानव-युग ही कह सकता हूं। किंतु इतना संकुचित क्यों बने यह हृदय कि इस छोटे-से काल-खण्ड को भी एक नाम दिया जाए? अभी तो इस संघर्ष के खंड-काल से एक उत्कर्ष आने को है, जिसके लक्षण बुरे नहीं हैं, बल्कि आशाप्रद ही दिखाई दे रहे हैं। वादों के गर्हित नामों में कविता को बांटना कवि का अपमान करना है। संस्कृति का नाश करना है। यह तो आचार्य शुक्ल ही का काम था कि तुलसी का काव्य देखकर, हृदयराम जैसे टुटपुंजिए को जोड़कर वे 'रामभक्ति शाखा' को चला गए। हमें संस्कृति का नया मनन करना है

ये पहिये हैं आधार सभ्यता संस्कृति के
आदिम-युग से जो ले आए हैं एटम तक
इस दुनिया का कारवां अमर
ये रुके नहीं पथ के ऊपर
मिट्टी को विकसित कर लाए
आने वाले जन-युग के सुन्दर फूलों में।
ये शक्तिमान जनता की बांहों के प्रतीक
उन रूखे, भारी हाथों के गतिमान चित्र
जो रूप दे रहे हैं जग को,
कर रहे मूर्त मन के सपने,
लेते हैं स्वर्ग उतार विचारों के नभ से।

—गिरिजाकुमार माथुर

स्वर्ग विचारों के नभ से उतार रहा है। हम आदिम युग से एटम युग तक चल-कर आ गए हैं। मिट्टी को विकसित करके लाए हैं। भविष्य में बननेवाले जन-युग के सुन्दर फूल के रूप में। श्रम का भी सौंदर्य आया है, जिसके कारण प्रत्येक सर्जन से हमें प्रेम है।

विश्व भले ही इसे वासना कह ले, किंतु नये युग का सूत्रपात करनेवाला मानव जानता है कि उसीने यह यात्रा की है। वह जानता है कि "सृष्टि के प्रारम्भ में हमने उषा के गाल चूमे थे। बालरवि के भाग्यवाले दीप्त विशाल भाल को चूमा था। प्रथम सन्ध्या के अरुण दृग उसीने चूमकर सुलाए थे, तारों की कलियों से सुसज्जित नव-निशा के बाल चूमे थे। सबसे पहले उसीके होंठों ने वायु के रसमय अधर छुए थे। वह माटी की पुतलियों से ही क्या अभिसार करे?" (बच्चन)

यह माटी की पुतली मध्यकालीन वासना है। नये कवि की वासना उससे ऊपर उठ चुकी है, इसलिए वह श्लाघ्य है। वह सर्वत्र ही मुग्ध हो गया है। क्योंकि वह सर्वांगीण रूप में सुसंस्कृत होना चाहता है।

जैसे घृणा और प्यार के जो नियम हैं उन्हें कोई नहीं जानता। यह कैसी लाचारी है कि हमने अपनी सहजता ही एकदम बिसारी है। जो भी हो, संघर्ष की बात तो ठीक है।" (कीर्ति चौधरी) कवि कहता है—"मुझमें अरक्षण सावन के तरल मेघ-सा जो लहराता है, रह-रहकर दरक जाता है, उसे प्लास्टिक के नपने से मत नापो वह असम है, अमित है, क्योंकि वह मेरा है, मेरे दर्द से उपजा है। मैं हूं मेरी आस्था है, इसलिए जो प्रतीक्षित है, वह अवश्य आएगा।" (मलयज)

"मैं वह हूं जिसने सघन अभावों की डाल पर अपने हाथों अपने जीवन का छत्ता रखा है। बड़ी कठिनाई से थोड़ा-सा मधु इकट्ठा कर पाया हूं। मेरे शहद को चुरानेवालो, मैं तुम्हें क्षमा करता हूं। अपने अस्तित्व की ऊंचाई तक जाने में जिस डगाल को पकड़ो, उसको मत तोड़ो।" (पुरुषोत्तम खरे)

"चीखो मत! चीख के बाद भी दरवाजा बंद न करने दूंगा! क्या पता तूफान की झकझोर से उखड़े, तनिक विश्राम को तरसता रहे दो पांव यहां तक आ पहुंचे और दरवाजा बंद पाकर, टूटती हिम्मत फिर साहस बटोरे लौट पड़े।" (कन्हैयालाल नन्दन)

"ओ पागल! यदि तू सचमुच जीना चाहता है तो साधन नहीं, शक्ति मांग। शक्ति से साधन मिल जाएंगे, परंतु साधन तुम्हें शक्ति नहीं दे सकेंगे।" (सिद्धनाथकुमार) "प्यासा तट जहां था, वहीं रहा। धारा ही धाई, प्लावन की बेला में आज मैंने नई उपलब्धि पाई है। निश्चय ही समर्पण ही सिद्धि है। जब वर्षा आएगी तब स्वाती की एक बूंद मोती बन जाएगी। छोटी-सी सीपी ही यह सिखाएगी कि रस का सही ग्रहण कितनी बड़ी बात है।" (भारतभूषण अग्रवाल)

"सागर कभी कगारों से नहीं मिलता।" (गंगाप्रसाद पाण्डेय)

"रिमझिम-रिमझिम हो रही है। इन्द्रधनुष का झिलमिल बूटेदार दुपट्टा ओढ़कर सांझ हिंडोले चढ़ी झूल रही है। किवार खोलकर रह-रहकर बिजली झांककर गरजती-तड़पती है।" (चन्द्रदेवसिंह)

आधुनिक 'प्रेम' पर वह व्यंग्य करता है—"प्लोमय के बगैर इसकी उपलब्धि नितांत असंभव है।" (कैलाश वाजपेयी)

"गतिरोधों से तो अच्छा है कि पशु हमें ले चलें।" (सत्येन्द्र श्रीवास्तव)

"तुम्हारी अठारहवीं सदी की (आउट आफ डेट) हवेली, पुरानी पीढ़ी के प्रति श्रद्धा के नाम पर अब भी चल रही है। इसका अगला हिस्सा तुड़वाकर तुम इसे आधुनिक बनाना चाहते हो? आनेवालों को बाहर ही बाहर नकली चेहरा लगाकर भरमाना चाहते हो?" (केशवचंद्र वर्मा)

"जब पहला सूरज उगा तब से हम 'केन्द्र' की सत्ता स्वीकार कर प्रदक्षिणा कर रहे हैं। हमारे दाएं-बाएं समृद्धि है, जीवन है, धमनियों का स्पंदन है, पर हम जीवन को

मैं देख रहा यह मानवता कितनी निर्बल कितनी अनित्य !
मैं जग को सुख देनेवाले जग के क्रन्दन को देख रहा !

—भगवतीचरण वर्मा

किंतु कवि पूर्णतया पराजित नहीं है। वह कहता है—"साथी ! उसे भी देख, जो भीतर अंगार भरा है। जमी को एक तेरी आग का ही आधार है।" (दिनकर)

विषमता का कारण है धन। वह कहीं अधिक है कहीं उसका अभाव है। अभाव मे दारिद्र्य है, तड़पन है। तभी वैभववालों को देखकर कवि कहता है

उनके मस्तक पर खेल रहा था अहम्मन्यता का पिशाच
उनके प्यालों के साथ-साथ थीं जग की आहें रहीं नाच।

—भगवतीचरण वर्मा

परन्तु वैभव अकेला क्या करेगा। कवि तो जाग्रत है। वह पुकारता है—"कायर ऊँचे कूल झरोखे से नीचे झाँका करते हैं, वीर सदा आधी के हर झोंके से ऊपर उठते हैं। वीर तो जगत् की आहों से अपने घाव पिरोते हैं। वे अन्यायों की धूल उड़ाकर मिट्टी में दफनाते हैं और सत्य शिव सुन्दर के मंदिर की गहरी नींव जमाते हैं।" (नीलकंठ तिवारी)। इसी उत्साह मे कवि देखता है कि "ज्योति की तरंग उठी, दूर-दूर तक छा गई। सदियों का तिमिर पार करके मानवता आ गई। युग के विराट चरण जनपथ पर गूंज रहे हैं। धरती के महान स्वर अंबर को चूम रहे हैं। धन-बल के दीपों की रेख आवरी पड़ गई है। अमद कारा-सी सावरी काल रात्रि मिट गई है। मृत्यु के निदाघ पर ज़िंदगी जीत गई है। सप्तदग्ध भूमि हरित, पीत और मदली हो गई है।" (गिरिजाकुमार माथुर)

कवि को विश्वास है कि शोषितों को—"प्रगति का वरदान मिला है। उन्हें दुर्दम शक्ति का अभिमान होना चाहिए। पुरानी ज़िंदगी के तार तोड़ने होंगे।"

(महेन्द्र भटनागर)

नगर में साहूकार और लुटेरे हैं। दानवता है। साम्राज्य के "रक्तपात से मानवता की गति नहीं रुक सकती। यमुना लड़ती है। जड़ता की जड़ कटती जाती है।"

(नरेन्द्र)

उफ ! कैसा कठोर दारिद्र्य छाया हुआ है इस देश में

चाँदी के टुकड़ों को लेने
प्रतिदिन पिसकर, भूखों मरकर
भंसागाड़ो पर मदा हुआ
जा रहा चला मानव जर्जर !
है उसे चुकाना सूद-कर्ज
है उसे चुकाना अपना कर

किसी मूर्ख को हो परिणीता
निज घर-बार बसाइए।
होयें कँटीली, ग्रांखें गोली
लकड़ी सीली, तबियत ढीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भरकर भात पसाइए।

—रघुवीर सहाय

अब प्रेम गया। अब वह झिलमिल खो गई। व्यंग्य ग्राया, गहरी कचोट भरा। बल्कि जब कवि पुकारता है कि—"हे ग्रमृत! जन्मो! देवता राह देख रहे हैं!" (दिनकर) तब मोह में डावाडोल हृदय सहमा चैतन्य हो उठता है और दृढ होकर कह उठता है—"बताग्रो, यह कैसे सम्भव है कि तुमको ग्रपनाकर सबको ठुकरा दूं? एक तुम्हारे पीछे जग की ग्राशाग्रों मे ग्राग लगा दूं? मैं ग्रपना भी नहीं हूं। मैं तो विश्व की थाती बनकर चलता फिरता हूं। ग्रपने ऊपर से मैं सबका सम ग्रधिकार कैसे उठा दूं?"

(राजेश दीक्षित)

क्योंकि "एक ग्रोर नाशक ग्रस्त्रों की पशुता के बल के ग्रभिमानी है, दूसरी ग्रोर मनुजता के रक्षक नि शस्त्र सिपाही खड़े हैं। जो पशुता का समर्थन करे वह निश्चय ही पशु है चाहे वह धनी हो या धर्मध्वज। न्याय ही पशु और मनुज की एकमात्र सच्ची कसौटी रहा है।" (पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश')। ग्रब तो एक नया स्वप्न भी ग्रांखों के सामने जाग रहा है। शीघ्र ही सूर्य-चंद्र, ग्रह-नक्षत्रों के ऊपर कल इंसान के जायों की गर्वीली जय-यात्रा होगी। ग्रधभाग्य, ग्रधप्रकृति, पाप-पुण्य, देव और कर्मफल के मिथ्या स्वार्थी शोषक नियम-विधान ग्रब मानव का ग्रधिक शोषण न कर सकेंगे। ग्रपनी सत्ता का सर्वतन्त्र स्वामी बनकर मनुज ग्रवनी ग्रौर ग्रंबर पर ग्रपना राज्य करेगा।"

(वीरेन्द्रकुमार जैन)

ऐसे समय में पीछे हटने का क्या काम! कहां से ग्रारम्भ हुग्रा यह संघर्ष, कहां ग्रा गया। वह कितनी स्फूर्ति का ग्रनुभव कर रहा है ग्रब! "मनुज को ग्राकाश से पाताल तक सब कुछ श्रेय है। बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत उसका वास्तविक श्रेय है। श्रेय तो मानव की मानवों में ग्रसीमित प्रीति है।" (दिनकर)

विद्रोही कहता है—"हमने फ्रांस में भयकर क्रांति की ज्वाला जगाई। स्पेन में स्वाधीनता की ग्राग लगाई। रूस में हमने जारशाही का जनाज़ा निकाला। हम जग से जुल्म करने का इरादा भी निकाल देंगे। हम विश्व में सब मानवों के एक-से ग्रधिकार हैं।" (निरंकारदेव सेवक)

"एक बार फिर संन्यासी का राजसिंहासन डोल उठा है। युगों की सोई ग्रांधी

"डस्ट बीन की गगन गुफा में काले चूहे रहते हैं। 'नालित्री' के नालमोदक में रोज नहाते रहते हैं। एक दिन की बात कहीं तबीयत सट गई। घर लौटे, पाया अपनी पूंछ वहीं कट गई। तब से अब तक

एक सिरद्धा एक आसथा कटी पूंछ लहराए जाओ
दया-धरम-कस्तूरी-डिबिया नाभिचक्र सहलाए जाओ
'सम-गच्छध्वम्' महामन्त्र - बीडी का मुडका मारे जाओ,
यही जिंदगी, यही धरम है लखचौरासी तारे जाओ।
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृह
वीतराग भय क्रोध नामर्दमुं निरुच्यते ॥
स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह ।
ॐ तत् सत् ।"

नामर्द मुनि की गीता कैसी तीखी कचोट लिए है।

खाई हुई गुठली के प्रति भी उसकी ऐसी मजबूरी है कि वह उसे फेंकता नहीं। फिर वह कल्पना करता है कि यह गुठली उगेगी। उस समय का कितना आकर्षक वर्णन है

हरी घंघरिया पहन यह गुठली इठलाती नाचेगी
कल परसों नरसों कभी न कभी आमों के अचार लगा देगी।

—कमलदेव

'काले वन की शाम' में प्रकृति का नये ढग का वर्णन है—"सलोनी सोन चिरैया अधकार के जाल में फस गई। तरुडाल में चमकीले कुहरे के विषधर लिपट गए। गोधूली की सजीली छाह में वक-पाते लहरा रही हैं, जैसे किसी बडे पुल के नीचे से नौकाएं जा रही हों। खोज कुज में बिखरे मोती, रही ज्योति की रानिया, जीवन की बातास डोलती कहती मजब कहानियां।" (गिरिधर गोपाल)

"दर्द धन है, उसे न बहाओ, न भुलावे देकर भुलाओ। राह की राहत बने, उतनी दवा तो ठीक है। घाव का सहारा होता है, ले लो, मगर घर मत बनाओ।"

(जगदीश एम० ए०)

'आरा मशीन' में कुतल मेघ आधुनिक यत्र, मानव-कर्मठता और मानवीय सवेदनाओं का एकत्रीकरण करता है

"आरा मशीन का प्रश्नचिह्न तुम्हें नित आमत्रण देता है—चीरो चीरो दर्द, यत्न को और जीर्ण-शीर्ण को काटो-काटो। प्रश्नचिह्न के सम्मुख अपने करकमलों को अर्पित मत होने दो। घन वन मर्मर, चैन मनोहर, सुमन मधवर को जड-चेतन में मह-महका दो। उन्हें कर्मकक्ष की मेजें, अलमारी, दरवाजे, पलग, चौखटें बनाओ, रेलो के

क्या करेगा प्यार वह भगवान को
क्या करेगा प्यार वह ईमान को
जन्म लेकर गोद मे इन्सान को
प्यार कर पाया न जो इन्सान को।

—नीरज

सारे धर्मों का मूल कवि ने सहज पा लिया है। वह मनुष्य को प्यार करता है। क्योंकि अब बधन नही रहा। "आज नई चेतना आयी है। वर्ग के बधन बिखर रहे हैं। जातियो के बधन धूल मे मिलकर धूल बन रहे है। आज जन-जन के गले से जीत के नारे उमड़ रहे हैं।" (जगदीश)

हम एक परिवार देखते हैं।

नवयुग का कवि कितना आत्मविभोर है। वह सारी क्षुद्रताओ से परे हो गया

कोई नहीं पराया, मेरा घर सारा संसार है।
मैं न बँधा हूँ देश-काल की जग लगी जंजीर मे,
मैं न खड़ा हूँ जाति पाँति की ऊँची-नीची भीड़ मे,
मेरा धर्म न कुछ स्याही शब्दों का सिर्फ गुलाम है
मैं बस कहता हूँ कि प्यार है तो घट-घट मे राम है,
मुझसे तुम न कहो मंदिर-मस्जिद पर मैं सर टेक दूँ
मेरा तो आराध्य आदमी, देवालय हर द्वार है।
कोई नहीं पराया मेरा घर सारा संसार है।

—नीरज

यह मधुशाला की एकता नही, बिना किसी शर्त की एकता है। इसमे सबको सहज स्थान है। क्योंकि परिवर्तन हो गया है। अब "धर्म बदला, देवता बदले। समय बदला हुआ है। हम इस नये युग के विधाता, क्रांति के अवतार हैं। हम धरा पर सर्व-जन-सुख-सुदर स्वर्ग बसाएँगे। हम मनुष्य को देवताओ पर न्योछावर करेंगे। ससार मे कुछ भी नही है जिसके सामने हम नतशीश हों। विश्व मे सब कुछ हमारे लिए हैं। हम सब बराबर हैं। आज जो दुनिया के लिए स्वप्न है, वह कल सत्य होगा। हम एक नूतन सृष्टि के निर्माण के आधार हैं।" (निरंकारदेव सेवक)

समानता की प्रतिध्वनि उठ रही है। आज कवि ने क्रांति का अनुभव किया है।

"आज शहादत की उठनी आकी की लुकाठी कौन बन गया है? आज महाक्रांति का विरजवसत वैतालिक चारण बोल उठा है।" (अचल)

इस प्रकार यह विश्वासान्वित स्वर शक्ति भरता आ रहा है। वह प्रतिक्रिया-

हम हरी चीटियों-जैसी हैं। हम आदिकाल से सब विनयों की नियति धरा को ओसवती दूबों से मण्डित करने गिरिवन, मरुथल, नगर-दूह नाप रही हैं।" (नरेश मेहता)

"कोई भी यात्रा अब मुझे बहुत लम्बी नहीं है, कोई भी राह मुझे दुर्गम या दुस्तर नहीं है। हे मीत! जब तुम साथ हो तो अब और चिन्ता कहा है। अब कष्टों के काटे मुझे फूलों से घटकर नहीं हैं।" (देवराज)

देवता और धर्म के ढकोसले को देखकर कवि कहता है—"मदिर के देव को अब *उस जगह पहुचा दो, जहा पर ढेर के ढेर देवता पड़े हैं। ये सग्रह की वस्तु हैं, ये भाग्य-*विधाता नहीं। ये अब जिंदा नहीं, काल के चरण हैं।" (वशीधर पण्डा)

यात्रा अतहीन है। कवि ऊबकर कहता है, "क्या कभी यह एक उजड़ी माग-सी धूल-धूसर राह खतम होने को न आएगी? क्या यह सफर की अबुझ-अथाह प्यास एक दिन मुझीको पी जाएगी? क्या मेरे साथ यही सब ऊघते कस्बे, और पुराने पुल जाएगे? क्या यह धनुष-सी दुहरी पाव में लिपटी हुई नदी मुझे बिल्कुल ही बाँध देगी?"

(धर्मवीर भारती)

कवि जितना परिवर्तन चाहता है उतना पा नहीं सका है। साकेतिक अभिव्यक्ति-कता यहा युग का प्रतीक बनकर सामने आती है।

"गिरिपर्वत-वन लाघता नया मेघ कुम्हलाए फूलों में नूतन गध भरने आया है। इसको नभ में छा जाने दो। यह तुम्हें स्नेह, सौंदर्य, स्वास्थ्य सब कुछ देगा।"

(श्यामसुदर 'अज्ञान')

"अब दिक्काल अज्ञान और भय का कारण नहीं है। अंतिम रण के लिए नर-नारायण अब कटिबद्ध हो रहे हैं। परम पावन-तारण क्षेत्र अब रणक्षेत्र बनेगा।" (नरेन्द्र शर्मा)

"फागुन का अलमलपन फैला है, अलस दुपहरी है। बेमन नीरस ध्वनियां प्रौढ़ा परकीया-सी पसरी है। पनीली रगण हवाए चल रही है। कहते हैं बसत बौराया है, पर मुझे लगता है कि मैं जैसे मडमी में अकड़ गया हूं।" (विद्याभूषण अग्रवाल)

"प्यार स्वतन्त्र है, मगर उसपर कहीं न कहीं नियत्रण भी है, जैसे छन्द कही मुक्ति है तो कहीं बन्धन।" (नीरज)

*"एक पीली शाम ऐसी है जैसे पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता। अब गिरा,* अब गिरा यह अटका हुआ आसू सान्ध्य तारक-सा है।"—(शमशेरबहादुर सिंह)

"दीप जलाकर रात गुजार दी, दोपहरी देह जलाकर।" (नेपाली)

"आनेवाला सवेरा होता है, जानेवाली शाम होती है।" (बलवीरसिंह रग)

'चाद और मेघ' का वर्णन करते हुए कवि कहता है

"दिशा ने भी दूधिया हाथी मजा फेरी लगा, काली रुई-सा नभ को धुना और

तिब्बत के दक्षिण मेरा वृद्ध देश है—
क्षीर सिंधु-सा महाहिमालय
बरफ केंचुली मारे जैसे शेषनाग हों
नीलगगन लेटा है जिस पर स्वयं विष्णु बन
ब्रह्मपुत्र वह नाभिनाल है जिस पर
तिब्बत गौर कमल-सा खिला हुआ है,
पीला चीवर धारण कर
ब्रह्मा के जैसा चीन सुशोभित
नये वेद के सामगान का पाठ कर रहा—
बर्मा, हिन्दचीन की शतशत
जनता, लक्ष्मी जैसी
जीवन के देवाधिदेव के
चरणों में नतमस्तक बैठी—
तीस वर्ष तक नयी सृष्टि हित
ब्रह्मा ने संघर्ष किया है
उसके नयनों में आलोक लोक हैं
चमकीले पत्तों के सूरज खेतों के हित
सृजन कमण्डल में जलवाले
मेघ हमारे नदियों के हित
चावल के फूलों की माला पहने ब्रह्मा—
पीत बालियों वाले स्वप्निल
धान्य सिंधु पर
उजले शांति हंस पर उड़ते
मानव मंगल गान सुनाते।

—नरेश मेहता

इस मंगलमय स्वप्न को अभी विश्व ने पूर्णतया साकार नहीं पाया है।
आएगा एक दिन जब ऐसा भी होगा।

एक दिन इतना भी नहीं था। गांवों में अब भी जीवन कितना विषम और दरिद्र है। वहां लघुता को ही महान मान लिया गया है। अध्यात्म का सर्वस्व संतोष है, परन्तु संतोष अभाव की कचोटी से उपजी पराजय नहीं। समर्थ जब उग्र होकर दूसरे पर आक्रमण न करे, तब वह संतोष है। कवि ने ग्राम का एक चित्र देकर देश में खेतिहर व्यवस्था की निर्बलता का कैसा हृदयग्राही वर्णन किया है :

> इन्द्र भी पहला श्रमिक था,
> वृत्र, जो जनशत्रु था, श्रमचोर था,
> इन्द्र को उस शत्रु से लड़ना पड़ा था—
> और जन विजयी हुए—श्रम की विजय थी।
> आज के हम इन्द्र हैं—हैं देवता श्रम के—
> जान लें, पहचान लें सब
> आज के इस असुर, शोषक वृत्र को ऽ—
> जो जलाता फसल, मंदिर, नगर, जन के केन्द्र को।
>
> —नरेश मेहता

धरती जाग रही है।

कवि किसान को बुलाता है। धरती का गुन है कि वह पूजती है। "ओ किसानो! तुम्हारी हरी धरती की आग में अमय मानव पल रहे हैं। मुक्ति के नेता! सजग होकर विगुल का निर्घोष कर दो।" (शिवमूर्ति मिश्र)

अंत में मैं कहूंगा कि अभी बहुत बड़ी शक्ति और उसकी संभावना हमारे काव्य में छिपी हुई है। जनता में जितना सामीप्य होगा काव्य निखरता आएगा।

"जन-भावना की शिञ्जिनी मधुर स्वर में बज रही है। आगामी मुक्त जगत् की वह कामना है वह स्वर। वह चांदनी-सी मधुर है, प्रात काल-सी उन्मेषदात्री है। वह जंगल, गांव, घर, नगर, गली में घूमती है। वह ज़िंदगी की जीत का ढिंढोरा पीटती है।" (हरिव्यास)

इधर 'प्रभात' की 'ऋतंभरा' में जीवन की बड़ी ही गहन अनुभूति प्रकट हुई है, जिसमें हम जल, पृथ्वी, अग्नि, पवन और आकाश, मानव, प्रजा, नारी और चराचर को एक महान कर्मपथ में सन्निहित देखते हैं। 'ऋतंभरा' एक नया मील का पत्थर है। आज जीवन बढ़ रहा है

> मनु की प्रजा बनी शतधा बिखरी दिशि-दिशि में भू पर
> वन-गिरि-गह्वर, समतल में, हिममंडित ध्रुव के ऊपर।
> यह मानवता की सहस्र धारा अनन्त अविनाशी
> बनने चली विश्व-संस्कृति का जल-निधि जय-विश्वासी।
> देशों में जन बँटे, बनी सरि-सागर की सीमाएँ
> धरती बँटी, एक नभ में पर सबके स्वर लहराए।
> धर्म-जाति-रंगों-वर्णों की बनी नई दीवारें
> पर विराट जन-चरण न पथ की बाधाओं से हारे।
> मिली एक ही नील गगन से सबको स्वप्निल छाया

प्रतिक्रियावादियों में घृणा है। और जहां भी मानव की स्वतन्त्रता का प्रश्न है, वहीं उसे सांत्वना मिलती है

मुझे अमरीका का लिबर्टी-
स्टैचू उतना ही प्यारा है
जितना मॉस्को का लाल तारा
और मेरे दिल में पेकिंग का स्वर्गीय महल
मक्का-मदीना से कम पवित्र नहीं
मैं काशी में उन आर्यों का शंखनाद सुनता हूँ
जो वोल्गा से आए
मेरी देहली में प्रह्लाद की
तपस्याएँ दोनों दुनियाओं की चौखट पर
युद्ध के हिरण्यकश्यप को चीर रही हैं

×

आज मैंने गोर्की को होरी के आँगन में देखा
और ताज के साए में राजर्षि कुंग को पाया
लिङ्कन के हाथ में हाथ दिये हुए
और तॉलस्तॉय मेरे देहाती पुष्पित होठों से बोल उठा
और अरागों की आँखों में नया इतिहास
मेरे दिल की कहानी की सुर्खी बन गया
मैं जोश की वह मस्ती हूँ जो नेरूदा की भवों से
जाम की तरह टकराती है
मैं पंत के कुमार छायावादी सावन-भादों की चोट हूँ
हिलोर लेते वर्ष पर
मैं निराला के राम का एक आँसू
जो तीसरे महायुद्ध के कठिन लौह पर्दों को
ऐटमी सुई-सा पार कर गया पाताल तक

—शमशेरबहादुर सिंह

संसार की सुन्दर दुनिया उसे सुहाती है, वह चाहे कहीं की भी क्यों न हो। उसे किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है। हो भी क्यों? जिसका आधार जीवन के प्रति प्रेम है, वह क्या उन सबसे स्नेह नहीं करेगा, जो कि जीवन को वरदान बनानेवाले हैं। उसने तो सम्प्रदायों, संस्कृतियों और देश की सीमाओं को पार कर लिया है। घृणा केवल उनसे है जिनके द्वारा मार्ग रुकता है। अन्यथा उसे सबसे प्रेम है। वह मानवत्व का अनुभव करता

हो सावधान! सँभलो ओ ताजतख्तवालो !
भूखो धरती अब भूख मिटाने आती है।

×

तुम कफन चुराकर बैठ गए जा महलों मे
देखो ! गाधी की अर्थी नगी जाती है,
इस रामराज्य के सुधर रेशमी दामन मे
देखो सीता की लाज उतारी जाती है,
उस ओर श्याम की राधा वह वृन्दावन में
आलिंगन-चुबन बेच पेट भर पाती है।
हो सावधान! सँभलो ओ ताज तख्त वालो !
भूखी धरती अब भूख मिटाने आती है।

—नीरज

क्या सधा हुआ तीर है ! अचूक ! वह अब बिलकुल निर्भय है। कैसी मार्मिकता है इन शब्दो में।

"मानव का रोदन-क्रदन सुनकर मेरे कवि की वाणी मुखरित हो जाती है। मैं मानव के हित ममता की रसधार खोजता हू।" (देवराज दिनेश)

जो कुछ है मनुष्य के सुख के लिए है। मनुष्य सुखी हो जाए। उसकी सुन्दरता और निखर उठे। असतोष मिट जाए। दीनता दूर हो जाए

सृष्टि हो जाये सुरभिमय इसलिए
कटको मे फूल मुस्काता रहा।

—नीरज

यह है उसकी कल्पना ! वह जानता है कि इस ससार मे—"जो आग औरो को जलाती है, वह पहले खुद जलकर अपने तन को राख बनाती है। जो नदी गावो को बहाती है, वह खुद पहले अपने कगार खा जाती है। हर नफरत को एक मुहब्बत का पूला दो। मरतो को जीने का पैगाम दिए जाओ।" (विश्वम्भरप्रसाद तिवारी)

नफरत उसकी जिंदगी का सहारा नहीं बन सकती।

जीवित रहना है तो उसका आनन्द लेकर।

"जीवन में मस्ती से मुस्कराकर जीना है। सचमुच वही जवान है, जिसकी जवानी जग मे सघर्षों का विष पीकर भी मुस्करानी है।" (देवराज दिनेश)

किन्तु दर्शन की उडान मे भी वह विषमताओ को नहीं भूलता। वह उसे हर पल याद बनी रहती है। एक दिन वह भूख मे व्याकुल होकर कहता है

जहाँ कहीं से एक अठन्नी लानी होगी

झरभोलें नभ के सूरज-चाँद-सितारों को
पानी का यह घूंघट उघारना ही होगा।

—नीरज

पुरानी कला जो इस सत्य को नही देखना चाहती कवि उसका स्वरूप उघारकर सामने रखता हुआ कहता है कि—"वेशर्म वासुरी लाशों में बहुत बज चुकी है, बहुत बज चुकी है, उसे बन्द करो।" (वीरेश्वरसिंह)

पुराने शृंगार के भी रूप बदल गए हैं। अब उसके सामने एक नई नैतिकता आ गई है।

"चिर दिन व्यापी प्रेम का अवसान हो गया है। अब तो एक प्रेम में सभी प्रेम की स्मृति के तार समा गए हैं।" (श्यामसुन्दर खत्री)

इस प्रेम के लिए ससार को शान्ति चाहिए। बर्बरता इसको समाप्त कर देती है

फूलों की लाशों पर खाते भौंरे पछाड़
मुरदा तितलियाँ कफन ओढ़े हैं कलियों का
यह आया मलय समीरन की कातर पुकार
सब खून तमेदिक चूस गई पथ-गलियों का।

—नीरज

इसलिए अब तक जो शोषितों से छीन लिया गया है, वह उन्हें वापस मिलना ही होगा। उसे कोई कब तक छिपाकर रख सकता है

आने दे ग्रीष्म धरा पर सावन की फुहार
अन्यथा समय की प्यास सिंधु बन जाएगी
यदि अन्न न मिला तो सत्य मान श्रो प्राणमान
यह मिट्टी शोणित के तैलाब बुलाएगी।
नीची हो जाती हैं चोटियाँ पहाड़ों की
जब प्यास तड़पकर अपना शीश उठाती है
धोने को पाँव विकल हो उठते हैं सागर
जब वह निज रेगिस्तानी नजर घुमाती है।

—नीरज

बर्बरता का अन्त होगा तो नया उल्लास जागेगा। कवि उस उल्लास से परिचित है। वह कहता है

"आज मरघट पर सृजन ने मद स्वर में सृष्टि की मधुरतम मुरली फूंक दी है। मौन की छाया तले सोई हुई बेहोश नजरें फिर उठ रही हैं। आज इस बलवान क्षण ने पर्वत को अपनी भुजा में बांधकर चूर कर डाला है।" (हरिव्यास)

तू नवल सृष्टि की ऊषा की नव द्युति अपने अंगों में भर
बड़वाग्नि-विलोड़ित अंबुधि की उत्तुंग तरंगों से गति ले
रथयुत रवि-शशि को वंदी कर दृग-कोयों का रच बन्दीघर
कौंधती तड़ित को जिह्वा-सी विष-मधुमय दाँतों में दाबे
तू प्रकट हुई सहसा कैसे मेरी जगती में, जीवन में ?
तू मनोमोहिनी रंभा-सी, तू रूपवती रतिरानी-सी
तू मोहमयी उर्वशी सदृश तू मानमयी इंद्राणी-सी,
तू दयामयी जगदम्बा-सी, तू मृत्यु सदृश कटु, क्रूर, निठुर
तू लयकरी कालिका सदृश, तू भयकरी रुद्राणी-सी
तू प्रीति, भीति, आसक्ति, घृणा की एक विषम सत्ता बनकर,
परिवर्तित होने को आई मेरे आगे क्षण-प्रतिक्षण में।

—बच्चन

नागिन का 'कैनवास' बहुत ही बड़ा है।

"तू अपने फन में फुफकार लिए चपल फिरकी-सी फिरती है। तेरी भीषण हुंकार से दिग्गज भी काँप उठते हैं। पल-भर में तेरा स्वर और मुद्रा बदल जाती है। तेरी हर चितवन में स्वर्ग-नरक के द्वार खुलते-मुदते हैं।" (बच्चन)

किंतु यह गाम्भीर्य हमें सर्वत्र नयी कविता में ऊभ-चूम करता हुआ नहीं मिलता। हम जिस व्यापक भूमि में पहुंचे हैं, वहां विकृति भी कम नहीं है, जिससे कवि डावाडोल हो उठता है.

"जिंदगी पीले गले कागज पर लिखी, कटी-पिटी, मिटी सतरों की तरह है। वह मकड़ी के जाले, प्लास्टर के चपाड़, खाली कनस्तर, चीकट बिछौने और उधार के समान है। चिनिया बादाम के छिलके, बुझा 'स्टार'" यही जिंदगी है।" (सैयद शैफुद्दीन)

जिंदगी के लिए कितनी कचोट-भरी बात कही है कवि ने। आज का जीवन कितना उलझ गया है। तभी वह कहता है कि विज्ञान का विकास सब कुछ हिलाए दे रहा है। फिर भी वह परिवर्तन को स्वीकार करने को विवश है, "पथ में पत्थर, कंकड़, कांटे तो बहुधा मिलते हैं। यदा-कदा ही मुस्काता हुआ फूल मिला करता है। नये जनम के लिए कफन का प्यार मिला करता है।" (शकुन्तला सिरोठिया)

पुराने विषय भी फिर से बार-बार लिए जाते हैं। नारी को विभिन्न रूपों में देखा गया है। परन्तु बहुधा नारी-सम्बन्ध में व्यक्तिगत कुंठा प्रकट होती है। कहीं-कहीं सुंदर चित्र भी मिल जाते हैं। भारत की विधवा की अवस्था कैसी दयनीय है :

चलती धीमे,
पग ठहर-ठहर,

जाता है। अब भी कवियों की दृष्टि विविध विषयों की ओर जाती है। 'कोरे कागज से' ऐसी ही एक बहुत सुंदर कविता है, इसमें कागज बहुत-से प्रतीकों का एक प्रतीक बन जाता है। ऐसी कविताएं अंगरेजी साहित्य में तो बहुत मिलती हैं, किन्तु हिंदी में कवि-सम्मेलनवाद के कारण प्राय सस्ती भावुकता काम में आती है। कविता यों है

अभी हिमानी के टुकड़े-सा यह जीवन है श्वेत
कुन्द कुसुम-सा धवल हृदय, मन उज्ज्वल गंगा-रेत।
मृदुल लचीला गात पवन से उड़ता सौ-सौ बार
जैसे नीड़ खोजता कोई पक्षी पंख पसार
अभी न छू पाई तुमको है जग की काली स्याही
कोट-छोट बंधन की तुमपर आई नहीं तबाही
अभी तुम्हारे जीवन का है द्वार बड़ा स्वच्छन्द
अभी नहीं देखे तुमने हैं कठिन दुखों के फन्द।
अभी विरहिणी के न विरह का तुमपर अंकित लेख
अभी न आंसू-भीगे विरह का तुमने पाया देख
अभी न अपने को समेट तुम भेद कर सके बंद
अभी न तुमपर लिखा गया है मधुर मिलन का छंद।
चित्रकार ने अभी न चित्रित किए बसन्ती कुञ्ज
मूर्तिमान मृदु स्वप्न सदृश जिनपर बिखरे अलिपुञ्ज
अभी ललायित कबरी में मृदु गूथ-गूथकर फूल
किसी सुन्दरी ने न तुम्हें छूने की की है भूल।
पूर्ण तृप्ति की भांति अभी तो तुम हो बिल्कुल मूक
किसी वियोगी के न हृदय से किए गए दो टूक।
पृथ्वी को मानव ने लिख-लिख कितना दिया बिगाड़
तुम कोरे हो ठीक! करें-करते जो तिल का ताड़

—हरिश्चन्द्रदेव वर्मा 'चातक'

इसमें बहुत ही कोमल व्यंजना है और भावोन्मेषता बड़ी गहरी है। इसी प्रकार नये कवि ने कोयले पर जीवन की गहरी अनुभूति उतार दी है। जीवन का काला है। कल्पना की सूझ ने उसे जीवन की मर्यादा दी है।

'कोयला' में कवि कहता है

"मैं कालिमा में बंद उज्ज्वल ज्योति हूं। मैं अंधेरे का कफन ओढ़े हुए पावन सवेरा हूं।" (मोहनलाल श्रीवास्तव)

'कालाकलूटी' एक बहुत ही गहरी अनुभूति का ज्वलंत प्रमाण है। ऐसी कविताएं

भी प्रेम प्राप्त कर रहा है। और कवि ने कहीं भी प्रचार का सहारा नहीं लिया। इसी तरह कवि ने बहुत ही साधारण-सी वस्तु ली है—'दियासलाई की तीली' और कहा है

> मुझे विश्वास है अमा की वेला मे
> सूरज, सितारे औ' चन्दा जब किरनों का वैभव खो
> अम्बर के चुल्लू-भर पानी मे डूब, मर जाएँगे—तब औ मैं
> ज्ञात कोकिल-पखी कमरे मे
> उसस की पताका-पताका फहराऊँगी!
>
> ×
>
> प्रकाश के गीत अँधेरे के अधरों पर गाऊँगी।
>
> ×
>
> आकाश मे चमकते-दमकते विशाल सूरज की
> धरती पर उतरी हुई प्राणवान थाती हूँ।
>
> —श्रीराम वर्मा

कोकिल पखी कमरा—अर्थयंक है। कोकिल पख-सा काला और मर्मों से भरे वातावरण वाला। श्रीराम वर्मा की कलम मे उगती हुई उत्तेजना है।

यहा मैं अभिव्यक्ति के कुछ नये रूप सामने रखता हू, जिससे हमारी भाषा की शक्ति प्रकट होती है। इस शक्ति से हमारा भडार बढ रहा है। इसके साथ ही इसमे जीवन की अनुभूति भी है।

"बहती नदी रेख को अनिमेष मत देख। दुःख ग्रीष्म का तापनल तक व्याप रहा है। हर स्वप्न जलहीन है, दरकी हुई भूमि है। हर स्वप्न जलता हुआ स्वार्थ का दश है।" (जगदीश गुप्त)

"सब कुछ तो बदल गया, पर मुह का भाव नहीं बदला। सघर्ष, घुटन, हारी बाजी, लाचारी है, पर जीवन जीने का चाव नहीं बदला।" (अजितकुमार)

"मरुथल मे तो अनुभूति की शिराओ मे छनकर आत्मा तक केवल कुछ ही बूदें आ पाती हैं। जहा ज्योति पानी बनकर बहती है, वहा रुक जाओ। रुदन ज्योति का स्वभाव नहीं है, उसे जल मत समझो।" (जगदीश गुप्त)

"मरा और क्या मरे, इसलिए अगर जिए भी तो क्या? जिसे पीने को पानी नहीं है, वह लहू का घूट पिए तो क्या हुआ?" (अज्ञेय)

"गहरा नीला धुआ उस छोटे पूरे गाव के सीमांत पर जम गया है। खेतों के बरहों मे चलता हुआ पानी थम गया है। मटर की भीगी उदास टाट बैंगनी बूटोवाली हरी साड़ी पहने दूर-दूर तक पसरी है। बद डेकुल डूबे हुए सूरज के किनारे एक प्रश्नवाचक चिह्न बनकर उलटकर जडवत् सहम गया है। दिन के वे गीत जो हरे तोतों जैसे पख

जैसे घृणा और प्यार के जो नियम हैं उन्हें कोई नहीं जानता। यह कैसी लाचारी है कि हमने अपनी सहजता ही एकदम बिसारी है। जो भी हो, संघर्ष की बात तो ठीक है।" (कीर्ति चौधरी) कवि कहता है—"मुझसे अरक्षण सावन के तरल मेघ-सा जो लहराता है, रह-रहकर छलक जाता है, उसे प्लास्टिक के सपने से मत नापो वह अजस है, अमित है, क्योंकि वह मेरा है, मेरे दर्द से उपजा है। मैं हूं मेरी आस्था है, इसलिए जो प्रतीक्षित है, वह अवश्य आएगा।" (मलयज)

"मैं वह हूं जिसने सघन अभावों की डाल पर अपने हाथों अपने जीवन का छत्ता रखा है। बड़ी कठिनाई से थोड़ा-सा मधु इकट्ठा कर पाया हूं। मेरे शहद को चुरानेवालो, मैं तुम्हें क्षमा करता हूं। अपने अस्तित्व की ऊंचाई तक जाने में जिस डगाल को पकड़ो, उसको मत तोड़ो।" (पुरुषोत्तम खरे)

"चीखो मत! चीख के बाद भी दरवाज़ा बंद न करने दूंगा! बड़ा पता तूफान की झकझोर से उखड़े, तनिक विश्राम की लालसा रहे दो पांव यहां तक आ पहुंचे और दरवाज़ा बंद पाकर, टूटती हिम्मत फिर साहस बटोरे लौट पड़े।" (कन्हैयालाल नन्दन)

"ओ पागल! यदि तू सचमुच जीना चाहता है तो साधन नहीं, शक्ति मांग। शक्ति से साधन मिल जाएंगे, परन्तु साधन तुम्हें शक्ति नहीं दे सकेंगे।" (सिद्धनाथकुमार) "प्यासा तट जहां था, वहीं रहा। धारा ही धारें, प्लावन की बेला में आज मैंने नई उपलब्धि पाई है। निश्चय ही समर्पण ही सिद्धि है। जब वर्षा आएगी तब स्वाती की एक बूंद मोती बन जाएगी। छोटी-सी सीपी हो यह सिखाएगी कि रस का सही ग्रहण कितनी बड़ी बात है।" (भारतभूषण अग्रवाल)

"सागर कभी कगारों से नहीं मिलता।" (गंगाप्रसाद पाण्डेय)

"रिमझिम-रिमझिम हो रही है। इन्द्रधनुष का झिलमिल बूटेदार दुपट्टा ओढ़कर सांझ हिंडोले पड़ी झूल रही है। किवार खोलकर रह-रहकर बिजली झांककर गरजती-तड़पती है।" (चन्द्रदेवसिंह)

आधुनिक 'प्रेम' पर वह व्यंग्य करता है—"प्लीमथ के बगैर इसकी उपलब्धि नितान्त असंभव है।" (कैलाश वाजपेयी)

"गतिरोधों से तो अच्छा है कि पशु हमें ले चलें।" (सत्येन्द्र श्रीवास्तव)

"तुम्हारी अठारहवीं सदी की (आउट आफ डेट) हवेली, पुरानी पीढ़ी के प्रति श्रद्धा के नाम पर अब भी चल रही है। इसका अगला हिस्सा तुड़वाकर तुम इसे आधुनिक बनाना चाहते हो? आनेवालों को बाहर ही बाहर नकली चेहरा लगाकर भरमाना चाहते हो?" (केशवचंद्र वर्मा)

"जब पहला सूरज उगा तब से हम 'केन्द्र' की सत्ता स्वीकार कर प्रदक्षिणा कर रहे हैं। हमारे दाएं-बाएं समृद्धि है, जीवन है, धमनियों का स्पंदन है, पर हम जीवन के

"जिसने भी अनमोल मदिरा पी ली, वह पार हो गया। इसी मदिरा को पीकर कलियों में भौंरे जीते हैं।" (आनन्द मिश्र) "मैं किरण-छवि का सिपाही हूं। मैं तिमिर-पट पर लिखा हुआ एक ही अक्षर हूं।" (निशात केतु) "वे जो मेरे दीपक के हाथों से रोशन पतवारें छीनकर उसे अंधियारे के जाल में गिरा गए, वे जो मेरी बहार के पांवों में प्रसून पायजेब उतार उसे व्यथाओं के वन में हिरा गए, वे जो मेरी भ्राम्या की आंखों से अपवर्ती पुतलियां नोचकर उसे अनास्था के आंचल में गिरा गए, वे जो मेरे सपनों के गांवों से सत्यों के पुखराज छीन मुझे उजाड़ फिराते चीर, फिरा गए, वे सब, मेरी रचना-लीलाओं के अनजाने दामुमीत थे, वे उसे जो 'प्रभु' था, अनबूझे विरा गए।" (राजा दुबे) "रस्सी के आने-जाने से सिल कट जाती है। मंजिल की बाधाओं में, जूते फेंक देने से कम से कम तले की चिंता हट जाती है।" (भवानीप्रसाद मिश्र)

आस्था में "समय-व्याध के तीर से जैसे सब कुछ विद्ध है। इस संसार में तो जो दर्द को पीते हैं, मौतों पर जीते हैं। जिनकी उदासी का कुहरा गांवों पर, फूलों के, पत्तों के, कलियों के, गीतों-सा है, वे रससिद्ध हैं। वे रससिद्ध हैं जो सड़कों के गलियों के कोनों पर सिर पर छत की लम्हालें लैम्पपोस्ट-से जागते हैं। वह व्यथा जिसमें आस्था नहीं, वृथा है। वह व्यथा, व्यथा का आभास है। वह व्यथा की प्यास है। व्यथा तो धरती की है जिसमें व्यथा को आस्था के साथ धारण करने की असीम क्षमता है। व्यथा के हर रूप के प्रति अगाध ममता है। तप के प्रति निश्चल, निश्छल निष्ठा है।" (शिवकुमार श्रीवास्तव) "सामने चलो जहां मर्म की गहरी खाई है, वहीं भाव का उत्स है, सृजन-क्षण की दोपहरी है। वहां साधना स्वयं साध्य की छहरी छाया है।" (राजेश्वर शुक्ल 'राजेश') "मैं आस्था की चिनगी हूं। शाश्वत हूं। बीजों के कण बन खेतों पर बिखरी, माटी का आसव पी मैं सोना बन निखरी, फसलों की बाली में। धरती के छालों में हरित लेप बनी। मैंने ही प्राची की खिड़की से आदि पुरुष मनु के अन्तर में झांका था।" (शंकर शेष) "हारों की हाथों पर अपना नाम मत लिखाओ। उड़नेवाली पांखों में पत्थर मत बांधो। जब तुमने तूफानों से दांव लगाए हैं तो उन किरणों का ध्यान करो जो कल आएंगी।" (प्रयाग-नारायण शुक्ल) "ओ निराशा की सजाओ! मैं वरेण्य हूं, किंतु मुक्त रहने दो। ओ विलयन की संभावना की आपतित रेखाओ! मुझे अपने छंदों से वियुक्त रहने दो। आत्मलेप की जड़ता बाधक न हो, अदेय तो कुछ नहीं है, परन्तु समर्पण नहीं दूंगा।" (राजेन्द्र किशोर) यह एक अजन्मे की आवाज है जो मातृ-पिता के कष्ट देखकर कहता है—"तुम सबका दर्द मुझसे देखा नहीं जाता। लम्बे दिन का बाकी सफर मुझे नहीं भाता। मां! मुझे मुक्त कर दो। मैं अंधेरे से लड़ूंगा। मैं तुम्हारे द्वार सवेरा लाऊंगा।" (नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी) "देखता हूं अभी आगे राह कितनी है। कौन देखेगा कि कितनी दूर आ चुका हूं। गीतमालाएं मैं शून्य में बिखरा चुका हूं।" (नन्दलाल पाठक) और वह कहता है—"

"डस्ट बोन की गगन गुफा में काले चूहे रहते हैं। 'नालित्री' के नालमोदक में रोज़ नहाते रहते हैं। एक दिन की बात कहीं तबीयत सट गई। घर लौटे, पाया अपनी पूछ कहीं कट गई। तब से अब तक

एक सिरका एक आसथा कटी पूँछ लहराए जाओ
दया-धरम-कस्तूरी-डिबिया नाभिचक्र सहलाए जाओ
'सत-चच्छम्' महामंत्र - बीड़ी का सुडका मारे जाओ,
यही ज़िंदगी, यही धरम है लखचौरासी तारे जाओ।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृह
बीतराग भय क्रोध : नामदेवमुं निरुच्यते ॥
स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह ।
ॐ तत् सत् ।"

नामदेव मुनि की गीता कैसी तीखी कचोट लिए है।

खाई हुई गुठली के प्रति भी उसकी ऐसी मजबूरी है कि वह उसे फेंकता नहीं। फिर वह कल्पना करता है कि यह गुठली उगेगी। उस समय का कितना आकर्षक वर्णन है

हरी घँघरिया पहन यह गुठली इठलाती नाचेगी
कल परसों नरसों कभी न कभी आमों के अबार लगा देगी।

—नामदेव

'काले वन की शाम' में प्रकृति का नये ढंग का वर्णन है—"सलोनी सोन चिरैया अंधकार के जाल में फस गई। तरुडाल में चमकीले कुहरे के विषधर लिपट गए। गोधूली की सजीली छाह में वक-पांतें लहरा रही हैं, जैसे किसी बड़े पुल के नीचे से नौकाएं जा रही हों। खोज कुंज में बिखरे मोती, रही ज्योति की रानियां, जोगन की बातास डोलती कहती अजब कहानियां।" (गिरिधर गोपाल)

"दर्द धन है, उसे न बहाओ, न भुलावे देकर भुलाओ। राह की राहत बने, उतनी दवा तो ठीक है। छांव का सहारा होता है, ले लो, मगर घर मत बनाओ।"

(जगदीश एम० ए०)

'आरा मशीन' में कुतल मेघ आधुनिक यंत्र, मानव-कर्मठता और मानवीय संवेदनाओं का एकत्रीकरण करता है

"आरा मशीन का प्रश्नचिह्न तुम्हें नित आमंत्रण देता है—चीरो चीरो दर्द, यत्न को और जीर्ण-शीर्ण को काटो-काटो। प्रश्नचिह्न के सम्मुख अपने करकमलों को अर्पित मत होने दो। घन वन मर्मर, चैत्र मनोहर, सुमन मधुर को जड़-चेतन में महमहका दो। उन्हें वर्षवृक्ष की मेजें, अल्मारी, दरवाजे, पलंग, चौखटें बनाओ, रेलों के

हम हरी चींटियों-जैसी हैं। हम आदिकाल से सब विनयों की नियति धरा को ओसवती दूबों से मण्डित करने गिरिवन, मरुथल, नगर-दूह माप रही हैं।" (नरेश मेहता)

"कोई भी यात्रा अब मुझे बहुत लम्बी नहीं है, कोई भी राह मुझे दुर्गम या दुस्तर नहीं है। हे मीत ! जब तुम साथ हो तो अब और चिंता कहाँ है। अब कष्टों के काँटे मुझे फूलों से बढ़कर नहीं हैं।" (देवराज)

देवता और धर्म के ढकोसले को देखकर कवि कहता है—"मंदिर के देव को अब उस जगह पहुँचा दो, जहाँ पर ढेर के ढेर देवता पड़े हैं। ये संग्रह की वस्तु हैं, ये भाग्य-विधाता नहीं। ये अब जिंदा नहीं, काल के चरण हैं।" (वंशीधर पण्डा)

यात्रा अंतहीन है। कवि ऊबकर कहता है, "क्या कभी यह एक उजड़ी माँग-सी धूल-धूसर राह खत्म होने को न आएगी ? क्या यह सफर की मधुभ-प्रवाह प्यास एक दिन मुझीको पी जाएगी ? क्या मेरे साथ यही सब ऊँघते कस्बे, और पुराने पुल जाएँगे ? क्या यह धनुष-सी दुहरी पाँव में लिपटी हुई नदी मुझे बिल्कुल ही बाँध देगी ?"

(धर्मवीर भारती)

कवि जितना परिवर्तन चाहता है उतना पा नहीं सका है। सांकेतिक अंग्रव्यक्ति-कता यहाँ युग का प्रतीक बनकर सामने आती है।

"गिरिपर्वत-वन लाँघता नया मेघ कुम्हलाए फूलों में नूतन गंध भरने आया है। इसको नभ में छा जाने दो। यह तुम्हें स्नेह, सौंदर्य, स्वास्थ्य सब कुछ देगा।"

(श्यामसुंदर 'अज्ञान')

"अब दिक्काल अज्ञान और भय का कारण नहीं है। अंतिम रण के लिए नर-नारायण अब कटिबद्ध हो रहे हैं। परम पावन-कारण क्षेत्र अब रणक्षेत्र बनेगा।" (नरेन्द्र शर्मा)

"फागुन का अलमलपन फैला है, अलस दुपहरी है। बेमन नीरस ध्वनियाँ प्रौढ़ा परकीया-सी पसरी है। पनीली रूखी हवाएँ चल रही हैं। कहते हैं वसंत बौराया है, पर मुझे लगता है कि मैं जैसे मंडली में अकड़ गया हूँ।" (विद्याभूषण अग्रवाल)

"प्यार स्वतन्त्र है, मगर उसपर कहीं न कहीं नियन्त्रण भी है, जैसे छन्द कहीं मुक्ति है तो कहीं बन्धन।" (नीरज)

"एक पीली शाम ऐसी है जैसे पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता। अब गिरा, अब गिरा यह अटका हुआ आँसू सान्ध्य तारक-सा है।"—(शमशेरबहादुर सिंह)

"दीप जलाकर रात गुजार दो, दोपहरी देह जलाकर।" (नेपाली)

"आनेवाला सवेरा होता है, जानेवाली शाम होती है।" (बलबीरसिंह रंग)

'चाँद और मेघ' का वर्णन करते हुए कवि कहता है

"दिशा ने भी दुधिया हाथी सजा फेरी लगा, काली रुई-सा नभ को धुना और

> इन्द्र भी पहला श्रमिक था,
> वृत्र, जो जनशत्रु था, श्रमचोर था,
> इन्द्र को उस शत्रु से लड़ना पड़ा था—
> और जन विजयी हुए—श्रम की विजय थी।
> आज के हम इन्द्र हैं—हैं देवता श्रम के—
> जान लें, पहचान लें सब
> आज के इस असुर, शोषक वृत्र को :—
> जो जलाता फसल, मंदिर, नगर, जन के केन्द्र को।
>
> —नरेश मेहता

धरती जाग रही है।

कवि किसान को बुलाता है। धरती का गुन है कि वह गूंजती है। "ओ किसानो! तुम्हारी हरी धरती को आग में अमय मानव पल रहे हैं। मुक्ति के नेता! सजग होकर बिगुल का निर्घोष कर दो।" (शिवमूर्ति मिश्र)

अंत में मैं कहूंगा कि अभी बहुत बड़ी शक्ति और उसकी संभावना हमारे काव्य में छिपी हुई है। जनता से जितना सामीप्य होगा काव्य निखरता आएगा।

"जन-भावना की शिञ्जिनी मधुर स्वर में बज रही है। आगामी मुक्त जगत् की वह कामना है वह स्वर। वह चांदनी-सी मधुर है, प्रात काल-सी उन्मेषशाली है। वह जंगल, गांव, घर, नगर, गली में घूमती है। वह जिंदगी की जीत का ढिंढोरा पीटती है।" (हरिव्यास)

इधर 'प्रभात' की 'ऋतंवरा' में जीवन की बड़ी ही गहन अनुभूति प्रकट हुई है, जिसमें हम जल, पृथ्वी, अग्नि, पवन और आकाश, मानव, प्रजा, नारी और चराचर को एक महान कर्मयज्ञ में सन्निहित देखते हैं। 'ऋतंवरा' एक नया मील का पत्थर है। आज जीवन बढ़ रहा है

> मनु की प्रजा बनी शतधा बिखरी दिशि-दिशि में भू पर
> वन-गिरि-गह्वर, समतल में, हिममंडित ध्रुव के ऊपर।
> यह मानवता की सहस्र धारा अनन्त अविनाशी
> बनने चली विश्व-संस्कृति का जल-निधि जय-विश्वासी।
> देशों में जन बँटे, बनी सरि-सागर की सीमाएँ
> धरती बँटी, एक नभ में पर सबके स्वर लहराए।
> धर्म-जाति-रंगों-वर्णों की बनी नई दीवारें
> पर विराट जन-चरण न पथ की बाधाओं से हारे।
> मिली एक ही नील गगन से सबको स्वप्निल छाया

प्रतिक्रियावादियों से घृणा है। और जहाँ भी मानव की स्वतन्त्रता का प्रश्न है, वहीं उसे सान्त्वना मिलती है

मुझे अमरीका का लिबर्टी-
स्टैचू उतना ही प्यारा है
जितना मॉस्को का लाल तारा
और मेरे दिल में पेकिंग का स्वर्गीय महल
मक्का-मदीना से कम पवित्र नहीं
मैं काशी में उन आर्यों का शंखनाद सुनता हूँ
जो वोल्गा से आए
मेरी देहली में प्रह्लाद की
तपस्याएँ दोनों दुनियाओं की चौखट पर
युद्ध के हिरण्यकश्यप को चीर रही हैं

×

आज मैंने गोर्की को होरी के आँगन में देखा
और ताज के साए में राजर्षि कुंग को पाया
लिंकन के हाथ में हाथ दिये हुए
और ताॅलस्ताॅय मेरे देहाती अधिमन होठों से बोल उठा
और अरागों की आँखों में नया इतिहास
मेरे दिल की कहानी की सुर्खी बन गया
मैं जोश की वह मस्ती हूँ जो नेरूदा की भवों से
जाम की तरह टकराती है
मैं पंत के कुमार छायावादी सावन-भादों की चोट हूँ
हिलोर लेते वर्ष पर
मैं निराला के राम का एक आंसू
जो तीसरे महायुद्ध के कठिन लौह पर्दों को
ऐटमी सूई-सा पार कर गया पाताल तक